६

शतक
सप्ततिका
कषायप्राभृत
सत्कर्मप्राभृत
कर्मप्रकृति

श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

मूल-शब्दार्थ एवं विवेचन युक्त

हिन्दी व्याख्याकार

मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज

योगोपयोगमार्गणा
बन्धक
बन्धव्य
बन्धहेतु
बन्धविधि

संपादक - देवकुमार जैन

श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[बन्धनकरण-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी
श्री मिश्रीमल जी महाराज

दिशा-निदेशक
मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनिश्री रूपचन्दजी म० 'रजत'

सम्प्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक
देवकुमार जैन

प्रकाशक
आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

☐ श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत
पंचसंग्रह (६)
(बन्धनकरण-प्ररूपणा अधिकार)

☐ हिन्दी व्याख्याकार
स्व० मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

☐ दिशा निदेशक
मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनि श्री रूपचन्द जी म० 'रजत'

☐ संयोजक-संप्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

☐ सम्पादक
देवकुमार जैन

☐ प्राप्तिस्थान
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ प्रथमावृत्ति
वि० सं० २०४२ पौष; जनवरी १९८६
गुरुदेवश्री की द्वितीय पुण्य तिथि

☐ मूल्य
लागत से अल्पमूल्य १०/- दस रुपया सिर्फ

☐ मुद्रण
श्रीचन्द सुराना 'सरस' के निदेशन में
शक्ति प्रिंटर्स, आगरा

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तारपूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन हुआ है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्‌भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्‌भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३९ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया —'मेरे शरीर का कोई भी भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो।' उस समय यह बात सामान्य लग रही थी। किसे ज्ञात था कि गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे। किंतु क्रूर काल की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है।

आशा है, जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होंगे।

मन्त्री
आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान
जोधपुर

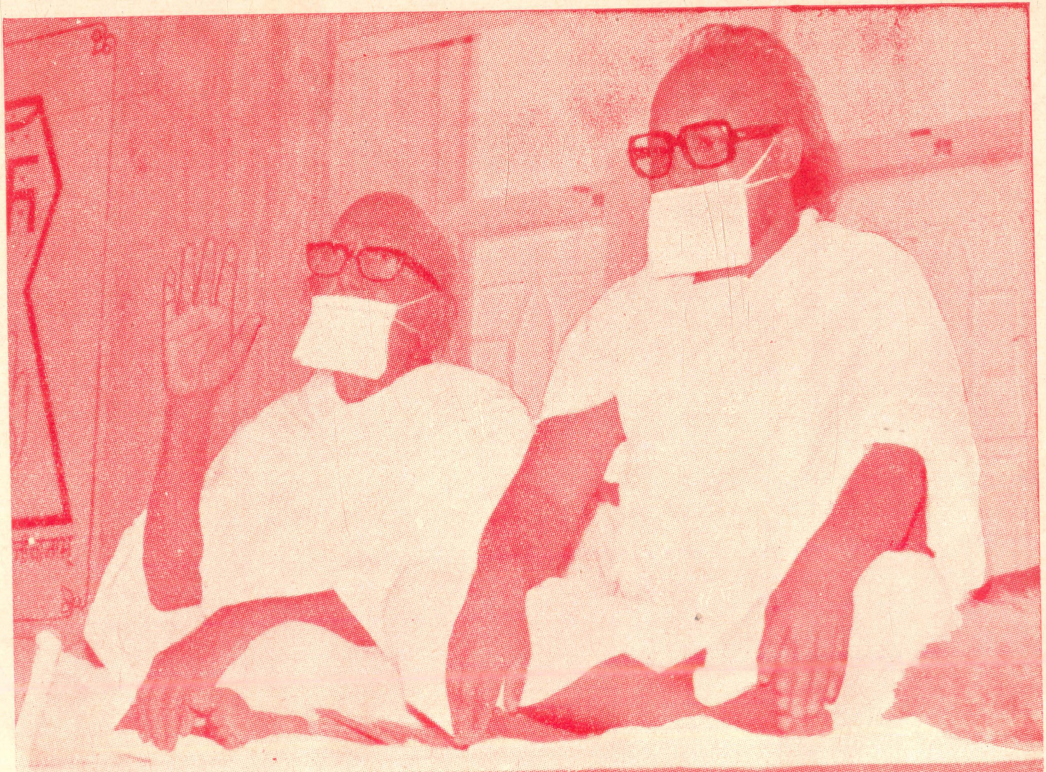

श्रमणसूर्य प्रवर्तक गुरूदेव
श्री मिश्रीमल जी महाराज

विद्याभिलाषी श्री सुकन मुनि

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व० गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षों के इतिहास में कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट व्यक्तित्व अनन्त-असीम नभोमण्डल की भांति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारों से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज!

पता नहीं वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल सूर्य की भांति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेजस्विता, प्रभास्वरता से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्यान्ह बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्यान्होत्तर काल में अधिक-अधिक दीप्त होता रहा, ज्यों-ज्यों यौवन की नदी बुढ़ापे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएँ व्यापक बनती गईं, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएँ बनकर गांव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अन्तिम घड़ी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव से प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों का विस्तार अनन्त-असीम गगन के दिक्कोणों के छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलबिन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा। उनके जीवन-सागर की गहराई में उतरकर गोता लगाने से गुणों की विविध बहुमूल्य मणियां हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौनसा गुण है जो इस महापुरुष में नहीं था। उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्वशक्ति, प्रवचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्व क्षमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण उनके व्यक्तित्व सागर में छिपे थे। उनकी गणना करना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है। महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

> कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्
> मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशेः

कल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उचालें खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणियां सामने दीखती जरूर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के गुण भी दीखते हुए गिनती से बाहर होते हैं।

जीवन रेखाएँ

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि० सं० १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली शहर में हुआ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया। १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ। उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म. एवं स्व. गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। काल का ग्रास बनते-बनते बच गये।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम श्रद्धा उमड़ आई। उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कंठा जग

पड़ी। इसी बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म. का वि. सं. १९७४, माघ वदी ७ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया। वि. सं० १९७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलों से आपने दीक्षारत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बड़ी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र में ही आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्यातिष काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का अधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते गये और यों सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढ़ता गया।

वि. सं० १९८५ पौष बदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की सम्प्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस दृष्टि से स्थानांगसूत्रवर्णित चार शिष्यों (पुत्रों) में आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढ़ाता रहता है।

वि.स. १९९३, लोंकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरुधर-केसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे। समय-समय पर टूटती कड़ियाँ जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर में उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बृहत श्रमणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। स्वयं सब कुछ होते हुए भी सदा ही पदमोह से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आग्रह हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथों से आचार्य सम्राट (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्दऋषिजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड़कर चले गये; पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमणसघ के गौरव को युग-युग तक बढ़ाते रहेंगे।

सगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैंकड़ों काव्य, हजारों पद छन्द आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना, हजारों कवित्त, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वयं में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वयं में ही एक अनूठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैंकड़ों अध्येता उनसे लाभ उठा रहे हैं। आपश्री के सान्निध्य में ही पंचसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन, विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकनमुनि जी के निदेशन में सम्पन्न हो रहा है।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आप श्री का साहित्य आँका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदर्शिता जैन समाज के लिये वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में एक नई क्रान्ति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोकाशाह गुरुकुल (सादड़ी), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानों पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन संस्थाएं शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और खेमा देदराणी की शुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होंने राष्ट्र एवं समाज सेवा की, आप एक अकिंचन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धन-पतियों को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गांव-गांव, नगर-नगर में सेवाभावी संस्थाओं का, सेवात्मक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से सुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उप-करण आदि की आवश्यक्ता होती तो आपश्री निःसंकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहां कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणों में पहुंच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में किसान,

कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौम के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्री के प्रति श्रद्धावनत रहते। यही सच्चे संत की पहचान है, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा में रुचि रखे, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरकेसरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियां होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसंघ और मरुधरा के उस महान संत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की बिडम्बना ही है कि विगत १७ जनवरी १९८४, वि० सं० २०४०, पौष शुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का दृश्य, शवयात्रा में उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद शताब्दियों तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास में क्या, संभवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमों और सभी वर्ण के) उपस्थित होना, यह पहला घटना थी। कहते हैं, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से संकुल शवयात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व गांवों के किसान बन्धु ही थे जो अपने ट्रेक्टरों, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर आये थे। इस प्रकार उस महापुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट रहा उससे भी अधिक व्यापक और श्रद्धा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुष के श्रीचरणों में शत-शत वन्दन !

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

उदार अर्थ सहयोगी

धर्मप्रेमी उदारमना

श्रीमान एल. सुगनचन्द जी गुगलिया

श्रीमान सुगनचन्द जी जैन (गुगलिया) मारवाड़ में कूकड़ा निवासी हैं।

आपके पूज्य पिताजी श्री लक्ष्मीचन्द जी जीवराजजी गुगलिया धर्मप्रेमी गुरुभक्त श्रावक थे। पूज्य गुरुदेव श्रमणसूर्य मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी म० सा० के प्रति आपकी अत्यधिक श्रद्धा भक्ति थी। वे धर्म साधना, जीवदया आदि कार्यों में सतत जीवन को कृतार्थ करते रहते थे। अपने व्यवसाय के साथ समाज-सेवा में भी आप पूरा समय तथा सहयोग देते थे।

आपके सुपुत्र श्रीमान सुगनचन्द जी सा० भी पिताश्री की तरह धर्म एवं गुरु के प्रति अनन्य भक्ति भाव रखते हैं। समय समय पर समाज-सेवा, साहित्य प्रचार तथा अन्य विविध सुकृत कार्यों में आप उदारता पूर्वक लक्ष्मी का सदुपयोग करते रहते हैं। पूज्य गुरुदेव श्री मरुधर केसरी जी म० के प्रति आपकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वर्तमान में गुरुदेव श्री के आज्ञानुवर्ती तपस्वी मरुधरारत्न श्री रूपचन्दजी महाराज 'रजत' तथा गुरुदेव श्री के प्रमुख शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकन मुनि जी म० आदि के प्रति भी उसी प्रकार श्रद्धाशील है।

पचसंग्रह के प्रकाशन में आपने **पूज्य पिताजी लक्ष्मीचन्द जी गुगलिया की पुण्य स्मृति स्वरूप** उदारता पूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान किया है। तदर्थ संस्था आपकी आभारी रहेगी।

मंत्री—

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान

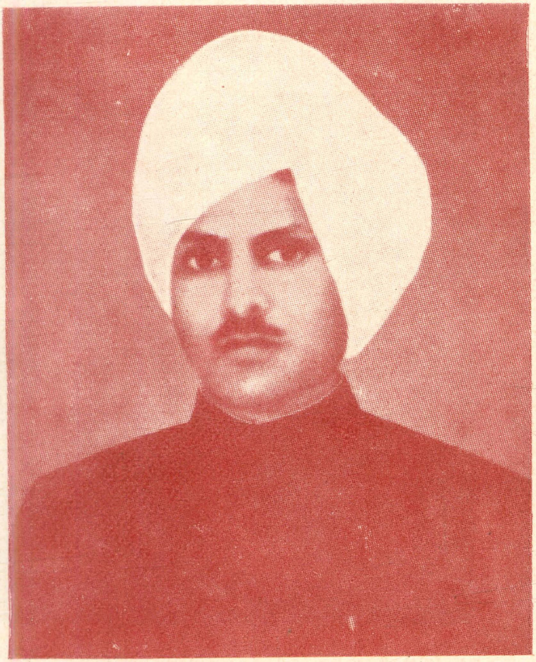

धर्मप्रेमी सुश्रावक स्व. श्रीमान
जीवराज जी गुगलिया
(कूकड़ा निवासी)

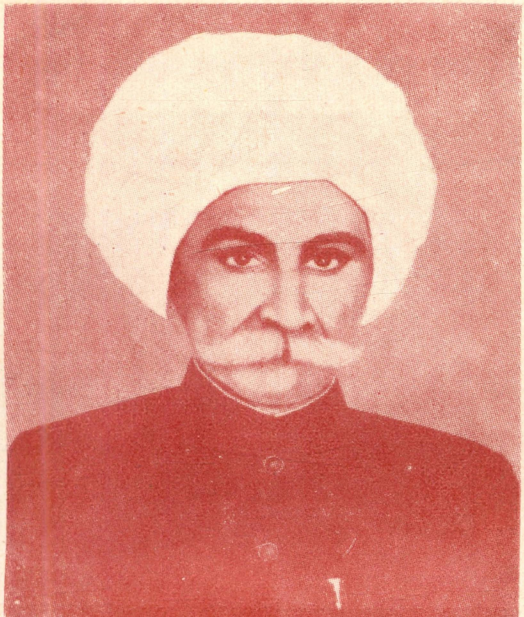

स्व. धर्मप्रेमी महान् गुरुभक्त
सुश्रावक श्रीमान् लखमी चन्द जी सा.
गुगलिया (कूकड़ा निवासी)

उदार सहयोगी

श्री पी० बस्तीमलजी बोरा

(राबर्टसन पेठ K. G. F.)

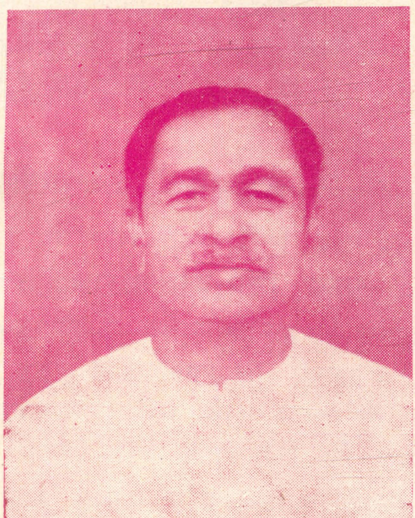

आप जाडण (मारवाड़) निवासी श्रीमान पुखराजजी बोरा के सुपुत्र हैं। प्रारम्भ से ही आप बड़े प्रतिभाशाली तथा धर्म के प्रति आस्थाशील रहे हैं। समाज सेवा, जीव दया, शिक्षा एवं ज्ञान प्रचार आदि कार्यों में आपकी विशेष रुचि है। आप स्वभाव से बहुत ही

विनम्र और मधुर हैं। तथा सदा हँसमुख रहकर सबको साथ लेकर चलते हैं। स्व० गुरुदेव श्रमण सूर्य मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज के प्रति आपकी व समस्त परिवार की अटूट भक्ति रही है।

आपके भाई श्रीमान मोहनलाल जी, मदनलाल जी एवं सोहन लाल जी आदि भी बड़े धार्मिक विचारों के उदार हृदय वाले हैं। आपके सुपुत्र श्रीमान हरकचन्द जी बड़े ही उत्साही युवक हैं। K. G. F. में आपका जवाहरात का बहुत विशाल व्यवसाय है। श्री मरुधर केसरी गुरु सेवा समिति, सोजत के आप कार्याध्यक्ष हैं।

'पर्युषण पर्व सन्देश' तथा पंच संग्रह भाग १ का प्रथम विमोचन गुरुदेव श्री की प्रथम पुण्य तिथि पर जैतारण में आपके कर-कमलों से सम्पन्न हुआ। विमोचन के उपलक्ष्य में आपने एक बड़ी धनराशि साहित्य प्रकाशन खाते में देने की घोषणा करके साहित्य प्रेम का अनुकरणीय उदाहरण रखा। आपका समस्त परिवार धर्म शासन की सेवा करता हुआ यशस्वी व दीर्घजीवी हो, यही मंगल भावना है।

मंत्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान

जोधपुर : ब्यावर

प्राक्कथन

श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन में कर्म-विचारणा एक महत्वपूर्ण अंग रूप है। स्याद्वाद और अहिंसावाद की व्याख्या और वर्णन जैसा जैन दर्शन ने किया है उतनी ही कुशलता से कर्मवाद का विचार भी किया है। यही कारण है कि जैनदर्शन द्वारा की गई कर्म-विचारणा विश्व के दार्शनिक साहित्य का एक महत्वपूर्ण प्रमुख अंग है।

जैनदर्शन में कर्म-विचारणा को प्रमुखता देने के तीन प्रयोजन हैं—

१. वैदिक दर्शनों में ईश्वरविषयक ऐसी कल्पना की गई है कि जगत का उत्पादक ईश्वर ही है, वही अच्छे या बुरे कर्मों का फल जीव से भोगवाता है। कर्म जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फलभोग नहीं करा सकते हैं। जीव चाहे कितनी ही उच्चकोटि का हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर नहीं हो सकता है, जीव जीव ही रहेगा। ईश्वर के अनुग्रह के बिना उसका संसार से निस्तार नहीं हो सकता है।

किन्तु इस प्रकार के विश्वास में यह तीन भूलें हैं—१ कृतकृत्य ईश्वर का निष्प्रयोजन सृष्टि में हस्तक्षेप करना। २ आत्म-स्वातंत्र्य का अपलाप कर दिया जाना। ३ कर्म की शक्ति का ज्ञान न होना। ये भूलें जैसे वर्तमान में प्रचलित हैं, तदनुरूप भगवान महावीर के युग में भी प्रचलित थीं। इसीलिये इन भूलों का परिमार्जन करने और यथार्थ वस्तुस्थिति को बतलाने के लिये भगवान महावीर ने कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

२. बौद्धदर्शन ने ईश्वरकर्तृत्व का निषेध किया है और कर्म एवं उसका विपाक भी माना है। लेकिन बुद्ध ने क्षणिकवाद का प्रतिपादन किया। अर्थात् आत्मा आदि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। इस प्रतिपादन का निराकरण करने के लिये भगवान महावीर ने स्पष्ट किया कि यदि आत्मा को क्षणिक मान लिया जाये तो कर्मविपाक की किसी तरह उपपत्ति नहीं हो सकती है। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घटित होता है जबकि आत्मा को न तो एकान्त नित्य माना जाये और न एकान्त क्षणिक।

३. भौतिकवाद का प्रचार प्रत्येक युग में रहा है। भौतिकवादी कृतकर्मभोगी पुनर्जन्मवान किसी स्थायी तत्व को नहीं मानते हैं। भौतिक तत्वों के संयोग से चेतन की उत्पत्ति होती है। यह दृष्टि बहुत ही संकुचित थी, जिसका कर्म सिद्धान्त के द्वारा निराकरण किया गया।

जैनदर्शन की कर्म-विवेचना का सारांश

यद्यपि कुछ वैदिक दर्शनों और बौद्धदर्शन में भी कर्म की विचारणा है। परन्तु उनके द्वारा संसारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का जैसा स्पष्टीकरण होना चाहिये वैसा कुछ भी नहीं किया गया है। पातंजल दर्शन में कर्म के जाति, आयु और भोग ये तीन तरह के विपाक बताये हैं किन्तु वह वर्णन जैनदर्शन के कर्मविचार के सामने नाममात्र का है।

जैनदर्शन ने कर्म-विचार का वर्णन अथ से इति तक किया है। संक्षेप में जिसका रूपक इस प्रकार है—

कर्म अचेतन पौद्गलिक है और आत्मा चेतन; परन्तु आत्मा के साथ कर्म का बंध कैसे होता है? किन-किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ संबद्ध रहता है? आत्मा के साथ संबद्ध कर्म कितने समय तक विपाक देने में अस-

मर्थ है ? विपाक का नियत समय बदला जा सकता है या नहीं ? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिये कैसे आत्म-परिणाम आवश्यक हैं ? एक कर्म अन्य कर्मरूप कब बन सकता है ? उसकी बंधकालीन तीव्र-मंद शक्तियां किस प्रकार बदली जा सकती हैं ? पीछे से विपाक देने वाला कर्म पहले कब और किस प्रकार भोगा जा सकता है ? कितना भी बलवान कर्म क्यों न हो पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों द्वारा कैसे रोक दिया जाता है ? कभी-कभी आत्मा के शतशः प्रयत्न करने पर भी कर्म का विपाक बिना भोगे क्यों नहीं छूटता है ? आत्मा किस तरह कर्म का कर्ता और किस तरह कर्म का भोक्ता है ? संक्लेश रूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस प्रकार डाल देते हैं ? आत्मा अपनी वीर्य शक्ति के द्वारा इस सूक्ष्मरज के पटल को किस प्रकार उठा फैंकता है ? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन-सा दीखता है ? बाह्य हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति किस प्रकार करता है ? वह अपनी उत्क्रांति के समय पूर्ववद्ध तीव्र कर्मों को भी किस प्रकार क्षय कर देता है ? वह अपने वर्तमान परमात्म-भाव को देखने के लिये जिस समय उत्सुक होता है, उस समय उसके और अन्तराय-मूलक कर्म के बीच कैसा बलाबल का द्वन्द्व (युद्ध) होता है ? अंत में वीर्यवान आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान कर्मों को कम-जोर करके अपने प्रगति मार्ग को निष्कंटक बनाता है ? इस शरीरस्थ आत्ममंदिर में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणामों (जिन्हें अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण कहते हैं) का क्या स्वरूप है ? कर्म, जो कुछ देर के लिये दबे होते हैं, कभी-कभी गुलाट खाकर प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन-कौन कर्म बंध और उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं ? किस कर्म का बंध किस अवस्था में अवश्यंभावी और किस अवस्था में अनियत है । आत्म संबद्ध अतीन्द्रिय कर्म किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से

स्थूल पुद्गलों को खींचता है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म-शरीर आदि का निर्माण करता है ? इत्यादि ऐसे ही कर्म से सम्बन्धित संख्यातीत प्रश्नों का सयुक्तिक विस्तृत वर्णन जैन कर्म-साहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य में नहीं किया गया है। यही जैनदर्शन की कर्मतत्त्व के विषय में विशेषता है।

कर्म का लक्षण

कर्मतत्त्वविषयक विशेषता का उल्लेख करने पर यह सहज ही जिज्ञासा होती है कि जैनदर्शन में कर्म का लक्षण क्या है ?

कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया होता है। लेकिन यह एक पारिभाषिक शब्द भी है कि राग-द्वेष संयुक्त संसारी जीव में प्रति समय परिस्पन्दन रूप क्रिया होती रहती है। उसके निमित्त से आत्मा द्वारा एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आर्कषित किया जाता है और राग-द्वेष का निमित्त पाकर वह आत्मा के साथ बँध जाता है। समय पाकर वह द्रव्य सुख-दुःख आदि फल देने लगता है, उसे कर्म कहते हैं।

इस कर्म के दो भेद हैं—भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव के जिन राग-द्वेषरूप भावों का निमित्त पाकर जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन भावों का नाम भावकर्म है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा के साथ संबद्ध होता है उसे द्रव्यकर्म कहते हैं।

भावकर्म के रूप में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच को माना है और संक्षिप्त रूप में इन पांचों को कषाय एवं योग के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। इन दो कारणों को भी अति संक्षेप में कहा जाये तो एक कषाय मात्र ही कर्मबन्ध की कारण ठहरती है। अध्यात्मवादियों ने राग और द्वेष इन दो को कर्मबंध का कारण मानकर भावकर्म के रूप में माना है। क्योंकि कोई भी मानसिक विचार हो, या तो वह राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (घृणा) रूप है। अनुभव से भी यही सिद्ध है। समस्त संसारी जीवों की प्रवृत्ति

चाहे ऊपर से कैसी भी क्यों न दीख पड़े परन्तु वह या तो रागमूलक या द्वेषमूलक होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओं का कारण होती है। प्राणी जान सके या नहीं पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म दृष्टि का कारण उसके राग और द्वेष ही होते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी को भी कर्म का कारण क्यों न कहा जाये पर यदि उसमें कर्म की बंधकता है तो वह राग-द्वेष के सम्बन्ध से ही है। राग-द्वेष का अभाव होते ही अज्ञानपना आदि कम या नष्ट होते जाते हैं।

सारांश यह कि राग-द्वेष जनित शारीरिक-मानसिक प्रवृत्ति से कर्मबंध होता है। वह राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति भावकर्म है। इस प्रवृत्ति के द्वारा आत्म-प्रदेशवर्ती जिन कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओं का आकर्षण होकर आत्मा से बंध होता है, उन गृहीत पुद्गल परमाणुओं का समूह द्रव्यकर्म कहलाता है।

बंध के चार प्रकार

इन द्रव्यकर्मों का क्रमशः निम्नलिखित चार बंधभेदों में वर्गीकरण कर लिया जाता है—

१. प्रकृतिबंध, २. प्रदेशबंध, ३ अनुभागबंध, ४. स्थितिबंध।

प्रकृतिबंध में कर्म-परमाणुओं की प्रकृति अर्थात् स्वभाव का विचार किया जाता है। प्रदेशबंध में भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले कर्मों के परमाणुओं की संख्या अर्थात् उनमें से प्रत्येक के कितने कर्म-प्रदेश हैं, एवं उनका तुलनात्मक अनुपात क्या है, का कथन होता है। अनुभागबंध एवं स्थितिबंध में क्रमशः कर्मों के फल देने की शक्ति की तीव्रता मंदता आदि का निश्चय और कर्मफल के काल—समय—स्थिति का दिग्दर्शन किया जाता है।

इन चार बन्ध-प्रकारों में से प्रकृति और प्रदेश बन्ध आत्मा की योगरूप परिणति से होते हैं एवं अनुभाग व स्थिति बंध कषाय से

होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि कषाय के अभाव में योग-परिणति रहने पर भी कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते हैं।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

जैन कर्मशास्त्र में जैसे कर्म के भेद, बंध-प्रकार आदि का विस्तार से वर्णन किया है उसी प्रकार कर्म की विविध अवस्थाओं का भी निर्देश किया है। उनका सम्बन्ध कर्म के बंध, उदय, सत्ता, परिवर्तन आदि से है। मोटे तौर पर निम्नलिखित भेदों में वर्गीकरण किया गया है—

१. **बंधन**—आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का बंधना अर्थात् नीर-क्षीरवत् एकरूप हो जाना बंधन कहलाता है। यह बंधन चार प्रकार का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध। इनका संकेत पूर्व में किया जा चुका है।

२. **सत्ता**—बद्ध कर्म-परमाणुओं का अपनी निर्जरापर्यन्त – क्षय-पर्यन्त आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने की अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान करते और न करते हुए भी विद्यमान रहते हैं। फल प्रदान न करने रूप काल को अबाधाकाल कहते हैं। इस काल में कर्म के सत्ता में रहते हुए भी बिपाक-वेदन नहीं होता है किन्तु विपाक-वेदन होने रूप परिस्थिति का निर्माण होता है।

३. **उदय**– कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था को उदय कहते हैं। उदयप्राप्त कर्म-पुद्गल अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

४. **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्न द्वारा नियत समय से पहले फल पकाये जा सकते हैं, उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पहले बद्ध कर्मों को भोगा जा सकता है।

सामान्यतया जिस कर्म का उदय प्रवर्तमान रहता है, उसके सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

५. उद्वर्तना—बद्ध कर्मों का स्थिति और अनुभाग—इसका निश्चय बंध के साथ विद्यमान कषाय की तीव्रता और मन्दता के अनुसार होता है। उसके बाद की स्थितिविशेष अथवा भावविशेष—अध्यवसायविशेष के कारण उस स्थिति के अनुभाग में वृद्धि हो जाना उद्वर्तना कहलाता है।

६. अपवर्तना—यह अवस्था उद्वर्तना के विपरीत है। बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसायविशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है।

७. संक्रमण—एक प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के परमाणुओं की स्थिति आदि में परिवर्तन अथवा परिणमन होना संक्रमण कहलाता है।

यह सक्रमण किसी एक मूलप्रकृति की उत्तरप्रकृतियों में होता है, विभिन्न मूलप्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता है। संक्रमण सजातीय उत्तरप्रकृतियों में ही माना गया है, विजातीय प्रकृतियों में नहीं होता है। सजातीय प्रकृतियों के संक्रमण में भी कुछ अपवाद हैं, जैसे कि आयुकर्म के चारों भेदों में परस्पर संक्रमण नहीं होता है और न दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय में।

८. उपशमन—कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा सम्भव नहीं होती, उसे उपशमन कहते हैं। इस अवस्था में भी उद्वर्तन-अपवर्तन और संक्रमण की सम्भावना है। उपशमन अवस्था में रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही उदय में आकर फल प्रदान करने रूप अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है।

९. निधत्ति—कर्म की उदीरणा और संक्रमण के सर्वथा अभाव की स्थिति को निधत्ति कहते हैं। इस स्थिति में उद्वर्तना और अपवर्तना की सम्भावना रहती है।

१०. **निकाचना**—उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा इन चार अवस्थाओं के न होने की स्थिति का नाम निकाचना है। इस अवस्था का अर्थ है कि कर्म का जिस रूप में बंध हुआ है उसी रूप में उसे अनिवार्यतः भोगना। किसी-किसी कर्म प्रकृति की यह अवस्था भी होती है।

अन्य-अन्य दार्शनिक परम्पराओं में उदय के लिए प्रारब्ध, सत्ता के लिये सचित, बंधन के लिये क्रियमाण, निकाचन के लिये नियत-विपाकी, संक्रमण के लिये आवापगमन, उपशमन के लिये तनु आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

अवस्थाओं के विषय में विशेष

उक्त दस अवस्थाओं में से उदय और सत्ता यह दो कर्म-सापेक्ष हैं। इनमें आत्मशक्ति का प्रयत्न कार्यकारी नहीं होता है और शेष अवस्थायें आत्मसापेक्ष हैं। अर्थात् आत्मा की वीर्यशक्ति के द्वारा बंधन आदि आठ अवस्थाएँ होती हैं। इसलिए आत्म-परिणामों का बोध कराने के लिये 'करण' शब्द जोड़कर 'बंधनकरण' आदि का और कर्म की अवस्था बताने के लिये सिर्फ 'बंधन, संक्रमण' आदि का प्रयोग होता है।

यह तो पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि सामान्य संसारी जीव को प्रति समय कर्मबंध होता रहता है। परन्तु इतना होने पर भी प्रति समय प्रत्येक कर्म एक समान रीति से नहीं बंधता है परन्तु अनेक रीति से बंधता है तथा जो कर्म जिस रूप में बँधा हो, वह कर्म उसी प्रकार से उदय में आये और फल दे ऐसा भी नहीं है। कितनी ही बार कितने ही कर्म जिस रूप में बंधे हों उसी रूप में नियत समय पर उदय में आते हैं और अपना विपाक-वेदन कराते हैं। परन्तु ऐसा भी होता है कि कितने ही कर्म बंधसमय में जिस रूप में बंधे हों, उससे अन्य रूप में फल देते हैं, निश्चित समय की अपेक्षा आगे-पीछे अथवा अधिक काल तक फल देते हैं एवं ऐसा भी होता है कि कितने ही कर्म फल दिये बिना क्षय हो जाते हैं।

इस प्रकार कर्मों में बंध के समय और बंध होने के अनन्तर अध्यवसायों द्वारा कैसी स्थिति बनती है यह आठ करणों का स्वरूप समझने से भली भाँति जान सकते हैं।

बंधकाल में अध्यवसायों द्वारा आत्मा कर्मबंध तीन प्रकार से करता है—

१. सामान्य बंधनकरण के अध्यवसायों से बंधे हुए कर्म पर अमुक काल के बाद संक्रमण आदि सात करणों में से यदि किसी भी करण का असर न हो तो उसमें किसी भी प्रकार का फेरफार नहीं होता है। अर्थात् बंध के समय जितने काल, जिस रीति से जितना फल देने रूप स्वभाव नियत हुआ है, उसी प्रकार से उदय में आता है और यदि किसी करण का असर हो जाये तो उसमें फेरफार हो जाता है अथवा वे प्रकृतियाँ अन्यथा रूप में फल देने वाली बन जाती हैं।

२. निद्धत्त प्रकार के अध्यवसायों द्वारा जो कर्म जिस रूप में बंधा हो, उसी रूप में भोगना पड़ता है। मात्र ऐसे अध्यवसायों से बँधे कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि या हानि हो सकती है। ऐसे बंध को निद्धत्तबंध कहते हैं।

३. जिसके फल-भोग में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो सके ऐसे बंध को निकाचित बंध कहते हैं। इस प्रकार के कर्मबंध में कोई भी करण लागू नहीं होने से किसी भी प्रकार का फेरफार नहीं होता है।

निद्धत्त अध्यवसायों द्वारा बंधे हुए कर्म में स्थिति और रस में वृद्धि करने वाले उद्वर्तना और घटाने वाले अपवर्तना यह दो करण प्रवर्तित हो सकते हैं, अन्य कोई करण लागू नहीं होते हैं। निकाचना में तो उद्वर्तना और अपवर्तना यह दो करण भी कार्यकारी नहीं होते हैं। निकाचन अध्यवसाय द्वारा बंध समय में जितनी स्थिति और जितने रस वाला एवं निश्चित फल देने आदि स्वरूप वाला जो कर्म बंधा हो उस बंध के बाद और पहले बंधन या निधत्ति करण से बंधे हुए होने पर भी बाद में उसमें तीव्र अध्यवसाय रूप निकाचना करण

लगकर वह कर्म निकाचित हो जाये तो उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता है परन्तु जिस स्वरूप में निकाचित बंध हुआ हो या बाद में निकाचित हुआ हो उसी रूप में भोगने के बाद ही वह कर्म क्षय को प्राप्त होता है ।

यद्यपि पहले से ही निकाचित बंधे हुए अथवा बाद में निकाचित हुए कर्म में भी आठ करण में से किसी भी करण द्वारा किसी भी प्रकार का फेरफार नहीं होता है किन्तु जो कर्म जिस रीति से निकाचित हुआ हो, वह कर्म उस रीति से ही भोगना पड़ता है, यह शास्त्रीय कथन है, लेकिन श्रेणिगत् अध्यवसायों के द्वारा अर्थात् उस प्रकार के शुक्लध्यान या धर्मध्यान द्वारा निकाचित कर्म भी बिना भोगे क्षय हो जाते हैं ऐसा शास्त्र में अपवाद रूप विशिष्ट सिद्धान्त है। जिससे कभी भी निद्धत्त या निकाचित हुए जो कोई कर्म सत्ता में होते हैं वे अपने अपूर्वकरण तक अथवा अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान तक निद्धत्त और निकाचित रूप में सत्ता में होते हैं, परन्तु अपने अनिवृत्तिकरण से अथवा अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान के प्रथम समय से किसी भी कर्म का कोई भी भाग निद्धत्त या निकाचित रूप में होता ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि आयु के बिना सत्तागत सर्वकर्म भोगे बिना भी क्षय हों, वैसे हो जाते हैं ।

संक्रमण आदि उपशमना पर्यन्त पाँच करणों का आशय सुगम होने से उनके लिये विशेष संकेत की आवश्यकता नहीं रह जाती है ।

द्रव्यकर्म की अपेक्षा बंध, उदय और सत्ता यह तीन अवस्थायें मुख्य हैं जिनका बंधविधि नामक पांचवें अधिकार में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है और भावकर्म की दृष्टि से बन्धनकरण आदि आठ करण मुख्य हैं जिनका छठे, सातवें, आठवें और नौवें इन चार भागों में विवेचन किया गया है। इस छठे भाग में बन्धनकरण का निरूपण किया गया है। विषय परिचय के रूप में जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत करते हैं ।

बन्धनकरण : विषय परिचय

अधिकार के प्रारम्भ में मंगलाचरणपूर्वक कर्मप्रकृति-विभाग के प्रतिपाद्य बंधन आदि आठ करणों की व्याख्या करने का निर्देश किया है और फिर बंधन आदि आठ करणों के नाम और उनके लक्षण बतलाये हैं।

यथाक्रम वर्णन करने के न्यायानुसार प्रथम बंधनकरण का सविस्तार विवेचन करने के लिए संसारी जीव के कर्मबंध की कारण-रूप वीर्य शक्ति जो योग के नाम से भी कहलाती है, की लाक्षणिक व्याख्या की है और अपर पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया है।

तदनन्तर योगसंज्ञक वीर्य शक्ति की विस्तार से विचारणा करने के लिये अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, अनन्तरोपनिधा, परंपरोपनिधा, वृद्धि (हानि), काल और जीवाल्पबहुत्व इन दस प्ररूपणा अधिकारों के नामनिर्देशपूर्वक इनकी यथायोग्य आवश्यक विवेचना की है। जो गाथा ५ से लेकर १२ तक आठ गाथाओं में पूर्ण हुई है और आगे की तेरहवीं गाथा में योग द्वारा होने वाले कार्य का उल्लेख किया है कि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट योग शक्ति के माध्यम से संसारी जीव तदनुरूप कर्मस्कन्धों को ग्रहण करते हैं और औदारिकादि शरीर रूप में परिणमित करते हैं एवं भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन के योग्य पुद्गलों का अवलंबन लेते हैं।

संसारी जीव पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण आदि करते हैं। अतएव फिर यह स्पष्ट किया है कि कौन से पुद्गल ग्रहण योग्य हैं और कौन से अयोग्य हैं? इसकी विस्तृत विवेचना करने के लिए चौदह पन्द्रह सोलह इन तीन गाथाओं द्वारा पुद्गल वर्गणाओं का निरूपण किया है कि ये पौद्गलिक वर्गणायें अनेक हैं। जिनमें से औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण ये आठ वर्गणाये जीव द्वारा ग्रहणयोग्य हैं तथा ये आठों अग्रहण वर्गणाओं से

अन्तरित हैं। इनके अतिरिक्त शेष वर्गणायें न तो संसारी जीव द्वारा ग्राह्य हैं और न कभी ग्रहणयोग्य बनती हैं।

गाथा सत्रह में वर्गणागत परमाणुओं का संख्या प्रमाण बतलाकर अठारहवीं गाथा में वर्गणाओं के वर्णादि का निरूपण किया है।

यह सब वर्णन करने के बाद पुद्गलों के परस्पर बंध के कारण-रूप स्नेह गुण का विवेचन स्नेहप्रत्ययस्पर्धक, नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक इन तीन प्रकार की प्ररूपणाओं द्वारा किया है।

नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, वर्गणागत पुद्गलों के स्नेहाविभाग के समस्त समुदाय, स्थान, कंडक और षट्स्थान इन आठ अनुयोगद्वारों द्वारा की है एवं प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा के भी आठ अनुयोग द्वार इस प्रकार हैं—अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, कंडक, षट्स्थान और वर्गणागत स्नेहाविभाग सकल समुदाय प्ररूपणा। इन दोनों प्ररूपणाओं का वर्णन गाथा २५ से प्रारम्भ करके गाथा ३७ तक पूर्ण हुआ है। अन्त में तीनों स्पर्धक प्ररूपणाओं के वर्गणागत स्नेहाविभाग का गाथा ३८ में अल्पबहुत्व बतलाया है।

तदनन्तर बंधनकरण की सामर्थ्य से बंधने वाली मूल और उत्तर प्रकृतियों के विभाग होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार प्रकार के बंधों के लक्षण बतलाये हैं।

प्रदेशबंध का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम प्रकृतियों में दलिक विभाग विधि का निरूपण किया है एवं उत्कृष्ट और जघन्य पद में प्रदेशों का अल्प-बहुत्व बतलाया है तथा प्रदेशबंधविषयक शेष वर्णन बंधविधि नामक पांचवें अधिकार में किये जाने से यहाँ पुनरावृत्ति न करने का संकेत किया है।

अनन्तर अनुभागबंध का विस्तार से वर्णन करने के लिये निम्न-लिखित पन्द्रह अधिकारों का नामोल्लेख किया है—

अध्यवसाय, अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, कंडक, षट्स्थान, अधस्तनस्थान, वृद्धि, समय, यवमध्य, ओजोयुग्म, पर्यावसन

और अल्पबहुत्व प्ररूपणा। यथाक्रम से गाथा ४४ से प्रत्येक प्ररूपणा का आशय स्पष्ट करना प्रारम्भ किया जिसकी समाप्ति गाथा ६० में हुई है।

तत्पश्चात् अनुभागबंधस्थानों के बंधक जीवों की प्ररूपणा एक स्थान प्रमाण, अन्तरस्थान, निरन्तरस्थान, कालप्रमाण, वृद्धि, यवमध्य, स्पर्शना, और अल्पबहुत्व इन आठ द्वारों के माध्यम से की है। यह निरूपण गाथा ६२ से लेकर गाथा ७० तक में पूर्ण हुआ है।

तदनन्तर स्थिति एवं रस बंध के निमित्तभूत अध्यवसायों का वर्णन करके उन्हें शुभ और अशुभ प्रकृतियों में घटित किया है। इसी प्रसंग में रसबंधाध्यवसायस्थानों की तीव्रता का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये अनुभागबंध में हेतुभूत अध्यवसायों की अनुकृष्टि किस स्थिति-स्थान से प्रारम्भ की जाती है, का कथन किया है।

अनुकृष्टि के विचार का नियम सूत्र बतलाकर अपरावर्तमान अशुभ शुभ, परावर्तमान शुभ अशुभ, इन चार वर्गों में प्रकृतियों का वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्गगत प्रकृतियों के नाम गिनाये हैं। फिर इन्हीं चारों वर्ग-गत प्रकृतियों की अनुकृष्टि का निरूपण किया एवं जिन प्रकृतियों के विषय में विशेष उल्लेखनीय है, उन तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र तथा त्रसचतुष्क इन सात प्रकृतियों की अनुकृष्टि का वर्णन पृथक से किया है।

अनुकृष्टि का विवेचन करने के पश्चात् गाथा ९२ से ९८ तक में पूर्वोक्त चार वर्गों में वर्गीकृत एवं तिर्यंचद्विक, नीचगोत्र, त्रसचतुष्क की अनुभागबंध सम्बन्धी तीव्रता-मंदता का निरूपण किया है और इसके साथ ही अनुभागबंध सम्बन्धी वर्णन भी समाप्त हो जाता है।

तदनन्तर स्थितिबंध का प्रारम्भ किया है। जिसकी प्ररूपणा के निम्नलिखित चार अधिकार बताये हैं—

स्थितिस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, अबाधा कंडक प्ररूपणा और अल्पबहुत्व प्ररूपणा। इनमें से स्थितिस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा

और अबाधा कंडक प्ररूपणा का विस्तार से बंधविधि अधिकार में वर्णन हो जाने से पुनरावृत्ति न करके यहां जीवापेक्षा स्थितिबंध के अल्प-बहुत्व का निर्देश किया है कि किस जीव को किससे अल्पाधिक स्थिति-बंध होता है। तदनन्तर अल्प बहुत्व प्ररूपणा के प्रसंग में आठों कर्म प्रकृतियों की बंधक जीवों की अपेक्षा जघन्य अबाधा से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक के अल्प-बहुत्व का निरूपण किया है।

तत्पश्चात् स्थितिबंध के हेतुभूत अध्यवसायस्थानों का स्थिति समुदाहार, प्रकृति समुदाहार और जीव समुदाहार इन तीन द्वारों के माध्यम से निरूपण किया है। स्थिति समुदाहार की प्ररूपणा प्रगणना, अनुकृष्टि और तीव्र-मंदता द्वारा, प्रकृति समुदाहार की प्ररूपणा प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व इन दो अधिकारों द्वारा की है। जीव समुदाहार के वर्णन के प्रसंग में किन प्रकृतियों का कितने स्थानक रस बंध होने का कारण सहित स्पष्टीकरण किया है एव अल्प-बहुत्व बतलाया है।

यह बंधनकरण सम्बन्धी समस्त वर्णन की परिचयात्मक रूपरेखा है, जो कुल एक सौ बारह गाथाओं में पूर्ण हुई है। इस वर्णन सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण एवं आवश्यक प्रारूप परिशिष्ट में दिये हैं। जिससे पाठकों को अधिकार का सुगमता से बोध हो सके।

विषय परिचय के रूप में पूर्वोक्त उल्लेख पर्याप्त है। अतः विस्तार से विवेचन करने का दायित्व सुधी पाठकों को देकर विराम लेता हूँ।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर (राज.) ३३४००१

देवकुमार जैन
संपादक

विषय अनुक्रम

गाथा १	४—६
श्रुतधरों के नमन के उपरान्त बंधनकरण प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा	४
करणों के नाम व उनके लक्षण	५
गाथा २-३	६—११
वीर्य का स्वरूप एवं भेद	७
गाथा ४	११—१३
योगसंज्ञक वीर्य के समानार्थक नाम	११
योग विचारणा के अधिकार	१२
गाथा ५	१३—१४
अविभाग प्ररूपणा	१३
गाथा ६	१४—१७
वर्गणा प्ररूपणा	१४
गाथा ७	१७—१९
स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा	१७
गाथा ८	१९—२३
स्थान व अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा	१९
योगस्थान के निर्माण की प्रक्रिया और उनकी संख्या	१९
अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा	२२
गाथा ९	२४—२६
परंपरोपनिधा प्ररूपणा	२४
गाथा १०	२६—२९
वृद्धि प्ररूपणा	२६

गाथा ११	२६—३२
काल और योगस्थान अल्पबहुत्व प्ररूपणा	२६
गाथा १२	३२
जीवस्थानों में योग की अल्प-बहुत्व प्ररूपणा	३२
गाथा १३	३६—३८
जीवों द्वारा योग से होने वाला कार्य	३६
गाथा १४-१५	३८—४६
पौद्गलिक वर्गणाओं का निरूपण	३८
जीव द्वारा ग्रहणयोग्य वर्गणाओं के नाम	४०
गाथा १६	५०—५८
कार्मण वर्गणा के अनन्तर शेष वर्गणाओं की प्ररूपणा	५०
गाथा १७	५८—६०
वर्गणान्तर्वर्ती परमाणु प्रमाण	५८
गाथा १८	६०—६३
वर्गणाओं के वर्णादि	६०
गाथा १९-२०	६३—६५
स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा	६३
गाथा २१-२२	६५—६८
असंख्यातयें आदि भाग हीन वर्गणाओं के संख्या एवं हानि क्रम की अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा	६६
गाथा २२-२३	६६—७३
स्नेहप्रत्ययस्पर्धक वर्गणाओं की संख्या एवं हानि क्रम की परंपरोपनिधा से प्ररूपणा	६८
गाथा २४	७३—७६
पंच हानिगत वर्गणाओं का अल्प बहुत्व	७३

गाथा २५	७६
अविभाग प्ररूपणा	७६
गाथा २६-२७	७६—७८
वर्गणा प्ररूपणा	७६
गाथा २८-२९	७८—८२
स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा	७८
गाथा ३०	८२—८४
स्पर्धक और अन्तरों का संख्या प्रमाण	८२
वर्गणागत पुद्गल-स्नेहाविभाग समुदाय प्ररूपणा	८४
गाथा ३१	८४—८५
स्थान और कंडक प्ररूपणा	८४
गाथा ३२-३३-३४	८४—८९
षट्स्थान प्ररूपणा	८५
गाथा ३५	९०—९२
षट्स्थानों की संख्या प्ररूपणा और कंडक का लक्षण	९०
बंधनयोग्य शरीर के परमाणुओं का अल्प-बहुत्व	९०
प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के आठ अनुयोगद्वार	९२
गाथा ३६	९२—९५
प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक शब्द का अभिप्रायार्थ	९३
पुद्गलगत् स्नेह और अनुभाग रूपरस के पार्थक्य के कारण	९४
गाथा ३७	९५—९६
अविभाग प्ररूपणा आदि अधिकारों का वर्णन	९५
गाथा ३८	९६—९७
स्नेहाविभाग का अल्पबहुत्व	९६
गाथा ३९	९७—९८
प्रकृति विभाग का कारण	९८

गाथा ४० ९९—१०१
प्रकृति बंधादि के लक्षण ९९
गाथा ४१ १०१—११०
प्रकृतियों में दलिक-विभाग विधि १०१
ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म में घाति-
अघाति अपेक्षा दल-विभाग का परिमाण १०२
उत्कृष्ट पद में प्रदेशों का अल्पबहुत्व १०३
जघन्य पद में प्रदेशाग्र—अल्पबहुत्व १०७
गाथा ४२ ११०—१११
रसभेद से मोहनीय, आवरणद्विक का प्रदेश विभाग ११०
गाथा ४३ १११—११४
रसभेद की अपेक्षा मोहनीय कर्म की सर्वघातिनी-
देशघातिनी प्रकृतियों के दल विभाग का विशद वर्णन १११
रसबंध की प्ररूपणा के पन्द्रह अधिकार ११४
गाथा ४४ ११४—११८
अध्यवसाय, अविभाग प्ररूपणा ११४
अविभाग प्ररूपणा ११७
गाथा ४५ ११८
रस सम्बन्धी प्रश्न और उसका उत्तर ११८
गाथा ४६ ११८—१२०
वर्गणा प्ररूपणा ११८
गाथा ४७-४८ १२०—१२२
स्पर्धक प्ररूपणा १२०
अन्तर प्ररूपणा १२१
गाथा ४९-५० १२२—१२७
स्थान, कंडक, षट्स्थान प्ररूपणा १२२
कंडक प्ररूपणा १२३
षट्गुणीवृद्धि का क्रम और स्वरूप १२४

गाथा ५१ १२७—१२८

षट्स्थानों की संख्या-प्रमाण १२८

गाथा ५२-५३-५४ १२८—१३५

अधस्तनस्थान प्ररूपणा १२९

अधस्तनस्थान का स्वरूप-विवेचन १२९

एकान्तरित मार्गणा १३०

द्व्यन्तरित मार्गणा १३१

त्र्यन्तरित मार्गणा १३३

चतुरन्तरित मार्गणा १३४

गाथा ५५-५६ १३५—१४०

वृद्धि आदि प्ररूपणा त्रय १३५

वृद्धि प्ररूपणा १३६

समय प्ररूपणा १३७

यवमध्य प्ररूपणा १३८

समयादि प्ररूपणा का अल्पबहुत्व १३९

गाथा ५७ १४०—१४१

रसबंधस्थानों की कुल संख्या १४०

गाथा ५८ १४१—१४३

ओजोयुग्म प्ररूपणा १४१

पर्यवसान प्ररूपणा १४२

गाथा ५९ १४३—१४४

अनन्तरोपनिधा से अल्पबहुत्व प्ररूपणा का विचार १४३

गाथा ६० १४४—१४८

परंपरोपनिधा से अल्पबहुत्व प्ररूपणा का विचार १४५

गाथा ६१ १४८—१४९

अनुभागबंधस्थानों के बंधक जीवों की प्ररूपणा १४८

गाथा ६२ १४६—१५०

एकस्थान प्रमाण प्ररूपणा १४६

गाथा ६३ १५०—१५१

अन्तरस्थान प्ररूपणा १५०

गाथा ६४ १५१—१५३

निरंतरस्थानबंध प्ररूपणा १५१

काल प्रमाण प्ररूपणा १५२

गाथा ६५ १५३—१५४

अनुभागबंधस्थानों में अनन्तरोपनिधा तथा परंपरोपनिधा की अपेक्षा विचारणा १५३

गाथा ६६ १५५—१५६

अनुभागबंधस्थानों में हानि विचारणा १५५

गाथा ६७ १५६—१५७

यवमध्य प्ररूपणा १५७

गाथा ६८-६९ १५७—१५९

स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा १५७

स्पर्शना प्ररूपणा १५८

अल्पबहुत्व प्ररूपणा १५९

गाथा ७० १५९—१६१

रसस्थानों को बाँधने वाले जीवों का अल्पबहुत्व १५९

गाथा ७१ १६१—१६३

स्थिति एवं रस बंध के निमित्तभूत अध्यवसाय १६१

गाथा ७२ १६२—१६४

कषायोदय में रसबंध के अध्यवसायों की वृद्धि का अनन्तरोपनिधा की अपेक्षा विचारणा १६४

गाथा ७३ १६४—१६५

कषायोदय में रसबंध के अध्यवसायों की वृद्धि की परंपरोपनिधा की अपेक्षा विचारणा १६५

गाथा ७४ १६५—१६७

उक्त कथन का शुभ-अशुभ प्रकृतियों में घटाना १६६

गाथा ७५ १६७—१६८

स्थितिबंधस्थानों में अनुभागबंधस्थानों की अनन्तरोपनिधा की अपेक्षा विचारणा १६८

गाथा ७६ १६८—१७०

पूर्वोक्त की परंपरोपनिधा की अपेक्षा विचारणा १६९

गाथा ७७ १७०—१७१

चारों आयु के स्थितिस्थानों में रसबंधाध्यवसायों की विचारणा १७१

गाथा ७८ १७१—१७२

अनुकृष्टि प्रारम्भ होने का स्थान १७१

गाथा ७९ १७२—१७३

अनुकृष्टि विचार का नियम सूत्र १७२

गाथा ८० १७३—१७४

अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग १७३

गाथा ८१ १७४

परावर्तमान शुभ प्रकृति वर्ग १७४

गाथा ८२ १७५

परावर्तमान अशुभ प्रकृति वर्ग १७५

गाथा ८३-८४-८५ १७५—१७९

अशुभ अपरावर्तमान प्रकृतियों की अनुकृष्टि १७५

गाथा ८६ १७९—१८१

अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि १७९

गाथा ८७-८८-८९ १८१—१८८

परावर्तमान शुभ-अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि १८१
सातावेदनीय की अनुकृष्टि १८३
असातावेदनीय की अनुकृष्टि १८५
स्थावरदशक आदि सत्ताईस प्रकृतियों की अनुकृष्टि १८७
अभव्यप्रायोग्य स्थितिबंध की विचारणा में विशेष कथन १८७

गाथा ९० १८८—१९०

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि १८८

गाथा ९१ १९१—१९४

त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि एवं कंडक स्वरूप १९१
बादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म की अनुकृष्टि १९३
कंडक और निवर्तन कंडक शब्द का अभिप्राय १९४

गाथा ९२-९३-९४ १९४—१९८

अपरावर्तमान अशुभ शुभ प्रकृतियों की तीव्रमंदता १९४

गाथा ९५-९६-९७-९८ १९८—२१०

परावर्तमान अशुभ शुभ प्रकृतियों आदि की तीव्रमंदता १९८
सातावेदनीय की तीव्रमंदता २०२
नीचगोत्र आदि की तीव्रमंदता २०४
त्रसनाम की तीव्रमंदता २०७
स्थितिबंध प्ररूपणा २१०
स्थितिबंध प्ररूपणा के अधिकार २१०

गाथा ९९-१०० २१०—२१३

स्थितिबंध का अल्पबहुत्व २१०
स्थितिबंध के अल्पबहुत्व का प्रारूप २१४

गाथा १०१-१०२ २१३—२१८

अलपबहुत्व प्ररूपणा २१३

जघन्य अबाधा से उत्कृष्ट स्थिति तक के अल्पबहुत्व की विचारणा २१६

पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी का सात कर्मसम्बन्धी अल्पबहुत्व (प्रारूप) २१६

गाथा १०३-१०४ २१८—२२५

आयुकर्म सम्बन्धी अल्पबहुत्व २१८

पर्याप्त अपर्याप्त, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रियों के आयुकर्म सम्बन्धी आठ प्रकारों की विचारणा २२०

उक्त विचारणा का प्रारूप २२१

पर्याप्त-संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय के सिवाय शेष जीवभेदों में आयुकर्म का अल्पबहुत्व विषयक कथन २२२

उक्त कथन का प्रारूप २२२

स्थितिबंध के हेतुभूत अध्यवसायस्थानों के विचार के तीन द्वार २२३

पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी सिवाय बारह जीव-भेदो में सात कर्मों का अल्पबहुत्व (प्रारूप) २२४

गाथा १०५-१०६ २२५—२२८

प्रगणना प्ररूपणा २२५

स्थितिस्थान के हेतुभूत अध्यवसायों का अनन्तरोपनिधा की अपेक्षा कथन २२६

उक्त कथन की परंपरोपनिधा की अपेक्षा प्ररूपणा २२७

अनुकृष्टि कथन २२८

प्रकृति समुदाहार २२८

गाथा १०७ २२८—२३०

अल्पबहुत्व कथन २२८

गाथा १०८ २३१—२३२

स्थिति समुदाहार की तीव्रमंदता २३१

गाथा १०९ २३२—२३५

जीव समुदाहार २३२

गाथा ११० २३५—२३७

ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बाँधते हुए पुण्य प्रकृतियों का चतुःस्थानकादि और पाप प्रकृतियों का द्विस्थानक रसबंध करने वाले जीवों का अनन्तरोपनिधा की अपेक्षा अल्पबहुत्व कथन २३६

गाथा १११ २३७—२३९

उक्त कथन का परंपरोपनिधा की अपेक्षा विचार २३७

गाथा ११२ २३९—२४२

समस्त स्थितिस्थानों का अल्पबहुत्व २३९

परिशिष्ट

१—बंधनकरण प्ररूपणा अधिकार की मूलगाथाएँ २४३

२—गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका २५२

३—वीर्यशक्ति का स्पष्टीकरण एवं भेद-प्रभेददर्शक प्रारूप २५४

४—योग विचारणा के प्रमुख अधिकारों का स्पष्टीकरण २५७

५—असत्कल्पना से योगस्थानों का स्पष्टीकरण एवं प्रारूप २६४

६—वर्गणाओं सम्बन्धी वर्णन का सारांश २७७

७—पुद्गल (कर्म) बंध का कारण और प्ररूपणा के प्रकार २८१

८—दलिक विभागाल्पबहुत्व विषयक स्पष्टीकरण २८५

९—असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानकप्ररूपणा का स्पष्टीकरण २८९

१०—षट्स्थानक में अधस्तनस्थान-प्ररूपणा का स्पष्टीकरण २९१

११—असत्कल्पना द्वारा अनुकृष्टि प्ररूपणा का स्पष्टीकरण २६४
१२—अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप ३०३
१३—अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप ३०६
१४—परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप ३०८
१५—परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप ३१०
१६—तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र की अनुकृष्टि का प्रारूप ३१२
१७—त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का प्रारूप ३१३
१८—असत्कल्पना द्वारा तीव्रता-मंदता की स्थापना की रूपरेखा ३१५
१९—अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता ३१६
२०—अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता ३१९
२१—परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता ३२१
२२—परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता ३२७
२३—त्रसचतुष्क की तीव्रता-मंदता ३३३
२४—तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की तीव्रता-मंदता ३४०

□□

श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

[मूल, शब्दार्थ तथा विवेचनयुक्त]

बंधनकरण प्ररूपणा अधिकार

६

६ : बंधनकरण-प्ररूपणा अधिकार

योगोपयोग मार्गणा आदि पाँच अधिकारों का विवेचन करने के पश्चात् अब तत्सम्बन्धित कर्म प्रकृति विभाग को प्रस्तुत करते हैं। इस विभाग में बंधन आदि आठ करणों (आत्मिक परिणाम विशेषों) का विशद् निरूपण किया जायेगा।

कर्म के स्वरूप को समझ लेने मात्र से ही कर्म सिद्धान्त का सर्वांगीण ज्ञान नहीं हो जाता है, किन्तु उसके साथ यह जानना भी आवश्यक है कि जीव और कर्म का संयोग किस कारण से होता है? कर्म के दलिक किस तरह बंधते और उदय में आते हैं? किन कारणों से कर्मों का बंध दृढ़ और शिथिल होता है? आत्मा की आंतरिक शुभाशुभ भावना एवं देह जनित बाह्य शुभाशुभ क्रिया का कर्म-वंधादि के विषय में क्या कैसा योगदान है? शुभाशुभ कर्म और उनके रस की तीव्रता-मंदता के कारण आत्मा कैसी सम-विषम दशाओं का अनुभव करती है आदि। एतद् विषयक प्रत्येक प्रश्न का समाधान बंधन आदि आठ करणों के स्वरूप को समझने पर हो सकता है।

जीव के साथ कर्म का बंध अनादिकाल से होता आ रहा है और जब तक जीव संसारस्थ है, तब तक होता रहता है। लेकिन विशुद्धि के परम प्रकर्ष को प्राप्त संसारस्थ जीव के जो बंध होता है उसे असांपरायिक अर्थात् योगमात्र से होने वाला बंध कहते हैं। जैसे सूखे कपड़े अथवा दीवाल पर वायु से उड़कर आये रजकण तत्काल छूट जाते हैं उसी प्रकार मात्र योग द्वारा बांधा गया कर्म भी दूसरे समय में भोगा जाकर छूट जाता है। असांपरायिक बंध संसार का कारण न होने से कर्मबंध के प्रसंग में प्रायः उसकी विवक्षा नहीं की

जाती है किन्तु संसार के कारणभूत सांपरायिक बंध को ही बंध के रूप में गिना जाता है। बंधनकरण में मुख्य रूप से इसी का विचार किया है।

ग्रंथकार आचार्य कर्मप्रकृतिविभाग को प्रारंभ करने की आदि में महापुरुषों को नमस्कार करके पूर्व विभाग के साथ वक्ष्यमाण का संबंध प्रतिपादित करते हुए कहते हैं :—

नमिऊण सुयहराणं बोच्छं करणाणि बंधणाईणि।
संकमकरणं बहुसो अइदेसियं उदय संते जं ॥१॥

शब्दार्थ—**नमिऊण**—नमस्कार करके, **सुयहराणं**—श्रुतधरों को, **बोच्छं**—कहूँगा, **करणाणि**—करणों को, **बन्धणाईणि**—बंधनादि, **संकमकरणं**—संक्रम करण का, **बहुसो**—प्रायः बहुलता से, **अइदेसियं**—अतिदेश किया है, **उदय**—उदय में, **संते**—सत्ता में, **जं**—क्योंकि।

गाथार्थ—श्रुतधरों को नमस्कार करके मैं बंधनादि करणों के स्वरूप को कहूँगा। क्योंकि उदय, सत्ता के विचार प्रसंग में प्रायः अनेक बार संक्रम करण का अतिदेश–उल्लेख किया है।

विवेचन—ग्रंथकार आचार्य ने गाथा में मंगलाचरण के रूप में श्रुतधरों को नमस्कार करते हुए बंधनादि आठ करणों की व्याख्या करने के कारण को बताया है।

सामान्य से तो 'नमिऊण सुयहराणं' पद मंगलाचरणात्मक है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवन्तों, चतुर्दश पूर्वधारी श्रुतकेवलियों को नमस्कार हो, लेकिन विशेष रूप में यह स्पष्ट किया है कि ग्रन्थ के वर्ण्य विषय के लिए श्रुतधरों की वाणी प्रमाणभूत है। मुमुक्षुजनों को उसी वाणी का बोध कराने के लिये मैं तत्पर हुआ हूँ।

यद्यपि श्रुतधरों ने तो अनेक विषयों का वर्णन किया है। लेकिन उन सभी का वर्णन तो एक साथ नहीं किया जा सकता है और न यह सम्भव भी है। अतः ग्रंथकार आचार्य ने अपने ग्रंथ के अभिधेय

की सीमा का निर्देश करते हुए कहा है—'वोच्छं करणाणि बंधणाईणि'—बंधन आदि करणों की व्याख्या करूंगा और बंधन आदि करणों की व्याख्या इसलिये करूंगा कि 'संक्रमकरणं बहुसो अइदेसियं उदय संतं' कर्मों की उदय एवं सत्ता अवस्थाओं का वर्णन करने के प्रसंग में बारंबार संक्रम करण का उल्लेख है, इसलिये संक्रम का स्वरूप बताना आवश्यक है तथा संक्रम तभी सम्भव है जब कर्मों का आत्मा के साथ बंध हो। अतएव बंध और उसके साहचर्य से तत्सदृश अन्य संक्रम आदि करणों की व्याख्या करने का निश्चय किया है।

पूर्वोक्त प्रकार से गाथोक्त आशय को स्पष्ट करने के पश्चात् उद्देश्यानुरूप निर्देश करने के न्यायानुसार अब करणों के नामों और उनके लक्षणों का कथन करते हैं।

करणों के नाम व उनके लक्षण—

आत्मा के परिणामविशेष अथवा वीर्यविशेष को करण कहते हैं। वे करण आठ हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. बंधन, २. संक्रमण, ३. उद्‌वर्तना ४. अपवर्तना, ५. उदीरणा, ६. उपशमना, ७, निधत्ति, ८. निकाचना।

१. बंधनकरण—जिस वीर्यविशेष से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों का बंध होता है, उसे बंधनकरण कहते हैं।

२. संक्रमणकरण—जिस वीर्यव्यापार द्वारा अन्य कर्म रूप में रहे हुए प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश अन्य कर्म के रूप में बदल जाते हैं। कर्म से कर्मान्तर में परिवर्तित हो जाते हैं, वह संक्रमण कहलाता है।

३-४. उद्‌वर्तना-अपवर्तनाकरण—यद्यपि ये दोनों भी अन्य कर्म का कर्मान्तर में परिवर्तन कराने में कारण होने से संक्रमण के ही भेद हैं, लेकिन संक्रमणकरण से इनको पृथक् मानने का कारण यह है कि दोनों का विषय स्थिति और रस हैं। अतएव जिस प्रयत्न द्वारा

स्थिति और रस वृद्धिगत हो, उसे उद्वर्तनाकरण और जिस वीर्य-व्यापार द्वारा स्थिति एवं रस का ह्रास उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं।

५. **उदीरणाकरण**—जो कर्म दलिक उदय प्राप्त नहीं है अर्थात् जो कर्मदलिक अपने-अपने विपाक का वेदन कराने, फल देने की ओर उन्मुख नहीं हुए हैं, उन कर्म दलिकों का जिस प्रयत्न द्वारा उदयावलिका में प्रवेश कराके फलोन्मुख किया जाता है, उसे उदीरणाकरण कहते हैं।

६. **उपशमनाकरण**—जिस वीर्यव्यापार के द्वारा कर्मों को उपशमित किया जाता है, शान्त किया जाता है अर्थात् उदय, उदीरणा, निधत्त एवं निकाचना करणों के अयोग्य किया जाता है, वह उपशमनाकरण कहलाता है।

७. **निधत्तिकरण**—जिस प्रयत्न—वीर्यव्यापार द्वारा कर्म दलिकों को उद्वर्तना, अपवर्तना के अतिरिक्त शेष करणों के अयोग्य स्थिति में स्थापित किया जाता है, अर्थात् कर्मों को ऐसी स्थिति में स्थापित कर दिया जाये कि उक्त दो करणों के अलावा अन्य करण प्रवर्तित न हो, उसे निधत्तिकरण कहते हैं।

८. **निकाचनाकरण**—जिस प्रयत्न द्वारा कर्मों को ऐसी स्थिति में स्थापित कर दिया जाये कि जिसमें अन्य कोई भी करण प्रवर्तित न हो सके। कर्म का बंध जिस रूप में हुआ है, उसके फल को उसी रूप में अवश्य भोगा जाये, कर्म उसी रूप में अपना विपाक वेदन कराये, उसे निकाचनाकरण कहते हैं।

इस प्रकार से करणों के नाम एवं उनके लक्षणों को बतलाने के बाद करण वीर्यविशेष रूप होने से ग्रन्थकार अब वीर्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं।

आवरणदेससव्वक्खयेण दुहेह वीरियं होइ।
अभिसंधिय अणभिसंधिय अकसाय सलेसि उभयंपि ॥२॥

होइ कसाइवि पढमं इयरमलेसीवि जं सलेसं तु।
गहण परिणामफंदणरूवं तं जोगओ तिविहं ॥३॥

शब्दार्थ—**आवरण**—अन्तरायकर्म, **देससव्वक्खयेण**—देशतः (एक देश से) और सर्वतः (पूर्ण रूप से) क्षय होने से, **दुहेह**—यहाँ दो प्रकार का, **वीरियं**—वीर्य, **होई**—होता है, **अभिसंधि**—अभिसंधिज, **अणभिसंधिय**—अनभिसंधिज, **अकसायसलेसि**—अकषायी और सलेश्य, **उभयंपि**—उभय (दोनों) (छाद्मस्थिक और कैवलिक) भी।

होइ—होता है, **कसाइवि**—कषायी भी, **पढमं**—पहला (छाद्मस्थिक), **इयरमलेसीवि**—इतर (कैवलिक वीर्य) अलेश्य भी, **जं**—जो, **सलेसं**—सलेश्य, **तु**—और, **गहणपरिणामफंदणरूवं**—ग्रहण, परिणमन और स्पन्दन रूप, **तं**—वह, **जोगओ**—योग से, **तिविहं**—तीन प्रकार का।

गाथार्थ—अन्तरायकर्म (वीर्यान्तरायकर्म) के देश क्षय और सर्वक्षय से वीर्य के दो प्रकार हैं, और उन दोनों के भी अभिसंधिज और अनभिसंधिज ऐसे दो भेद होते हैं तथा उभय छाद्मस्थिक और कैवलिक ये दोनों अकषायी और सलेश्य होते हैं तथा पहला (छाद्मस्थिक) वीर्य कषायी भी है और इतर कैवलिक वीर्य अलेश्य भी है। सलेश्य वीर्य ग्रहण, परिणमन और स्पन्दन रूप है और योग से तीन प्रकार का है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में वीर्य के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है।

सर्वप्रथम वीर्य के प्रादुर्भाव होने के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा है—वीर्यान्तराय कर्म के देश—आंशिक एवं सर्व—संपूर्ण क्षय से जन्य होने के कारण वीर्य के दो प्रकार हैं—देशक्षयज और सर्वक्षयज-'आवरण देससव्वक्खयेण दुहेह वीरियं होइ।' वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से उत्पन्न वीर्य छद्मस्थों को एवं सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न वीर्य केवली भगवन्तों के होता है।

जिनको क्रमशः छाद्मस्थिक और कैवलिक वीर्य कहते हैं। तथा इन दोनों के भी 'अभिसंधिय अणभिसंधिय'—अभिसंधिज और अनभिसंधिज इस तरह दो-दो प्रकार हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

अभिसंधिज—बुद्धिपूर्वक—विचारपूर्वक चलने, दौड़ने, कूदने आदि क्रियाओं में प्रवर्तमान वीर्य को अभिसंधिज वीर्य कहते हैं।

अनभिसंधिज—भुक्त आहार का सहजरूप से सप्त धातु, मलादि रूप से रूपान्तरित होने एवं मनोलब्धि रहित एकेन्द्रिय आदि जीवों की आहार ग्रहण आदि क्रियाओं में जो प्रवर्तित होता है वह अनभिसंधिज वीर्य कहलाता है।

छाद्मस्थिक और कैवलिक यह दोनों प्रकार का वीर्य अकषायी और सलेश्य होता है। छद्मस्थ सम्बन्धी अकषायी सलेश्य वीर्य उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीवों के और कैवलिक—केवलज्ञानी सम्बन्धी अकषायी सलेश्य वीर्य सयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती जीवों के पाया जाता है।

छाद्मस्थिक वीर्य सकषायी और अकषायी इस प्रकार दो तरह का है। छद्मस्थ जीव दो प्रकार के हैं—सकषायी और अकषायी। दसवें गुणस्थान तक कषायों का उदय रहने से आदि के दस गुणस्थानवर्ती जीव सकषायी और उससे ऊपर ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में कषायों का उदय न होने से अकषायी कहलाते हैं। इनको छद्मस्थ कहने का कारण यह है कि मोहनीय के अतिरिक्त शेष ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय है।

सकषायी छाद्मस्थिक वीर्य दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान तक के सभी संसारी जीवों के होता है और अकषायी वीर्य के लिये ऊपर कहा जा चुका है कि वह ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों में पाया जाता है तथा जो अलेश्य कैवलिक वीर्य है। वह अलेश्य

कैवलिक वीर्य अयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीवों एवं सिद्ध भगवंतों के होता है।

उक्त समग्र कथन का सारांश यह है—

ज्ञानादि गुणों की तरह वीर्य भी जीव का स्वभाव है। अतएव यह सभी जीवों—संसारी, सिद्ध, सकर्मा, अकर्मा जीवों में समान रूप से पाया जाता है। ऐसा कोई भी जीव नहीं है जो वीर्य-शक्ति से विहीन हो। जीव दो प्रकार के हैं—सलेश्य और अलेश्य। लेश्यारहित जीवों में प्राप्त वीर्यशक्ति समस्त कर्मावरण के क्षय हो जाने से क्षायिक है और निःशेष रूप से कर्मक्षय जन्य होने के कारण कर्म बंध का कारण नहीं है। इसीलिए अलेश्य जीवों का न कोई भेद है और न उनकी वीर्यशक्ति में तरतमता रूप अंतर है, किन्तु सलेश्य जीवों की वीर्यशक्ति कर्मबंध में कारण है। अतएव कार्यभेद अथवा स्वामिभेद से सलेश्य वीर्य के दो भेद होते हैं। कार्यभेद की अपेक्षा भेद वाला वीर्य एक जीव को एक समय में अनेक प्रकार का होता है और स्वामिभेद की अपेक्षा भेद वाला वीर्य एक जीव को एक समय में एक प्रकार का और अनेक जीवों की अपेक्षा अनेक प्रकार का है।

सलेश्य जीव दो प्रकार के हैं—छद्मस्थ और अछद्मस्थ। अतः वीर्य-उत्पत्ति के दो रूप हैं—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षयरूप और सर्वक्षयरूप। देशक्षयजन्य वीर्य को क्षायोपशमिक और सर्वक्षयज वीर्य को क्षायिक कहते हैं, जो केवलियों में पाया जाता है। जिससे सलेश्य वीर्य के भी दो भेद हैं—छाद्मस्थिक सलेश्य वीर्य और कैवलिक सलेश्य वीर्य।

केवली जीवों के अकषायी होने से उनका कोई भेद नहीं है उनमें सिर्फ कषायरहित कायपरिस्पन्दनरूप वीर्यशक्ति है।

छाद्मस्थिक जीव दो प्रकार के हैं—अकषायी सलेश्य और अकषायी अलेश्य जीव।

कषायों का दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में विच्छेद हो जाता है।

जिससे छाद्मस्थिक अकषायी सलेश्य वीर्य ग्यारहवें, बारहवें (उपशान्त-मोह क्षीणमोह) इन दो गुणस्थानवर्ती जीवों में और छाद्मस्थिक सकषायी सलेश्य वीर्य दसवें गुणस्थान तक के जीवों में पाया जाता है।

सलेश्य जीवों में वीर्य प्रवृत्ति दो रूपों में होती है, एक तो दौड़ना, चलना आदि निश्चित कार्यों को करने रूप प्रयत्नपूर्वक और दूसरी बिना प्रयत्न के होती रहती है। प्रयत्नपूर्वक होने वाली वीर्य प्रवृत्ति को अभिसंधिज और स्वयमेव होने वाली प्रवृत्ति को अनभिसंधिज कहते हैं।[1]

इस प्रकार सामान्य से वीर्य के सम्बन्ध में निर्देश करने के बाद अब जिस वीर्य का यहाँ अधिकार है, अर्थात् जिस वीर्य के सम्बन्ध में विचार किया जाना है, उसी का निरूपण करते हैं।

'जं सलेसं तु' अर्थात् जो सलेश्य वीर्य यहाँ अधिकृत है वह ग्रहण, परिणमन एवं स्पन्दन क्रिया रूप है—'गहण परिणामफंदणरूवं'। उस वीर्य के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और गमनागमनादि स्पन्दन रूप क्रियायें होती हैं।

जिसका आशय यह है—

अधिकृत सलेश्य वीर्यविशेष के द्वारा जीव सर्वप्रथम औदारिक आदि शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और ग्रहण करके औदारिक आदि शरीररूप से परिणमित करता है। इसी प्रकार पहले श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप से परिणमित करता है। परिणमित करके उसके निसर्ग के हेतु रूप सामर्थ्य विशेष की सिद्धि के लिए उन्हीं पुद्गलों का अवलंबन करता है। इस प्रकार से ग्रहण, परिणमन और आलंबन का साधन होने से उसे ग्रहण आदि का हेतु कहा गया है।

---

१ वीर्य के भेद-प्रभेदों का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

यद्यपि ग्रहण, परिणमन और स्पन्दन रूप क्रियाओं का कारण वीर्य है। परन्तु कार्य के साथ कारण की अभेद विवक्षा करने से ग्रहण, परिणाम और स्पन्दन रूप क्रिया को भी वीर्य कहा जाता है और इस प्रकार के स्वरूप वाले सलेश्य वीर्य को योग भी कहते हैं। किन्तु अलेश्य वीर्य द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन आदि नहीं होता है। क्योंकि अयोगिकेवलीगुणस्थान वाले और सिद्ध पुद्गलों का ग्रहण करते ही नहीं हैं।

सलेश्य जीव की वीर्यशक्ति को योग कहने का कारण यह है कि वह वीर्य मन, वचन और काया के पुद्गलों के योग-संयोग से पुद्गलान्तरों को ग्रहण करने आदि रूप क्रियायें करने में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मन, वचन और काया रूप सहकारी कारण द्वारा उत्पन्न होने वाले उस योग के तीन प्रकार हो जाते हैं—

१. मनोयोग २. वचनयोग और ३. काययोग।

इसका सारांश यह हुआ कि किसी भी वस्तु को ग्रहण करने आदि के लिए संसारी जीव के पास तीन साधन हैं—शरीर, वचन और मन। इन साधनों के माध्यम से उसका वस्तु ग्रहण आदि के लिए परिस्पन्दन होता है। इसलिए साधनों के नामानुरूपयोग के उक्त काययोग आदि तीन नाम हो जाते हैं।

सहकारी कारण रूप मनोवर्गणा द्वारा प्रवर्तित होने वाला वीर्य मनोयोग, सहकारी कारण रूप भाषा वर्गणा द्वारा प्रवर्तित वीर्य वचनयोग और सहकारी कारण रूप काया के पुद्गलों द्वारा प्रवर्तित होने वाला वीर्य काययोग कहलाता है।

इस प्रकार सामान्य से कर्मबंध की कारणभूत वीर्य शक्ति का विचार करने के पश्चात् अब योग संज्ञक वीर्य के समानार्थक नामों का निर्देश करते हैं।

योगसंज्ञक वीर्य के समानार्थक नाम—

जोगो विरियं थामोउच्छाहपरक्कमो तहा चेट्ठा।
सत्ति सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जाया ॥४॥

शब्दार्थ—**जोगो**—योग, **विरियं**—वीर्य, **थामो**—स्थाम, **उच्छाह**—उत्साह, **परक्कमो**—पराक्रम, **तहा**—तथा, **चेट्ठा**—चेष्टा, **सत्ति**—शक्ति, **सामत्थं**—सामर्थ्य, **चिय**—भी, **जोगस्स**—योग के, **हवंति**—हैं, **पज्जाया**—पर्याय ।

गाथार्थ—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य ये सब योग के पर्यायवाची नाम हैं ।

विशेषार्थ—वीर्य अथवा योग शब्द से जो आशय ग्रहण किया जाता है, वही अर्थ स्थाम, उत्साह आदि सामर्थ्य पर्यन्त के शब्दों का भी है । अर्थात् जैसे योग शब्द सलेश्य जीव के वीर्य का बोधक है, उसी प्रकार स्थाम, उत्साह आदि शब्द भी उसी वीर्य के अर्थ के ज्ञापक हैं । इसीलिए इनको योग के ही समानार्थक, पर्यायवाची नाम जानना चाहिये ।

इस प्रकार सामान्य से योग संज्ञक वीर्य का विचार करने के पश्चात् अब उसके उत्कृष्टत्व, अनुत्कृष्टत्व जघन्यत्व और अजघन्यत्व का बोध कराने के लिये विस्तार से विवेचन करते हैं ।

योग विचारणा के अधिकार

विस्तार से योग संज्ञक वीर्य शक्ति की विचारणा के अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं—

१. अविभाग प्ररूपणा, २. वर्गणा प्ररूपणा, ३. स्पर्धक प्ररूपणा, ४. अन्तर प्ररूपणा, ५. स्थान प्ररूपणा, ६. अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा, ७. परंपरोपनिधा प्ररूपणा, ८. वृद्धि (हानि) प्ररूपणा, ९. काल प्ररूपणा और १०. जीवाल्पबहुत्व प्ररूपणा । इनमें पहली प्ररूपणा का नाम अविभाग प्ररूपणा है और अन्तिम का नाम है जीवाल्पबहुत्व अर्थात् जीवों के योग के अल्प-बहुत्व का विचार करना । इन अधिकारों का अनुक्रम से एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे, इस रूप से विचार करना चाहिये । क्योंकि व्युत्क्रम से विचार करने पर इनकी क्रमबद्धता ज्ञात नहीं हो सकती है ।

इन अविभाग आदि दस प्ररूपणाओं का अनुक्रम से विचार करने का दूसरा कारण यह है कि किसी भी एक आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में विवक्षित समय में वीर्यलब्धि समान होने पर भी योग संज्ञा वाला वीर्य (करण वीर्य) समान नहीं होता है। क्योंकि जहाँ वीर्य की निकटता होती है वहाँ उन आत्मप्रदेशों में चेष्टा अधिक होने से वीर्य अधिक होता है और उन आत्मप्रदेशों से जो-जो आत्मप्रदेश जितने-जितने अंश में दूर होते हैं वहाँ उन में उतने-उतने अंशों में अल्प-अल्प चेष्टा (परिस्पन्दन) होने से उन–उन आत्मप्रदेशों में करण वीर्य क्रमशः हीन-हीन होता जाता है। इस तरह यह करण वीर्य प्रत्येक जीव के सर्व प्रदेशों में तरतम भाव से होने के कारण उसकी अविभाग, वर्गणा आदि उक्त दस प्ररूपणायें क्रमशः की जाती हैं।

प्ररूपणा का अर्थ है अपने-अपने अधिकृत विषयों का संगोपांग विचार करना। अविभाग प्ररूपणा आदि दस अधिकारों का क्रम से विचार करने का संकेत ऊपर किया है और उस क्रम में अविभाग प्ररूपणा प्रथम है। अतएव सर्वप्रथम अविभाग प्ररूपणा की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं।

अविभाग प्ररूपणा

पन्नाए अविभागं जहन्नविरियस्स वीरियं छिन्नं।
एक्केक्कस्स पएसस्स असंख लोगप्पएससमं ॥५॥

शब्दार्थ—**पन्नाए**—प्रज्ञा—केवलज्ञान रूप बुद्धि, **अविभागं**—अविभाज्य-जिसका दूसरा विभाग न हो सके, **जहन्नविरियस्स**—जघन्य वीर्य वाले जीव के, **वीरियं**—वीर्य, **छिन्नं**—छिन्न खण्डित किया गया, **एक्केक्कस्स**—एक-एक (प्रत्येक), **असंख लोगप्पएससमं**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश के बराबर।

गाथार्थ—केवलज्ञान रूप प्रज्ञा-बुद्धि द्वारा जघन्य वीर्य वाले जीव के वीर्य का जिसका दूसरा विभाग न हो सके, उस रीति से खण्डित किया गया जो वीर्य खण्ड उसे अविभाग कहते हैं।

वैसे वीर्याविभाग जीव के एक-एक प्रदेश पर असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में अविभाग का स्वरूप बतलाया है कि भव के प्रथम समय में वर्तमान अल्पाति अल्प वीर्य व्यापार वाले लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के किसी भी एक प्रदेश के वीर्य व्यापार के केवलीप्रज्ञा रूप शस्त्र से एक के दो भाग न हो सकें, वैसे अंश किये जायें तो वे असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। उनमें के एक अंश को अविभाग कहते हैं। ऐसे अविभाग वीर्याणु प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर जघन्य और उत्कृष्ट से असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। परन्तु इतना विशेष जानना चाहिये कि जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट में वीर्याविभाग असंख्यात गुणे होते हैं।

उक्त कथन का सारांश यह है कि केवली की बुद्धि रूप शस्त्र से छेदन करने पर जिसके दो विभाग न हो सकें ऐसे वीर्य के अंश को अविभाग अथवा निर्विभाज्य अंश कहते हैं और ऐसे वे वीर्य के अवि-भाज्य अंश भी सबसे अल्पतम वीर्य वाले लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगो-दिया जीव के उत्पत्ति के प्रथम समय में जघन्य वीर्य वाले आत्म-प्रदेशों में भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और उत्कृष्ट से भी एक-एक आत्म प्रदेश पर असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं।

परन्तु जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट में वे वीर्याविभाग असंख्यात गुणे जानना चाहिये।

इस प्रकार से अविभाग प्ररूपणा के स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त वर्गणा प्ररूपणा का प्रतिपादन करते हैं।

वर्गणा प्ररूपणा

सव्वप्प वीरिएहिं जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा।
बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असंखाओ ॥६॥

शब्दार्थ—**सव्वप्प**—सबसे अल्प, **वीरिएहिं**—वीर्य वाले, **जीवपएसेहिं**—जीव प्रदेशों की, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **बीयाइ**—दूसरी आदि,

वग्गणाओ—वर्गणायें, **रूवुत्तरिया**—तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणुवाली, **असंखाओ**—असंख्यात ।

गाथार्थ—सर्व से अल्प वीर्य वाले जीव प्रदेशों की पहली वर्गणा होती है, तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाली दूसरी, तीसरी आदि असंख्य वर्गणायें होती हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में वर्गणा का स्वरूप और उनकी संख्या का प्रमाण बतलाया है ।

यद्यपि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य तो समस्त आत्मप्रदेशों में समान ही होता है, किन्तु जो प्रदेश कार्य के निकट होते हैं अथवा जिन प्रदेशों के निकट कार्य होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक होता है और जिन-जिन प्रदेशों का कार्य दूर होता है वहाँ-वहाँ अनुक्रम से वीर्य-व्यापार हीन-हीनतर होता जाता है । तभी अल्प और क्रमश: अधिक-अधिक वीर्य-व्यापार वाले प्रदेशों की प्राप्ति हो सकती है और वैसा होने पर वर्गणा, स्पर्धक और योग स्थानों की निष्पत्ति रचना सम्भव है ।

उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति को वीर्य और उसके व्यापार यानी कार्य में प्रवृत्त वीर्य को योग कहते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि पहले को लब्धि-वीर्य और दूसरे को उपयोग-वीर्य कहते हैं । लब्धिवीर्य प्रत्येक आत्मप्रदेश पर समान होता है, परन्तु उपयोग-वीर्य समान नहीं होता है । जिस प्रदेश के कार्य निकट होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक और जैसे-जैसे कार्य दूर होता है वैसे-वैसे अल्प वीर्य-व्यापार होता है । उसी से वर्गणा, स्पर्धक और योगस्थान की उत्पत्ति हो सकती है ।

प्रस्तुत में वर्गणा प्ररूपणा का विचार किया जा रहा है । अतएव यहाँ पहले वर्गणा का स्वरूप बतलाते हैं ।

भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धिअपर्याप्त अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव का वीर्य-व्यापार भी समस्त

आत्मप्रदेशों में समान नहीं होता है, जहाँ कार्य निकट हो, वहाँ अधिक होता है और कार्य जैसे-जैसे दूर हो वैसे-वैसे वीर्य-व्यापार अल्प-अल्प होता जाता है।

ग्रंथकार आचार्य ने अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले आत्मप्रदेशों से वर्गणा प्रारम्भ करने का निर्देश किया है—'सव्वप्प वीरिएहिं जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा' अर्थात् अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले किसी भी एक आत्मप्रदेश पर जो वीर्य-व्यापार है उसके एक के दो भाग न हो सकें ऐसे असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण समसंख्यक वीर्याणु वाले आत्म-प्रदेशों के समुदाय को वर्गणा कहते हैं। यानी समान जातीय एवं समसंख्यक वीर्याणु वाले आत्मप्रदेशों का समुदाय वर्गणा कहलाती है।

यह प्रथम वर्गणा का स्वरूप है। परन्तु वर्गणायें तो असंख्यात हैं। अतः अब दूसरी से लेकर उत्तरोत्तर असंख्यात वर्गणाओं के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये गाथा में संकेत किया है—'बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असंखाओ।'

अर्थात् एक वीर्याणु से अधिक घनीकृत लोक के असंख्यातवें भाग में रहे हुए असंख्य प्रतर[1] प्रमाण जीव प्रदेशों का समुदाय दूसरी वर्गणा हैं। दो वीर्याणु अधिक घनीकृत लोक के असंख्यातवें भाग में रहे हुए असंख्यात प्रतर प्रमाण जीव प्रदेशों का समुदाय तीसरी वर्गणा है। इस प्रकार एक-एक वीर्याणु से अधिक-अधिक उतने-उतने जीव प्रदेशों का समुदाय रूप सूचि श्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए असंख्य आकाश प्रदेश प्रमाण असंख्याती वर्गणायें होती हैं।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि जघन्य से उत्तरोत्तर एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से बनने वाली उन असंख्याती वर्गणाओं में

---

१. श्रेणीगत प्रदेशों को उतने ही प्रदेशों से गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण को प्रतर कहते हैं।

क्रमशः पूर्व-पूर्व की अपेक्षा आगे-आगे की वर्गणा में आत्मप्रदेश घनीकृत लोक के असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्य आकाश प्रदेश के बराबर हैं। जिससे उतनी ही अर्थात् असंख्याती वर्गणाएं हो सकती हैं।

इस प्रकार वर्गणा प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब वर्गणा के अनन्तर क्रमप्राप्त स्पर्धक प्ररूपणा और उसके बाद अन्तर प्ररूपणा का विचार करते हैं।

स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा

ताओ फड्डगमेगं अओपरं नत्थि रूववुड्ढीए।
जाव असंखालोगा पुव्वविहाणेण तो फड्डा ॥७॥

शब्दार्थ—**ताओ**—उनका, **फड्डगमेगं**—एक स्पर्धक, **अओपरं**—इसके अनन्तर, **नत्थि**—नहीं है, **रूववुड्ढीए**—एक-एक वीर्याणु वृद्धि वाले, **जाव**—तक, पर्यन्त, **असंखा लोगा**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **पुव्व-विहाणेण**—पूर्व विधि, प्रकार से, **तो**—उसके बाद, **फड्डा**—स्पर्धक।

गाथार्थ—उन (वर्गणाओं) का समूह स्पर्धक कहलाता है। उसके अनन्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वृद्धि वाले आत्म-प्रदेश नहीं हैं, परन्तु असंख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण वीर्याणुओं से अधिक वाले आत्म-प्रदेश प्राप्त हो सकते हैं। उसके बाद पुनः पूर्व विधि—प्रकार से स्पर्धक होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में स्पर्धक का स्वरूप एवं वर्गणा और स्पर्धक के अन्तर को स्पष्ट किया है। स्पर्धक के स्वरूप का निर्देश करते हुए बताया है—

ताओ फड्डगमेगं—उन वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है, अर्थात् जघन्य वर्गणा से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाली सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्य आकाश-प्रदेश प्रमाण असंख्याती वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं। यानी अनुक्रम से एक-एक वीर्याणु से बढ़ती हुई असंख्याती वर्गणाओं का समूह स्पर्धक कहलाता है। यह पहला स्पर्धक है।

यह स्पर्धक प्ररूपणा का आशय है तथा इस प्रकार से स्पर्धक प्ररूपणा करने के पश्चात् अब अन्तर प्ररूपणा का कथन करते हैं।

यहां तक ही एक-एक अधिक वीर्याणु वृद्धि वाले आत्मप्रदेश प्राप्त **होते हैं किन्तु** इससे आगे क्रमशः एक-एक वीर्याणु प्रमाण अधिक **वीर्य**-व्यापार वृद्धि वाले आत्मप्रदेश नहीं मिलते हैं—'अओ परं नत्थि रूववुड्ढीए'। इसी प्रकार दो, तीन या संख्यात वीर्याणु प्रमाण अधिक वीर्य-व्यापार वाले भी आत्म-प्रदेश नहीं मिलते हैं किन्तु असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याणु से अधिक वीर्य-व्यापार वाले आत्म-प्रदेश प्राप्त होते हैं—'जाव असंखालोगा' तथा इस प्रकार से ही वीर्य-व्यापार में वृद्धि होने में कारण जीव-स्वभाव है।

तत्पश्चात् पुनः 'पुव्वविहाणेण' पूर्व विधि के अनुसार वर्गणाओं का क्रम प्रारम्भ होता है। अर्थात् उन समान वीर्य-व्यापार वाले आत्मप्रदेशों का वह समुदाय दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है और उसके बाद पूर्व में बताये गये क्रम के अनुसार पहली वर्गणा से एक वीर्याविभाग अधिक जीव प्रदेशों के समूह की दूसरी वर्गणा, दो वीर्याविभाग अधिक जीव प्रदेशों के समूह की तीसरी वर्गणा इत्यादि इस प्रकार एक-एक वीर्याविभाग अधिक-अधिक और हीन-हीन जीव-प्रदेशों की समुदाय रूप सूचि श्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणायें होती हैं। उनका समुदाय रूप दूसरा स्पर्धक होता है।

इसके अनन्तर पुनः एक वीर्याविभाग की अधिकता वाले आत्म-प्रदेश नहीं होते हैं, और न दो, तीन, चार या संख्यात वीर्याणु अधिक वाले भी आत्मप्रदेश होते किन्तु असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याणु से अधिक वाले आत्मप्रदेश होते हैं। उन समसंख्यक उतने वीर्याणु वाले आत्म-प्रदेशों का वह समुदाय तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है।

इसके बाद उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाले और हीन-हीन जीव प्रदेशों की सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश

प्रदेशों प्रमाण असंख्याती वर्गणायें होती हैं उनका समुदाय तीसरा स्पर्धक होता है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त क्रम से अन्य-अन्य स्पर्धक जानना चाहिये। क्योंकि अनुक्रम से एक-एक अधिक वीर्याणु से वृद्धि को प्राप्त वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं।

इस प्रकार से स्पर्धक एवं अन्तर प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त स्थान और अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा का कथन करते हैं।

स्थान व अन्तरोपनिधा प्ररूपणा

सेढी असंखभागिय फड्डेहिं जहन्नयं हवई ठाणं।
अंगुल असंखभागुत्तराइं भुओ असंखाइ ॥८॥

शब्दार्थ—**सेढी असंखभागिय**—श्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण, **फड्डेहिं**—स्पर्धकों का, **जहन्नयं**—जघन्य, **हवई**—होता है, **ठाणं**—(योग) स्थान, **अंगुलअसंखभागुत्तराइं**—अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण अधिक-अधिक स्पर्धकों से, **भुओ**—पुनः अन्य-अन्य, **असंखाइ**—असंख्यात।

गाथार्थ—श्रेणी के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण स्पर्धकों का जघन्य (योग) स्थान होता है तथा अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण अधिक-अधिक स्पर्धकों से पुनः अन्य-अन्य असंख्यात योगस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में योगस्थान के निर्माण की प्रक्रिया का निर्देश करते हुए उनकी संख्या का प्रमाण बतलाया है।

योगस्थान बनने की प्रक्रिया का संकेत करते हुए बताया है 'सेढी असंखभागिय फड्डेहिं जहन्नयं हवईठाणं'—श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धकों का जघन्य (प्रथम) योगस्थान होता है। इसका आशय यह है कि पूर्व की गाथा में जिसके स्वरूप का प्रतिपादन किया

है ऐसे सूचि श्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण असंख्य स्पर्धकों का जघन्य योगस्थान होता है।

इस योगस्थान को जघन्य कहने का कारण यह है कि यह योगस्थान सबसे अल्प वीर्यव्यापार वाले और भव के प्रथम समय में वर्तमान सूक्ष्म निगोदिया जीव के पाया जाता है । इसी क्रम से उत्तरोत्तर अधिक-अधिक वीर्य व्यापार वाले अन्य-अन्य जीवों के दूसरे भी असंख्य योगस्थान होते हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

सूक्ष्म निगोदिया से कुछ अधिक वीर्य व्यापार वाले अन्य जीव के समस्त आत्मप्रदेश समान वीर्यव्यापार वाले नहीं होते हैं, किन्तु कार्य की निकटता या दूरी को लेकर अल्पाधिक वीर्य-व्यापार वाले होते हैं। उनमें जो अल्पातिअल्प वीर्यव्यापार वाले आत्मप्रदेश हैं, उनका जो समुदाय वह दूसरे योगस्थान के पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा होती है। उसमें वीर्याणु की संख्या पहले योगस्थान के अन्तिम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा में के किसी भी आत्मप्रदेश के ऊपर जितने वीर्याणु हैं उनमें असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याणु मिलायें और फिर उनकी जो संख्या हो, उतने होते हैं।

तदनन्तर एक वीर्याणु अधिक वीर्यव्यापार वाले आत्मप्रदेशों के समुदाय की दूसरी वर्गणा, दो वीर्याविभाग अधिक वीर्यव्यापार वाले आत्मप्रदेशों के समुदाय की तीसरी वर्गणा, तीन वीर्याविभाग अधिक वीर्यव्यापार वाले आत्मप्रदेशों की चौथी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक अधिक वीर्याणु वाली सूचि श्रेणी के असंख्यातवें भाग में वर्तमान प्रदेश राशि प्रमाण असंख्याती वर्गणायें होती हैं। उनके समुदाय को प्रथम स्पर्धक कहते हैं।

तत्पश्चात् प्रथम योगस्थान में बताये गये क्रम से दूसरा, तीसरा इत्यादि इस प्रकार सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए प्रदेश राशि प्रमाण स्पर्धक कहना चाहिये। उनका समुदाय दूसरा योगस्थान कहलाता है ।

तदनन्तर पूर्वकथित क्रमानुसार पूर्व से अधिक वीर्यव्यापार वाले अन्य जीव का तीसरा योगस्थान कहना चाहिये ।

इस विधि से अन्य-अन्य जीवों की अपेक्षा पूर्व-पूर्व से अधिक-अधिक वीर्यव्यापार वाले सर्वोत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त योगस्थान जानना चाहिये । ये सभी योगस्थान सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं—'असंखाइ ।'

यहाँ यह जानना चाहिये कि उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान अल्पतम वीर्य वाले सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव के जो योग है वह योगस्थान तो है लेकिन योगस्थानों की वृद्धि का क्रम उससे अधिक वीर्य वाले अन्य जीव के जो सर्वाल्पवीर्य वाले जीवप्रदेशों का समुदाय है अथवा द्वितीय समय में वर्तमान उसी निगोदिया अपर्याप्तक जीव के जघन्य वीर्याविभागों का समुदाय है, वहाँ से प्रारम्भ होता है ।

जीव तो अनन्त हैं और वे अपनी-अपनी योगशक्ति से सम्पन्न हैं फिर भी अनन्त के बजाय असंख्यात योगस्थान मानने पर शंकाकार अपनी शंका प्रस्तुत करता है—

शंका—जीव अनन्त हैं और प्रत्येक जीव के योगस्थान सम्भव होने से योगस्थानों की संख्या अनन्त होनी चाहिये । परन्तु उनकी संख्या श्रेणि के असंख्यातवें भाग में विद्यमान प्रदेशराशि प्रमाण क्यों है ?

उत्तर—जीवों के अनन्त होते हुए भी असंख्यात योगस्थान होने का कारण यह है कि समान संख्या वाले एक-एक योगस्थान के ऊपर स्थावरजीव अनन्त होते हैं । जिससे उन अनन्त स्थावर जीवों का एक योगस्थान होता है और अधिक-से-अधिक त्रस जीव असंख्यात हैं । इस प्रकार एक समान योगस्थान वाले जीव अधिक होने पर भी समस्त जीवों की अपेक्षा समस्त योगस्थानों की संख्या ऊपर बताई जितनी ही है, अर्थात् असंख्यात ही होती है । अल्पाधिक नहीं है ।

सारांश यह है कि स्थावरप्रयोग्य योगस्थानों में से प्रत्येक योगस्थान में अनन्त या असंख्य जीव हो सकते हैं। जिससे उन जीवों का समान योगस्थान होता है किन्तु त्रसप्रयोग्य योगस्थानों में प्रत्येक योगस्थान में असंख्य अथवा संख्य जीव होते हैं और कदाचित् कोई त्रसप्रयोग्य योगस्थान शून्य भी होता है। इस प्रकार जीवों के अनन्त होते हुए भी विसदृश योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भाग ही होते हैं।

यह योगस्थान प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।[1] अब अनन्तरोपनिधा-प्ररूपणा का निर्देश करते हैं।

अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा

उपनिधानं उपनिधा अर्थात् विचार करने को उपनिधा कहते हैं। अतएव अनन्तरोपनिधा का यह अर्थ हुआ कि पूर्व-पूर्व योगस्थान के स्पर्धकों की अपेक्षा उत्तर-उत्तरवर्ती योगस्थान के स्पर्धकों का विचार करना। जैसे कि पहले योगस्थान के स्पर्धकों की अपेक्षा दूसरे योगस्थान के स्पर्धकों का, दूसरे की अपेक्षा तीसरे योगस्थान के स्पर्धकों का इस प्रकार के विचार करने को अनन्तरोपनिधा कहते हैं।

अब इस क्रमनिर्देशानुसार पूर्व-पूर्व के योगस्थान से उत्तर-उत्तर के योगस्थान के स्पर्धकों का विचार करते हैं कि पूर्व-पूर्व योगस्थान से उत्तर-उत्तर के योगस्थान में एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं उतने स्पर्धक अधिक-अधिक होते हैं। जैसे कि पहले योगस्थान में जितने स्पर्धक हैं, उनकी अपेक्षा दूसरे योगस्थान में अंगुल प्रमाणक्षेत्र के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हैं उतने स्पर्धक अधिक हैं—'अंगुल असंखभागुत्तराइं।' इसी

---

१ असत्कल्पना से योगस्थान प्ररूपणा का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

रीति से दूसरे योगस्थान से तीसरे योगस्थान में अधिक हैं। इस तरह उत्तरोत्तर योगस्थान में स्पर्धक अधिक-अधिक होते हैं।

पूर्व-पूर्व योगस्थान से उत्तरोत्तर योगस्थान में स्पर्धकों की वृद्धि होती है, इस पर शंकाकार अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करता है—

शंका—आप यह किस हेतु से कहते हैं कि पूर्व-पूर्व योगस्थान से उत्तर-उत्तर के योगस्थान में स्पर्धकों की वृद्धि होती है ? क्योंकि एक योगस्थान में एक ही आत्मा के प्रदेश लिये जाते हैं और प्रत्येक आत्मा के प्रदेश समान होने से दूसरे योगस्थान में आत्म-प्रदेशों की वृद्धि नहीं हो पाती है, जिससे स्पर्धकों की संख्या में वृद्धि हो सके।

समाधान—शंका का यह अंश ठीक है कि एक योगस्थान में एक ही आत्मा के प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं और आत्मा के प्रदेश नियत होने से उनकी संख्या में वृद्धि नहीं होती है। परन्तु यह जानना चाहिये कि पहले योगस्थान में की प्रत्येक वर्गणा में जितने जीवप्रदेश होते हैं उनसे दूसरे आदि योगस्थानों की प्रत्येक वर्गणाओं में प्रारम्भ से ही जीव प्रदेशों की संख्या हीन-हीन होती जाती है। जैसे-जैसे वीर्यव्यापार बढ़ता है, वैसे-वैसे वर्गणाओं में आत्मप्रदेशों की संख्या अल्प-अल्प होती जाती है। अल्प वीर्यव्यापार वाले जीव प्रदेश अधिक तथा अधिक-अधिक वीर्यव्यापार वाले प्रदेश अनुक्रम से अल्प-अल्प होते हैं और ऐसा होने में जीवस्वभाव कारण है। ऐसी स्थिति होने से दूसरे योगस्थान में पहले योगस्थान जितने स्पर्धक होने के बाद भी आत्मप्रदेशों की संख्या बढ़ेगी और उनकी वर्गणा तथा स्पर्धक बनेंगे। इसी से दूसरे योगस्थान में स्पर्धकों की संख्या में भी वृद्धि होगी। इसी प्रकार उत्तरोत्तर योगस्थान में भी स्पर्धक की वृद्धि का विचार समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त परम्परा से मार्गणा करने रूप परंपरोपनिधा प्ररूपणा का कथन करते हैं।

पंरपरोपनिधा प्ररूपणा

सेढि असंखियभागं गंतु गंतु हवंति दुगुणाइं।
फड्डाइं ठाणेसु पलियासंखसंगुणकारा ॥९॥

शब्दार्थ—**सेढिअसंखियभागं**—श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **गंतु-गंतु**—(योगस्थान) जाने पर, **हवंति**—होते हैं, **दुगुणाइं**—दुगुने, **फड्डाइं**—स्पर्धक, **ठाणेसु**—योगस्थानों में, **पलियासंखंसं**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **गुणकारा**—(द्वि) गुण वृद्धि के।

गाथार्थ—श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान जाने पर आगे के योगस्थान में दुगुने स्पर्धक होते हैं। पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण द्विगुण वृद्धि के स्थान हैं।

विशेषार्थ—गाथा में परंपरोपनिधा से योगस्थानवर्ती स्पर्धकों का विचार किया है। परंपरा से उपनिधा करने को परंपरोपनिधा कहते हैं, अर्थात् किसी भी एक योगस्थान के स्पर्धकों की अपेक्षा जो दूरान्तर्वर्ती योगस्थान के स्पर्धकों का विचार किया जाता है, उसे परंपरोपनिधा कहते हैं। अतः अब इसी दृष्टि से योगस्थानों के स्पर्धकों की संख्या का निर्देश करते हैं—

'सेढि असंखियभागं गंतु गंतु'—श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान जाने पर अर्थात् समस्त योगस्थानों में से प्रथम योगस्थान से लेकर सूचि श्रेणि के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने प्रमाण योगस्थानों का अतिक्रमण करने के पश्चात् जो योगस्थान प्राप्त होता है, उसमें पूर्व योगस्थान की अपेक्षा दुगने स्पर्धक होते हैं। जैसे कि पहले जघन्य योगस्थान में जितने स्पर्धक हैं उसकी अपेक्षा श्रेणी के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानों का अतिक्रमण करने के बाद जो योगस्थान प्राप्त होता है उसमें दुगने स्पर्धक होते हैं 'हवंति दुगुणाइं'।

तत्पश्चात् पुनः इस योगस्थान से उतने ही योगस्थानों—सूचि श्रेणि के असंख्यातवें भागवर्ती आकाशप्रदेश प्रमाण योगस्थानों का उल्लंघन

करने पर प्राप्त योगस्थान में पूर्व के जिस योगस्थान में दुगुने स्पर्धक हुए थे, उससे दुगुने स्पर्धक होते हैं। इस प्रकार पुनः-पुनः उतने-उतने योगस्थानों का अतिक्रमण करने पर आगे-आगे के योगस्थानों में दुगने-दुगने स्पर्धक होते हैं–'हवंति दुगुणाइं फड्डाइं ठाणेसु'। यह दुगने-दुगने स्पर्धक प्राप्त होने का कथन अन्तिम सर्वोत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त करना चाहिये और ये पूर्व-पूर्व योगस्थान की अपेक्षा दुगने-दुगने हुए स्पर्धक वाले योगस्थान सूक्ष्म अद्धा पल्लोपम के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतनी संख्या प्रमाण हैं।

अब हानि स्थानों को बताते हैं कि पहले से अन्तिम तक जाने पर जितने द्विगुणवृद्धि के स्थान होते हैं, उतने ही अन्तिम से आदि के स्थान तक आने पर द्विगुण हानि के स्थान जनाना चाहिये। वे इस प्रकार कि उत्कृष्ट अन्तिम योगस्थान की अपेक्षा नीचे उतरने पर श्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण योगस्थानों का उल्लंघन करने पर जो योगस्थान प्राप्त होता है उसमें द्विगुणहीन–अर्ध स्पर्धक होते हैं। उसके बाद उतने ही योगस्थान नीचे उतरने पर पुनः जो योगस्थान प्राप्त होता है उसमें पूर्व की अपेक्षा अर्ध स्पर्धक होते हैं। इस प्रकार नीचे-नीचे उतने-उतने योगस्थान उतरने पर उस-उसमें आधे-आधे स्पर्धक जघन्य योगस्थान पर्यन्त होते हैं। इस क्रम से जितने द्विगुणवृद्धि वाले स्थान है उतने ही द्विगुण हानि वाले स्थान भी हैं किन्तु स्व स्थान में दोनों तुल्य हैं।

इस प्रकार जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त समस्त योगस्थानों की तीन स्थितियां हुईं–१. आरोह की अपेक्षा द्विगुणवृद्ध स्पर्धक वाले योगस्थान २. अवरोह की अपेक्षा द्विगुणहीन स्पर्धक वाले योगस्थान-तथा ३. इन दोनों के अन्तराल में स्थित योगस्थान।

इन तीनों में कौन किससे अधिक और अल्प है, इसको बतलाने के लिये उनके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हैं कि द्विगुणवृद्ध या द्विगुणहीन स्पर्धक वाले योगस्थान अल्प हैं और उनसे उनके अन्त-

राल में रहे हुए योगस्थान असंख्यात गुणे हैं। क्योंकि श्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण योगस्थानों का उल्लंघन करने पर ही द्विगुणवृद्ध स्पर्धक वाला अथवा द्विगुणहीन स्पर्धक वाला योगस्थान प्राप्त होता है। इसीलिये अन्तरालवर्ती योगस्थानों का प्रमाण असंख्यात गुणा कहा गया है।

इस प्रकार से परंपरोपनिधा प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये। अब वृद्धि प्ररूपणा अर्थात् योगस्थानों की वृद्धि का विचार करते हैं।

वृद्धि प्ररूपणा

वड्ढंति व हायंति व चउहा जीवस्स जोगठाणाइं।
आवलिअसंखभागंतमुहुत्तमसंखगुणहाणी ॥१०॥

शब्दार्थ—**वड्ढंति**—बढ़ते हैं, **व**—अथवा, **हायंति**—घटते हैं, **व**—अथवा, **चउहा**—चार प्रकार से, **जीवस्स**—जीव के (में), **जोगठाणाइं**—योगस्थान, **आवलिअसंखभागं**—आवलिका के असंख्यातवें भाग, **अन्तमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, **असंखगुणहाणी**—असंख्यात गुण हानि एवं (वृद्धि)।

गाथार्थ—जीवों में योगस्थान चार प्रकार से बढ़ते हैं अथवा घटते हैं। असंख्यातगुण वृद्धि एवं हानि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होती है और शेष (तीन) वृद्धि और हानि आवलिका के असंख्यातवें भाग समय पर्यन्त होती हैं।

विशेषार्थ—गाथा में जीवों के योगस्थानों में होने वाली वृद्धि अथवा हानि के प्रकारों एवं उनका समय मान बतलाया है।

वृद्धि और हानि के प्रकारों का निर्देश करते हुए बताया है—'वड्ढंति व हायंति व चउहा'—वृद्धि और हानि चार प्रकार की है अर्थात् योग प्रवृत्ति की वृद्धि, हानि का आधार वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम पर अवलंबित है। उसका क्षयोपशम किसी समय बढ़ता है, किसी समय घटता है, और किसी समय उतना ही रहता है, उसमें वृद्धि-ह्रास नहीं होता है जिससे योगस्थान भी किसी

समय बढ़ता है, किसी समय घटता है और किसी समय वही रहता है।

ऐसी स्थिति में जो वृद्धि और हानि होती है वह चार प्रकार की है—१. असंख्यातभाग वृद्धि, २. संख्यातभाग वृद्धि, ३. संख्यात-गुण वृद्धि और ४. असंख्यातगुण वृद्धि।

इसी तरह हानि के भी चार प्रकार हैं—१. असंख्यातभाग हानि २. संख्यातभाग हानि ३. संख्यातगुण हानि और ४. असंख्यातगुण हानि।

इन चारों प्रकार की वृद्धि और हानि का स्वरूप इस प्रकार है— विवक्षित किसी एक समय में जो योगस्थान होता है, उससे आगे के समय में क्वचित् असंख्यात भागाधिक वाला योगस्थान होता है यानि विवक्षित समय के वीर्यव्यापार से आगे के समय में असंख्यात भाग अधिक वीर्यव्यापार की वृद्धि वाला योगस्थान होता है। क्वचित् संख्यात भागाधिक वृद्धि वाला योगस्थान होता है, क्वचित् संख्यात-गुणाधिक वृद्धि वाला योगस्थान होता है और क्वचित् असंख्यात गुणाधिक वीर्यव्यापार वाला योगस्थान होता है।

वृद्धि के अनुरूप हानियां भी चार तरह की हैं—विवक्षित किसी एक समय में जिस योगस्थान पर आत्मा है, उससे आगे के समय में क्वचित् असंख्यातभाग हीन वीर्यव्यापार वाले योगस्थान पर आत्मा जाती है। किसी समय संख्यातभागहीन योगस्थान पर, किसी समय संख्यातगुणहीन यानि विवक्षित योगस्थान की अपेक्षा संख्यात गुणहीन वीर्यव्यापर वाला जो योगस्थान है उस योगस्थान पर आत्मा जाती है और इसी प्रकार किसी समय असंख्यातगुणहीन योगस्थान पर आत्मा जाती है।

इस तरह वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की अल्पाधिकता की अपेक्षा से योगस्थान में हानि, वृद्धि होती रहती है।

अब इन असंख्यातभाग वृद्धि आदि चारों प्रकार की वृद्धि और असंख्यातभाग हानि आदि चारों प्रकार की हानि निरन्तर कितने समय पर्यन्त होती हैं, इसके काल प्रमाण का निरूपण करते हैं—

'आवलि...............गुणहाणी' अर्थात् असंख्यात भाग वृद्धि आदि प्रथम तीन प्रकार की वृद्धि और असंख्यात भाग हानि आदि प्रथम तीन प्रकार की हानि उत्कर्ष से आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल पर्यन्त निरन्तर हो सकती है और असंख्यातगुण वृद्धि एवं असंख्यात गुण हानि उत्कृष्ट से निरन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त हो सकती है। जिसका आशय यह है—

तथाप्रकार के वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर विवक्षित योगस्थान से यदि आत्मा असंख्यातभागवृद्ध अन्य-अन्य योगस्थान में प्रतिसमय जाये तो उत्कृष्ट से आवलिका के असंख्यातवें भाग समय पर्यन्त निरन्तर जाती है।

इसी प्रकार से प्रतिसमय पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर संख्यात भाग और संख्यात गुणे बढ़ते हुए योगस्थान पर आत्मा वृद्धि प्राप्त करे तो भी आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने समय पर्यन्त निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करती है। इसी तरह क्षयोपशम मंद, मदंतर और अधिक मंद होने पर प्रति समय विवक्षित योगस्थान से असंख्यातवें भाग घटते-घटते अन्य-अन्य योगस्थान में आत्मा जाये तो आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण समय पर्यन्त निरन्तर जाती है।

पूर्वोक्तानुसार पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में संख्यातभाग हीन और संख्यातगुणहीन योगस्थानों में निरन्तर जाये तो भी आवलिका के असंख्यातवें भाग पर्यन्त जाती है।

यह तो हुआ असंख्यातभागवृद्ध, संख्यातभागवृद्ध और संख्यातगुणवृद्ध तथा इन्हीं तीनों हानियों के समय का प्रमाण किन्तु

असंख्यातगुणवृद्ध एवं असंख्यातगुणहीन योगस्थान निरन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अनुक्रम से बढ़ता और घटता है ।

असंख्यातगुण वृद्धि आदि चार प्रकार की वृद्धियों एवं असंख्यात-गुणहानि आदि चार प्रकार की हानियों में से प्रत्येक का उत्कृष्ट से उपर्युक्त काल है, किन्तु जघन्य से प्रत्येक वृद्धि और हानि का काल एक समय प्रमाण है। अर्थात् चारों प्रकारों में से कोई भी वृद्धि एक समय प्रमाण होती है। तत्पश्चात् चाहे उसी योगस्थान में स्थिर हो अथवा अन्य वृद्धि वाले योगस्थान में जाये या हानि वाले योगस्थान में जाये। इसी तरह चार प्रकार की हानियों में की कोई भी हानि हो तो वह एक समय प्रमाण होती है। फिर चाहे उसी योगस्थान में स्थिर हो अथवा बढ़ते हुए योगस्थान में जाये या अन्य हानि वाले योगस्थान में जाये ।

इस प्रकार से वृद्धि प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये। अब वृद्धि या हानि के सिवाय किसी भी योगस्थान में जीव कितने काल तक स्थिर रह सकता है। इसको बतलाने के लिए काल प्ररूपणा एवं उनका काल मान वाले स्थानों के अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं ।

काल और योगस्थान-अल्पबहुत्व प्ररूपणा

जोगट्ठाणठिईओ चउसमयादट्ठ दोण्णि जा तत्तो ।
अट्ठगुभय ठिइयाओ जहा परम संख गुणियाणं ।।११।।

शब्दार्थ—**जोगट्ठाणठिईओ**—योगस्थानों में स्थिति, **चउसमयादट्ठ**—चार समय से आठ समय, **दोण्णि**—दो, **जा**—पर्यन्त, **तत्तो**—उसके पश्चात्, **अट्ठगुभय ठिइयाओ**—आठ समय वाले से दोनों ओर स्थित, **जहा**—यथाक्रम से, **परम संख गुणियाणं**—आगे-आगे के असंख्यात गुणे ।

गाथार्थ— योगस्थानों में चार से आठ समय पर्यन्त और दो समय पर्यन्त स्थिति होती है। आठ समय काल वाले से दोनों

ओर के योगस्थान अनुक्रम से असंख्यात गुणे हैं।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में किसी भी योगस्थान में उत्कृष्ट से जीव के अवस्थान की समय-मर्यादा और उत्तरार्ध में उन-उन प्रमाण वाले योगस्थानों के अल्पबहुत्व का निर्देश किया है।

पहले अवस्थान की समय मर्यादा का निरूपण करते हैं—किसी भी योगस्थान में जीव के अवस्थान की स्थिति को इस प्रकार बतलाया है कि योगस्थानों में जीव चार समय से लेकर समय-समय बढ़ते हुए आठ समय पर्यन्त और तत्पश्चात् समय-समय घटते-घटते दो समय पर्यन्त स्थिर होता है। अर्थात् उस योगस्थान में उत्कृष्ट से चार से लेकर आठ समय तक वृद्धि की अपेक्षा और हानि की अपेक्षा आठ से लेकर दो समय तक स्थित रह सकता है। जिसका विशद स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पहले से लेकर असंख्यात योगस्थान जो कि अपर्याप्तावस्था (करण-अपर्याप्त अवस्था) में होते हैं, उनके किसी भी एक योगस्थान पर आत्मा जघन्य या उत्कृष्ट से एक समय ही स्थिर रह सकती है। इसका कारण यह है कि अपर्याप्त अवस्था में पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में अवश्य असंख्यातगुण बढ़ते हुए योगस्थान में जाता है। इसीलिये पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया के योग्य जघन्य योगस्थान से प्रारम्भ करते हैं। वह इस प्रकार—

अल्पातिअल्प वीर्यव्यापार वाले पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान से लेकर सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं उतने योगस्थानों में के किसी भी योगस्थान में आत्मा अधिक-से-अधिक चार समय पर्यन्त, उसके बाद के सूचि श्रेणी के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानों में के किसी भी योगस्थान में आत्मा पांच समय, उसके बाद के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भागगत आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानों में छह समय तक, उसके बाद के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें

भाग के आकाशप्रदेश प्रमाण योगस्थानों में सात समय तक और उसके बाद के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग के आकाशप्रदेश प्रमाण योगस्थानों में आठ समय पर्यन्त अवस्थित रह सकती है।

उसके बाद के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानों में के किसी भी योगस्थान पर सात समय तक, उसके बाद के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग के आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानों में के किसी भी योगस्थान पर छह समय तक, उसके बाद के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग के आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानों में के किसी भी योगस्थान पर पांच समय तक, उसके बाद के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग के आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानों में के किसी भी योगस्थान पर चार समय तक, उसके बाद के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग के आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानों में के किसी भी योगस्थान पर तीन समय तक और उसके बाद के उत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त के सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में जितने प्रदेश होते हैं उतने योगस्थानों में के किसी भी एक योगस्थान में आत्मा अधिक से अधिक दो समय अवस्थित रह सकती है।

इस प्रकार जिसका जितना काल कहा है उतने काल वहाँ रह-कर उसके बाद अन्य-अन्य योगस्थान में जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये तथा किसी भी योगस्थान में अवस्थित रहने का जघन्य काल एक समय का है।

इस प्रकार उन योगस्थानों में जीव के अवस्थान का काल जानना चाहिये। अब उन चार आदि समयों के काल मान वाले योगस्थानों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

जिन योगस्थानों में के किसी भी योगस्थान में आत्मा आठ समय तक अवस्थित रहती है वे अल्प हैं। इसका कारण यह है कि सुदीर्घ-कालवर्ती योगस्थान जीव स्वभाव से अल्प ही होते हैं। उन आठ समय काल वाले योगस्थानों की अपेक्षा उभय पार्श्ववर्ती यानि आठ

समय कालमान के पूर्व और उत्तरवर्ती सात समय काल मान वाले दोनों प्रत्येक असंख्यात—असंख्यात गुणे हैं, किन्तु स्वस्थान में परस्पर दोनों तुल्य हैं। इनकी अपेक्षा दोनों बाजुओं के छह समय काल मान वाले योगस्थान असंख्यातगुणे हैं और स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं। इनकी अपेक्षा उभय पार्श्ववर्ती पांच समय काल मान वाले योगस्थान असंख्यातगुणे हैं और स्वस्थान में तुल्य हैं। उनकी अपेक्षा दोनों बाजुओं के चार समय काल मान वाले असंख्यातगुणे हैं और स्वस्थान में तुल्य हैं। उनकी अपेक्षा तीन समय काल मान वाले योगस्थान असंख्यात गुणे हैं और उनसे दो समय काल मान वाले असंख्यात गुणे हैं।

इस प्रकार से योगस्थानों की अल्प-बहुत्वप्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये,[1] अब उन योगस्थानों में वर्तमान सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवों के जघन्य और उत्कृष्ट योग के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा करते हैं।

जीवस्थानों में योग की अल्प-बहुत्व प्ररूपणा

सुहुमेयराइयाणं जहन्नउक्कोस पज्जपज्जाणं।
आसज्ज असंखगुणाणि होंति इह जोगठाणाणि ॥१२॥

शब्दार्थ—**सुहुमेयराइयाणं**—सूक्ष्म और इतर (बादर) आदि के, **जहन्नउक्कोस**—जघन्य और उत्कृष्ट, **पज्जपज्जाणं**—पर्याप्तकों और अपर्याप्तकों के, **आसज्ज**—अपेक्षा, **असंखगुणाणि**—असंख्यातगुणे, **होंति**—होते हैं, **इह**—यहाँ, **जोगठाणाणि**—योगस्थान।

गाथार्थ—सूक्ष्म, बादर, अपर्याप्त और पर्याप्त एकेन्द्रियादि के जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थान अनुक्रम से पूर्व की अपेक्षा असंख्यातगुणे होते हैं।

---

१. सुगमता से समझने के लिये डमरूक की आकृति द्वारा इसका स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

विशेषार्थ—यहाँ समस्त संसारी जीवों के जघन्य-उत्कृष्ट योग-स्थानों का अनुक्रम से अल्प-बहुत्व बतलाया है कि किसकी अपेक्षा किस जीव के योगस्थान अल्प हैं या अधिक हैं। जिसकी प्ररूपणा इस प्रकार है—

इस संसार में सूक्ष्म और बादर तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक एकेन्द्रियादि जीवों के जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थान पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्यातगुण-असंख्यातगुण होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म साधारण एकेन्द्रिय जीव का जघन्य योग सबसे अल्प होता है। उससे—

२. भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

३. भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उसमें—

४. भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

५. भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

६. भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

७. भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।

इस प्रकार से भव के प्रथम समय में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त के सात जीव-भेदों के जघन्य योग का पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर क्रमशः असंख्यात गुणित रूप में अल्प-बहुत्व बतलाने के पश्चात अब यथाक्रम से शेष जीव-भेदों के योग का अल्प-बहुत्व बतलाते हैं—

८. (लब्धि-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के जघन्य योग से) लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

९. लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१०. पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

११. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१२. पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१३. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१४. लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१५. लब्धि-अपर्याप्त त्रीन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१६. लब्धि-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१७. लब्धि-अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१८. लब्धि-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

१९. पर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२०. पर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२१. पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२२. पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२३. पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२४. पर्याप्त द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२५. पर्याप्त त्रीन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२६. पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२७. पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

इस प्रकार लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव से लेकर पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों के जघन्य और उत्कृष्ट योग का अल्प-बहुत्व जानना चाहिये। किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव, देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक के भेद से चार प्रकार के हैं। इनके उत्कृष्ट योग के अल्प-बहुत्व का निर्देश इस प्रकार जानना चाहिये—

२८. पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

२९. ग्रैवेयक देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

३०. भोगभूमिज-अकर्मभूमिज तिर्यंच तथा मनुष्यों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

३१. आहारक शरीरी मनुष्य का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे—

३२. शेष देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यों का योग असंख्यात गुणा है।

इस प्रकार से योग संबंधी समस्त संसारी जीवों के योग का अल्प-बहुत्व जानना चाहिये। यहाँ असंख्यात गुण में ग्रहण की गई गुणक

संख्या सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भागगत प्रदेश राशि प्रमाण तथा सर्वत्र पर्याप्त का अर्थ करणपर्याप्त जानना चाहिये ।[1]

इस प्रकार से योग संबंधी समस्त प्ररूपणाओं का विस्तार से वर्णन करने के अनन्तर अब संसारी जीवों के द्वारा इस योगशक्ति से होने वाले कार्य का वर्णन करते हैं।

जीवों द्वारा योग से होने वाला कार्य

जोगणुरूवं जीवा परिणामंतीह गिण्हिउं दलियं ।
भासाणुप्पाणमणोचियं च अवलंबए दव्वं ।।१३।।

शब्दार्थ—**जोगणुरूवं**—योग के अनुरूप, **जीवा**—जीव, **परिणामंतीह**—परिणमित करते हैं, **गिण्हिउं**—ग्रहण करके, **दलियं**—दलिक को, **भासाणुप्पाणमणोचियं**—भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन, **च**—और, **अवलंबए**—अवलंबन लेते हैं, **दव्वं**—(पुद्गल) द्रव्य का।

गाथार्थ—योग के अनुरूप जीव दलिकों औदारिकादि पुद्गलों को ग्रहण करके औदारिक आदि शरीर रूप में परिणमित करते हैं और भाषा, श्वासोच्छ्वास एवं मन के योग्य पुद्गलों का अवलंबन लेते हैं।

विशेषार्थ—संसारी जीवों में विद्यमान जिस योगशक्ति का पूर्व में विस्तार से वर्णन किया गया है, उस योगशक्ति के द्वारा जीव द्वारा होने वाले कार्य का इस गाथा में निर्देश किया है—

जोगणुरूवं जीवा............गिण्हिउं दलियं ।'

अर्थात् इस संसार में जीव योग के अनुरूप यानि जघन्य योग में वर्तमान जीव अल्प पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करते हैं, मध्यम योग में वर्तमान मध्यम और उत्कृष्ट योग में वर्तमान उत्कृष्ट—अधिक

---

१ जीव-भेदों विषयक योगस्थान के अल्प-बहुत्व का दर्शक प्रारूप परिशिष्ट में देखिए।

पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार लोक में विद्यमान पहले औदारिकादि शरीर योग्य वर्गणाओं में से योग का अनुसरण करके पहले पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करते हैं, उसके पश्चात् उन्हें औदारिकादि शरीर रूप में परिणमित करते हैं।

इसके साथ ही भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोयोग्य वर्गणाओं में से पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करते हैं फिर उन्हें भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन रूप में परिणमित करते हैं तथा परिणमित करके उन पुद्गलों के विसर्ग—छोड़ने में कारणभूत सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये उन्हीं पुद्गलों का अवलंबन लेते हैं—सहायता लेते हैं। तत्पश्चात् उन पुद्गलों के अवलंबन से उत्पन्न वीर्य-सामर्थ्यविशेष के द्वारा उनको छोड़ देते हैं, ऐसा किये बिना उनको छोड़ देना सम्भव नहीं है। जैसे बिल्ली ऊंची छलांग लगाने के लिये पहले अपने शरीर को संकुचित करने के माध्यम से अवलंबन लेती है और उसके बाद उस संकोच के द्वारा प्राप्त बल से ऊंची छलांग लगा सकती है। इसके सिवाय अन्यथा कूद नहीं सकती है—छलांग नहीं लगा सकती है। अथवा किसी व्यक्ति को लम्बा कूदना हो तब वह पहले कुछ पीछे हटता है और उसके पश्चात् ही छलांग लगा सकता है। ऐसा किये बिना यथोचित छलांग नहीं लगा सकता है। इसी प्रकार भाषादि वर्गणाओं को छोड़ने के लिये उन्हीं पुद्गलों का अवलंबन लेते हैं और फिर उनके अवलंबन से उत्पन्न हुए वीर्य के द्वारा उन पुद्गलों को छोड़ सकते हैं। इसका कारण यह है कि संसारी जीवों का वीर्य पुद्गलों के निमित्त से उत्पन्न होता है, प्रवर्तित होता है।

उपर्युक्त प्रसंग में यह जानना चाहिये कि संसारी जीव का योग द्वारा औदारिकादि शरीरों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन का जो संकेत किया है, उसमें तो तत्तत् बंधननामकर्म कारण है जिससे संसारी जीव उन औदारिक आदि शरीरों के पुद्गलों को अपने साथ संयुक्त कर लेता है, किन्तु भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोवर्गणाओं

का ग्रहण और उस-उस रूप में परिणमित कर उन्हें छोड़ देने का कारण यह है कि जीव के साथ संबंध होने में हेतुभूत उनके नाम वाला कोई बंधननामकर्म नहीं है। जिससे भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन के योग्य वर्गणाओं का पूर्व के समय में ग्रहण और उसके बाद के समय में छोड़ना, इस प्रकार से ग्रहण और छोड़ने का क्रम चलता रहता है।

संसारी जीवों द्वारा योग से होने वाला कार्य जब योगानुरूप पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण, परिणमन करना और अवलंबन लेना है तब यह जिज्ञासा होती है कि कौन से पुद्गल तो ग्रहणयोग्य हैं और कौन से पुद्गल ग्रहणयोग्य नहीं हैं। इसलिये अब ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य पौद्गलिक वर्गणाओं का निरूपण करते हैं।

पौद्गलिक वर्गणाओं का निरूपण

एगपएसाइ अणंतजाओ होऊण होंति उरलस्स।
अज्जोगंतरियाओ उ वग्गणाओ अणंताओ ॥१४॥
ओरालविउव्वाहार तेयभासाणुपाणमणकम्मे।
अह दव्व वग्गणाणं कमो विवज्जासओ खित्ते ॥१५॥

शब्दार्थ—**एगपएसाई**—एक प्रदेश से लेकर, **अणंतजाओ**—अनन्त परमाणुओं से निष्पन्न, **होऊण**—हुई, **होंति**—होती हैं, **उरलस्स**—औदारिक शरीरयोग्य, **अज्जोगंतरियाओ**—अग्रहणयोग्य से अंतरित, **उ**—और, **वग्गणाओ**—वर्गणायें, **अणंताओ**—अनन्त।

ओराल—औदारिक, **विउव्वाहार**—वैक्रिय, आहारक, **तेय**—तैजस्, **भासाणुपाणं**—भाषा, श्वासोच्छ्वास, **मण**—मन, **कम्मे**—कार्मण, **अह**—अब **दव्व**—द्रव्य की अपेक्षा, **वग्गणाणं**—वर्गणाओं का, **कमो**—क्रम, **विवज्जासओ**—विपरीत, **खित्ते**—क्षेत्रापेक्षा।

गाथार्थ—एक प्रदेश से लेकर अनन्त परमाणुओं से निष्पन्न हुई वर्गणाओं का अतिक्रमण करके औदारिक शरीर ग्रहण-

प्रायोग्य वर्गणा होती हैं। तत्पश्चात् अग्रहणप्रायोग्य जिनके बीच में रही हुई है ऐसी अनन्त वर्गणाएँ होती हैं।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस्, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण विषयक आठ ग्रहण प्रायोग्य वर्गणायें हैं। इन वर्गणाओं के द्रव्य की अपेक्षा उत्तरोत्तर परमाणु अधिक होते हैं और क्षेत्र की अपेक्षा विपरीत क्रम है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में जीव द्वारा ग्रहण योग्य वर्गणाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है कि जीव द्वारा कितने परमाणुओं वाली वर्गणायें ग्रहण की जाती हैं। इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—

'एगपएसाइ अणंतजाओ होऊण होंति उरलस्स' अर्थात् एक परमाणु से लेकर यावत् अनन्त परमाणुओं से निष्पन्न वर्गणाओं का अतिक्रमण करने के अनन्तर प्राप्त होने वाली वर्गणायें औदारिक शरीर के योग्य होती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक परमाणु रूप वर्गणा, दो परमाणुओं की बनी हुई वर्गणा, तीन परमाणुओं की बनी हुई वर्गणा, इस प्रकार क्रम से बढ़ते हुए संख्यात परमाणु की बनी वर्गणायें, असंख्यात और अनन्त परमाणु की बनी हुई वर्गणायें जीव के ग्रहणयोग्य नहीं हैं, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाओं में से कितनी ही ग्रहणयोग्य हैं, और कितनी ही ग्रहणयोग्य नहीं हैं।

इन वर्गणाओं में जो परमाणु रूप वर्गणा हैं उसे परमाणु वर्गणा कहते हैं। यानि इस जगत में जितने अलग-अलग परमाणु हैं, वे प्रत्येक वर्गणा रूप हैं। यद्यपि कम-से-कम दो और अधिक से अधिक अनन्तानन्त परमाणुओं के पिंड को वर्गणा कहा जाता है। किन्तु इन अलग-अलग परमाणुओं में भी प्रत्येक परमाणु अनन्त पर्याय युक्त हैं तथा उन परमाणुओं में पिंड रूप में परिणत होने की योग्यता—शक्ति है, जिससे उन प्रत्येक अलग-अलग परमाणुओं में भी वर्गणा शब्द का

व्यवहार किया जाता है। ये परमाणु रूप वर्गणायें अनन्त हैं और संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

दो परमाणुओं के समुदाय रूप द्विपरमाणुस्कन्ध वर्गणा कहलाती हैं। वे भी अनन्त हैं और संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं। तीन परमाणु का पिंड रूप त्रिपरमाणु स्कन्ध वर्गणा कहलाती हैं। इसी प्रकार चतुः-परमाणुस्कन्ध वर्गणा का स्वरूप जानना चाहिये। इस तरह एक-एक बढ़ते हुए संख्यात परमाणु की बनी हुई संख्यात परमाणुस्कन्ध वर्गणा, असंख्यात परमाणु की समुदाय रूप असंख्यात परमाणुस्कन्ध वर्गणा और अनन्त परमाणुओं की पिंड रूप एक-एक बढ़ते हुए परमाणुओं की अनन्त वर्गणायें होती हैं।

ये सभी प्रत्येक वर्गणायें स्वजाति की अपेक्षा अनन्त हैं और संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

मूल से लेकर अर्थात् परमाणुवर्गणा से लेकर इन सभी वर्गणाओं में परमाणु अल्प होने से उनका स्थूल परिणमन होता है, जिससे वे जीव के ग्रहण योग्य नहीं होती हैं तथा अनन्तानन्त परमाणु की समुदाय रूप अनन्तानन्त परमाणुओं से बनी हुई भी वर्गणायें ग्रहण योग्य नहीं होती हैं। किन्तु जिन वर्गणाओं में अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणु होते हैं, वे वर्गणायें जीव द्वारा ग्रहण योग्य होती हैं।

जीव द्वारा ग्रहणप्रायोग्य वर्गणायें इस प्रकार हैं—

१. औदारिकशरीर वर्गणा, २. वैक्रियशरीर वर्गणा, ३. आहारक-शरीर वर्गणा, ४. तैजस्शरीर वर्गणा, ५. भाषावर्गणा, ६. श्वासो-च्छ्वासवर्गणा, ७. मनोवर्गणा और ८. कार्मणवर्गणा।

औदारिकशरीर वर्गणा

जीव ग्रहणप्रायोग्य पूर्वोक्त आठ वर्गणाओं में पहली वर्गणा का नाम औदारिकशरीर वर्गणा है। जीवग्राह्य वर्गणाओं के क्रम में

इसका प्रथम स्थान होने का कारण यह है कि यद्यपि सभी जीवग्राह्य वर्गणाओं में अभव्यों से अनन्त गुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणु होते हैं, वे जीव द्वारा ग्रहण योग्य बनती हैं। अतः इस औदारिक शरीर वर्गणा में भी इतनी संख्या प्रमाण परमाणु हैं लेकिन आगे की वैक्रिय शरीरवर्गणा आदि वर्गणाओं की अपेक्षा इसमें परमाणु अल्प हैं।

यही स्थिति वैक्रियशरीरवर्गणा आदि के क्रम के लिये भी समझना चाहिये कि उत्तर-उत्तर की वर्गणा की अपेक्षा पूर्व-पूर्व की वर्गणा में परमाणु अल्प हैं।

उक्त कथन से यह आशय फलित हुआ कि जिन वर्गणाओं में अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग परमाणु हों, वैसे पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करके जीव औदारिक शरीर रूप में परिणत करता है और यह जघन्य वर्गणा है। अर्थात् औदारिकशरीरप्रायोग्य जघन्य वर्गणा है और उसमें भी अभव्यों से अनन्त गुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणु होते हैं। उसकी अपेक्षा एक अधिक परमाणु वाली दूसरी ग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है, दो अधिक परमाणु वाली तीसरी ग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। इस तरह एक-एक परमाणु को बढ़ाते हुए वहाँ तक कहना चाहिये जब औदारिकशरीरयोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा हो।

जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा में परमाणु विशेषाधिक हैं और उनकी अधिकता इस प्रकार जाननी चाहिये कि स्वयोग्य जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु होते हैं, उसकी अपेक्षा उसी के अनन्तवें भाग प्रमाण अधिक परमाणु उसकी उत्कृष्ट वर्गणा में होते हैं।

ग्रहणयोग्य वर्गणा में सर्वत्र इसी प्रकार समझना चाहिये।

उत्तरोत्तर बढ़ते हुए परमाणु वाली औदारिकशरीर योग्य वर्गणायें जघन्य स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं उनके अनन्तवें भाग प्रमाण होती हैं और समान परमाणु वाली स्वजातीय अनन्त होती हैं

और यह अनन्तवां भाग क्रमशः बड़ा होता जाता है। क्योंकि पूर्व-पूर्व ग्रहणप्रायोग्य वर्गणायें अनन्त गुण परमाणु वाली होती हैं।

औदारिक शरीर ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक अधिक परमाणु जिन स्कन्धों में हों वैसे स्कन्ध औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य नहीं होते हैं, वैसे स्कन्धों को ग्रहण करके उनको औदारिक शरीर रूप में परिणमित नहीं करता है। यह जघन्य अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा है, दो अधिक परमाणु वाली दूसरी अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा है, तीन अधिक परमाणु वाली तीसरी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा है। इस प्रकार एक-एक अधिक परमाणु वाली वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये जब उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा अनन्त गुण है। अर्थात् जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु हैं उनको अभव्यों से अनन्त गुणा जो अनन्त है उस अनन्त से गुणा करें और उसका जितना गुणनफल हो उतने परमाणु उत्कृष्ट अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा में होते हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओं के लिये भी समझना चाहिये कि अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओं में अपनी-अपनी जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु हों उनको अभव्य से अनन्त गुणे अनन्त से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतने परमाणु उसकी उत्कृष्ट अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा में होते हैं।

इन सभी वर्गणाओं को औदारिक शरीर के अग्रहण प्रायोग्य इस-लिये माना जाता है कि ये सभी वर्गणायें औदारिक शरीर रूप में परिणमित नहीं हो सकती हैं। क्योंकि अधिक परमाणु वाली होने से उनका परिणमन सूक्ष्म होता है और वैसे सूक्ष्म परिणाम वाली वर्गणायें औदारिक शरीर रूप में परिणमित नहीं होती हैं एवं इसी तरह वैक्रियशरीर रूप में भी परिणमित नहीं हो पाती हैं, क्योंकि उसकी अपेक्षा अल्प परमाणु वाली होने से उनका परिणमन स्थूल होता है और वैसे स्थूल परिणाम वाली वर्गणायें वैक्रियशरीर रूप में

परिणमित नहीं हो सकती हैं। जिससे वे वैक्रिय के प्रति भी अग्रहण-प्रायोग्य हैं।

यही हेतु आगे भी अन्य अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओं की अग्रहणता के लिये जानना चाहिये।

वैक्रियशरीर वर्गणा

पूर्वोक्त अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक अधिक परमाणु वाली वर्गणा वैक्रियशरीर योग्य जघन्य ग्रहण वर्गणा है। वैसी वर्गणाओं को ग्रहण करके जीव वैक्रियशरीर रूप में परिणमित करता है। दो अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप दूसरी वैक्रियशरीर की ग्रहण योग्य वर्गणा होती है। इस तरह एक-एक अधिक परमाणु वाली वैक्रियशरीर विषयक ग्रहण योग्य वर्गणा वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् उत्कृष्ट वर्गणा होती है और यह उत्कृष्ट वर्गणा जघन्य वर्गणा से विशेषाधिक परमाणु वाली है। अर्थात् जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु हैं उनका अनन्तवां भाग उत्कृष्ट वर्गणा में अधिक है।

वैक्रियशरीरप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी अग्रहणयोग्य वर्गणा है। इसी तरह एक-एक अधिक परमाणु वाली वर्गणा वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा हो। जघन्य अग्रहण वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा में अनन्त गुण परमाणु होते हैं। यहाँ गुणक राशि अभव्य से अनन्त गुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण समझना चाहिये।

आहारकशरीर वर्गणा

उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप आहारकशरीर योग्य जघन्य ग्रहणवर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी आहारकशरीर विषयक ग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक-अधिक परमाणु वाली वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये, जब आहारकशरीर ग्रहणप्रायोग्य

उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा में अनन्त भागाधिक परमाणु होते हैं।

उस आहारकशरीर ग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप अग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक-अधिक परमाणु वाली वर्गणा वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा में अनन्त गुणे परमाणु होते हैं।

तैजस्‌शरीर वर्गणा

उक्त उत्कृष्ट अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली तैजस्‌शरीरयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी तैजस्‌शरीरयोग्य ग्रहण वर्गणा होती है। इस तरह एक-एक अधिक परमाणु वाली तैजस्‌शरीर विषयक ग्रहणप्रायोग्य वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उसकी उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा में विशेषाधिक अनन्तवें भाग अधिक परमाणु होते हैं।

तैजस्‌शरीरग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप जघन्य अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक-अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा हो। जघन्य से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा में अनन्त गुण परमाणु होते हैं। अग्रहणप्रायोग्य सभी वर्गणाओं में गुणक राशि अभव्य से अनन्त गुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण समझना चाहिये।

भाषा वर्गणा

जीव जिन पुद्‌गलों को ग्रहण करके सत्यादि भाषा रूप में परिणमित करके और अवलंबन लेकर छोड़ता है, उसे भाषायोग्य वर्गणा कहते हैं।

पूर्वोक्त तैजस्शरीरअग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप जघन्य भाषा प्रायोग्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी भाषा योग्य ग्रहण वर्गणा है। इस तरह एक-एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप भाषा प्रायोग्य ग्रहण वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उसकी (भाषाप्रायोग्यग्रहणवर्गणा की) उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उसके अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणु उत्कृष्ट वर्गणा में अधिक होते हैं।

उत्कृष्ट भाषाप्रायोग्यग्रहणवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली अग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि जहाँ उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा में अनन्त गुणे परमाणु होते हैं।

श्वासोच्छ्वास वर्गणा

जीव जिन पुद्गलों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप में परिणमित करके उनका अवलंबन लेकर छोड़ देता है, वह श्वासोच्छ्वास (प्राणापान) वर्गणा है।

पूर्व अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप श्वासोच्छ्वासग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) योग्य ग्रहण वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अपने अनन्त भागाधिक परमाणु वाली होती है।

उस प्राणापानयोग्यग्रहण वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। इस तरह एक-

एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये कि उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा में अनन्त गुण परमाणु होते हैं।

मनोवर्गणा

जिन पुद्गलस्कन्धों को जीव ग्रहण करके सत्यादि मन रूप में परिणमित करके और उनका अवलंबन लेकर छोड़ता है, उसे मनः प्रायोग्यवर्गणा कहते हैं।

पूर्वोक्त अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक परमाणु जिसमें अधिक हो वह मनःप्रायोग्य जघन्य ग्रहण वर्गणा होती है। उससे दो अधिक परमाणु वाली दूसरी मनःप्रायोग्यग्रहणवर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये कि उत्कृष्ट मनःप्रायोग्यग्रहणवर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा के विशेषाधिक परमाणु होते हैं। उस मनोयोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप जघन्य अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु को बढ़ाते हुए वहाँ तक कहना कि अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा उत्कृष्ट वर्गणा में अनन्त गुणे परमाणु होते हैं।

कार्मण वर्गणा

जीव जिन वर्गणाओं को ग्रहण करके ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप में परिणत करते हैं उन्हें कार्मण वर्गणा कहते हैं।

पूर्वोक्त अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु जिस वर्गणा में अधिक हो वह कर्म-योग्य जघन्य ग्रहण वर्गणा होती है। इस जघन्य स्कन्ध से एक परमाणु जिस स्कन्ध में अधिक हो वह दूसरी कर्म प्रायोग्य ग्रहण वर्गणा है। इस प्रकार एक-एक परमाणु को अधिक करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि उत्कृष्ट कर्मप्रायोग्य ग्रहण

वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा में विशेषाधिक यानि अनन्तवें भाग अधिक अर्थात् जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु हों उनके अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणु उत्कृष्ट वर्गणा में अधिक होते हैं।

जीव द्वारा ग्रहण की जाने वाली वर्गणाओं में यह कार्मण वर्गणा अंतिम वर्गणा है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप में परिणमित करने के लिये जीव इन वर्गणाओं में से प्रति समय अनन्त-अनन्त वर्गणायें ग्रहण करता है।

इस प्रकार संसारी जीवों के ग्रहण योग्य औदारिक आदि कार्मण पर्यन्त आठ वर्गणायें हैं, जो अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओं से अन्तरित हैं। अर्थात् पहले अग्रहणयोग्य, तदनन्तर औदारिक ग्रहणयोग्य, तत्पश्चात् अग्रहणयोग्य फिर वैक्रियग्रहणयोग्य, इस प्रकार अग्रहण वर्गणा से अंतरित ग्रहण वर्गणायें हैं और उनमें अन्तिम कार्मण वर्गणा है। ऐसी अग्रहण और ग्रहण प्रायोग्य वर्गणायें अनन्त हैं—'अज्जोगंतरियाओ उ वग्गणाओ अणंताओ'।

वर्गणाओं के उपर्युक्त स्वरूप कथन से यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक प्रकार के परिमाण वाले स्कन्ध ही अमुक-अमुक शरीर रूप में परिणमित होते हैं और वह परिणमन कम-से-कम अमुक संख्या वाले और अधिक-से-अधिक अमुक संख्या वाले परमाणुओं से निर्मित स्कन्धों में ही होता है। कम से कम और अधिक से अधिक जिस संख्या वाले परमाणुओं से बने हुए स्कन्ध में वह परिणाम होता है, यदि उसकी जघन्य वर्गणा में से एक भी परमाणु घटे या उत्कृष्ट वर्गणा में एक भी परमाणु बढ़े तो उसका परिणाम बदल जाता है। ऐसा होने का कारण जीव एवं पुद्गलों का स्वभाव ही है। जितने-जितने परमाणु वाली वर्गणायें जिस-जिस शरीरादि के योग्य कही हैं, उतने-उतने परमाणु वाली वर्गणाओं को ग्रहण करके जीव उस-उस शरीरादि रूप में परिणमित कर सकता है।

इस तरह से जीव द्वारा अग्रहण एवं ग्रहण योग्य आठ-आठ वर्गणाओं का निरूपण करने के बाद अब इन प्रत्येक वर्गणा में परमाणुओं एवम् उनके अवगाह क्षेत्र के अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं—

जिस क्रम से ऊपर औदारिक आदि वर्गणाओं का निरूपण किया है उस क्रम से उन वर्गणाओं में उत्तरोत्तर पुद्‌गल परमाणु बढ़ते जाते हैं। जो इस प्रकार जानने चाहिये—

औदारिकशरीर वर्गणाओं में अन्य वर्गणाओं की अपेक्षा परमाणु अल्प हैं। उनसे वैक्रियवर्गणाओं में अनन्तगुणे परमाणु हैं। उनसे आहारकवर्गणाओं में परमाणु अनन्तगुणे हैं। उनकी अपेक्षा तैजस् शरीर योग्य वर्गणाओं में अनन्तगुणे परमाणु हैं। इसी प्रकार भाषा, श्वासोच्छ्‌वास, मन और कर्म योग्य वर्गणाओं में अनुक्रम से अनन्त-अनन्त गुण परमाणु होते हैं।

पूर्वोक्त कथन तो द्रव्यापेक्षा है किन्तु 'विवज्जासओखित्ते' अर्थात् क्षेत्र के विषय में विपरीत क्रम समझना चाहिये, और वह इस प्रकार कार्मण वर्गणा का अवगाहन क्षेत्र सबसे अल्प है। उसकी अपेक्षा मनःप्रायोग्य वर्गणा का अवगाहन क्षेत्र असंख्यात गुणा है यानि कर्मयोग्य एक वर्गणा जितने आकाशप्रदेश को अवगाहित करके रहती है, उससे असंख्यात गुणे आकाश प्रदेश को अवगाहित करके मनःप्रायोग्य एक वर्गणा रहती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। मनःप्रायोग्य वर्गणा से श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा का अवगाहन क्षेत्र असंख्यात गुणा है। उसकी अपेक्षा अनुक्रम से भाषा, तैजस्, आहारक, वैक्रिय और औदारिक वर्गणाओं का अवगाहन क्षेत्र असंख्यात-असंख्यात गुण अधिक-अधिक है।

उपर्युक्त द्रव्य परमाणुओं और अवगाहन क्षेत्र की अपेक्षा वर्गणाओं के अल्पबहुत्व कथन का सारांश यह है कि औदारिक वर्गणा से लेकर कार्मण वर्गणा पर्यन्त उत्तरोत्तर अनुक्रम से अनन्त गुणे-अनन्तगुणे अधिक-अधिक परमाणु हैं किन्तु अवगाहन क्षेत्र उत्तरोत्तर अनुक्रम से

से असंख्यातगुण हीन हीन है। जैसे कि औदारिकशरीर वर्गणा में जितने परमाणु हैं उससे अनन्तगुण अधिक परमाणु वैक्रियवर्गणा में हैं किन्तु औदारिक वर्गणा का जितना अवगाहन क्षेत्र है उससे असंख्यात गुण हीन क्षेत्र वैक्रिय वर्गणा का है। सारांश यह हुआ कि कार्मण वर्गणा में सबसे अधिक परमाणु हैं और अवगाहन क्षेत्र सबसे कम है। सरलता से समझने के लिए जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

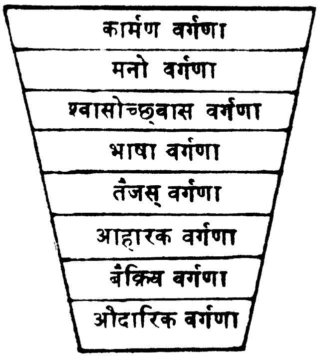

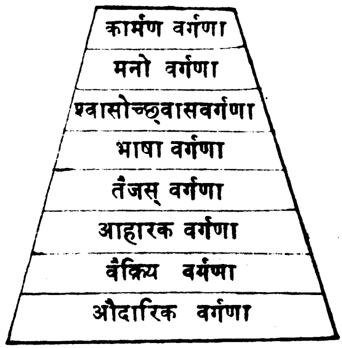

ऊपर जो अवगाहना क्षेत्र का संकेत किया है वह एक-एक वर्गणा की अपेक्षा जानना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो औदारिकादि सभी वर्गणायें औदारिकप्रायोग्य पहली वर्गणा, औदारिक योग्य दूसरी वर्गणा इस प्रकार प्रत्येक वर्गणाएँ अनन्तानन्त हैं और संपूर्ण लोकव्यापी होकर रही हुई हैं और संपूर्ण लोकव्यापी होने से सम्पूर्ण लोक प्रमाण अवगाहना क्षेत्र हो जाता है, किन्तु अवगाहना का क्षेत्र तो अंगुल के असंख्यातवें भाग कहा है, अतः उसी से एक-एक स्कन्ध वर्गणा का अवगाहना क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग का समझना चाहिये। किन्तु स्वजातीय अनन्त स्कन्धों का नहीं समझना चाहिये।

इस प्रकार से जीव द्वारा ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओं का निर्देश करने के पश्चात कार्मण वर्गणा के बाद शेष रही पौद्गलिक वर्गणाओं का निरूपण करते हैं—

कम्मोवरिं धुवेयर सुन्ना पत्तेय सुन्न बादरगा।
सुन्ना सुहुमे सुन्ना महखंधो सगुणनामाओ ॥१६॥

शब्दार्थ—**कम्मोवरिं**—कार्मण वर्गणा के पश्चात्, **धुवेयर सुन्ना**—ध्रुवाचित्त, अध्रुवाचित्त, शून्य, **पत्तेय**—प्रत्येक शरीर, **सुन्न**—शून्य, **बादरगा**—बादर निगोद, **सुन्ना**—शून्य, **सुहुमे**—सूक्ष्म निगोद, **सुन्ना**—शून्य, **महखंधो**—महास्कन्ध, **सगुणनामाओ**—सार्थक नामावली।

गाथार्थ—कार्मण वर्गणा के पश्चात् यथाक्रम से ध्रुवाचित्त, अध्रुवाचित, शून्य, प्रत्येकशरीर, शून्य, बादरनिगोद, शून्य, सूक्ष्म-निगोद, शून्य और महास्कन्ध नामक वर्गणायें हैं। ये सभी वर्गणायें अपने-अपने सार्थक नाम वाली हैं।

विशेषार्थ—पुद्गल द्रव्य संपूर्ण लोक में है, तो उसकी मात्र पूर्व में बताई गई नाम वाली वर्गणायें है, या और भी हैं ? तो इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये ग्रंथकार आचार्य कहते हैं—

'कम्मोवरिं' अर्थात् पूर्व में बताई गई कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के पश्चात भी अन्य वर्गणायें हैं। जिनके नाम और क्रम इस प्रकार है—

१. ध्रुवाचित्त द्रव्य वर्गणा, २. अध्रुवाचित्त द्रव्यवर्गणा, ३. शून्य वर्गणा, ४. प्रत्येकशरीरी वर्गणा, ५. ध्रुव शून्य वर्गणा ६. बादर-निगोद वर्गणा, ७. ध्रुव शून्य वर्गणा ८. सूक्ष्म निगोद वर्गणा ९. शून्य वर्गणा १०. महास्कन्ध वर्गणा।

ध्रुवाचित्त द्रव्य वर्गणा—कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक वाली वर्गणा का नाम ध्रुवाचित्त वर्गणा है। जो अपनी अन्य वर्गणाओं में जघन्य वर्गणा है। जिस वर्गणा में दो परमाणु अधिक हैं, वह दूसरी ध्रुवाचित्त वर्गणा, इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक-अधिक करते हुए उत्कृष्ट ध्रुवाचित्त वर्गणा पर्यन्त कहना चाहिये। ध्रुवाचित्त जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु हैं उनको

सर्वजीव से अनन्तगुणे अनन्त से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो उतने परमाणु ध्रुवाचित्त उत्कृष्ट वर्गणा में होते हैं।

इस वर्गणा को ध्रुव इसलिये कहते हैं कि जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त अनुक्रम से बढ़ते हुए एक-एक परमाणु वाली वर्गणायें लोक में अवश्य होती हैं, किसी भी समय इन वर्गणाओं से लोक विहीन नहीं होता है। कदाचित् इनमें की कोई एक वर्गणा नष्ट हो तो उसके स्थान पर अन्य वर्गणा उत्पन्न हो जाती है और इस वर्गणा के साथ विशेष रूप से अचित्त विशेषण इसलिये लगाया गया है कि जो वर्गणायें जीव के साथ जुड़ती हैं, वे वर्गणायें उपचार से सचित्त भी कहलाती हैं, जैसे कि औदारिकादि वर्गणायें। परन्तु ये वर्गणायें और इसके अनन्तर कही जाने वाली वर्गणायें कभी भी जीव के साथ संबंधित होने वाली नहीं हैं। जीव उनको किसी भी समय ग्रहण नहीं करता है। इसी बात को अचित्त विशेषण द्वारा स्पष्ट किया है।

अध्रुवाचित्त वर्गणा

ध्रुवाचित्त उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप अध्रुवाचित्त वर्गणा होती है। उससे एक-एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी आदि वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये कि जब इनकी उत्कृष्ट अध्रुवाचित्त वर्गणा हो जाये। जघन्य वर्गणा की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा अनन्त गुणी है। अर्थात् जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु हैं उनको सर्वजीवों से अनन्तगुणे अनन्त से गुणा करने पर प्राप्त परमाणु उत्कृष्ट वर्गणा में होते हैं।

इनको अध्रुवाचित्त वर्गणायें इसलिये कहते हैं कि जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त चढ़ते हुए परमाणु वाली ये सभी वर्गणायें लोक में हों ही ऐसा नियम नहीं है। कोई वर्गणा कदाचित् होती है और कोई कदाचित् नहीं भी होती है। इसी कारण इन वर्गणाओं को अध्रुवाचित्त अथवा सांतर-निरन्तर वर्गणा कहते हैं।

ध्रुवशून्य वर्गणा

अध्रुवाचित्त उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप प्रथम ध्रुवशून्यवर्गणा, दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा, इस प्रकार एक-एक अधिक करते हुए उत्कृष्ट वर्गणा पर्यन्त कहना चाहिये। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुण है। जघन्य वर्गणा की परमाणु संख्या को सर्वजीवों से अनन्त गुणे अनन्त से गुणा करने पर प्राप्त संख्या प्रमाण परमाणु उत्कृष्ट वर्गणा में होते हैं। यह पहली ध्रुवशून्य वर्गणा है।

इन वर्गणाओं को ध्रुवशून्य वर्गणा इसलिये कहते हैं कि जो वर्गणायें इस लोक में किसी भी समय होती नहीं किन्तु ऊपर की वर्गणाओं का बाहुल्य बताने के लिये ही एक अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप, दो अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप आदि इस प्रकार से निरूपण किया जाता है। अर्थात् जो वर्गणायें इस लोक में किसी समय होती ही नहीं। यानि अध्रुवाचित्त उत्कृष्ट वर्गणा से प्रत्येकशरीरी जघन्य वर्गणा तक में प्रवर्धमान परमाणु वाली कोई भी वर्गणायें किसी समय लोक में होती ही नहीं हैं। इसीलिये वह ध्रुवशून्यवर्गणा कहलाती हैं। इसी प्रकार से आगे कही जाने वाली अन्य ध्रुवशून्य वर्गणा के लिये भी समझना चाहिये।

प्रत्येकशरीरी वर्गणा

उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली पहली जघन्य प्रत्येकशरीरीवर्गणा, दो अधिक परमाणु वाली दूसरी प्रत्येक-शरीरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक परमाणु की वृद्धि करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि प्रत्येकशरीरी उत्कृष्ट वर्गणा हो जाये। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुण परमाणु वाली है। अर्थात् जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु हैं, उनको सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश हों उस असंख्यात से गुणा करने पर प्राप्त परमाणु प्रत्येकशरीरी उत्कृष्ट वर्गणा में होते हैं।

प्रत्येकशरीरी जघन्य वर्गणा से प्रत्येकशरीरी उत्कृष्ट वर्गणा में

परमाणुओं का प्रमाण बताने के लिये सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणा करने का कारण यह है कि—

कार्मण वर्गणाओं का ग्रहण योग के अनुसार होता है। जघन्य योग हो तब जघन्य कर्मप्रदेशसंचय और उत्कृष्ट योग होने पर उत्कृष्ट कर्मप्रदेशसंचय होता है। जघन्य योगस्थान से उत्कृष्ट योगस्थान सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणित अधिक प्राप्त होता है। इसीलिए कर्मवर्गणाओं का ग्रहण भी सूक्ष्मक्षेत्र-पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर जितना हो, उतना ही होता है। जघन्य योग में भी जीव अनन्त वर्गणाओं को ग्रहण करता है, उनको सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग के आकाश प्रदेशों से गुणा करने पर जितना प्रमाण हो उतनी वर्गणायें उत्कृष्ट योग से ग्रहण करता है। अर्थात् जघन्य योग होने पर कर्म वर्गणाओं का ग्रहण अल्प होने से जघन्य प्रत्येकशरीरी वर्गणायें प्राप्त होती हैं और उत्कृष्ट योग होने पर कर्मयोग्य वर्गणाओं का उत्कृष्ट प्रमाण में ग्रहण होने से उत्कृष्ट प्रत्येकशरीरीवर्गणा प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जघन्य योग हो, तब जघन्य प्रत्येकशरीरी वर्गणायें प्राप्त होती हैं और जैसे-जैसे योग बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अधिक-अधिक प्रत्येकशरीरी वर्गणायें प्राप्त होती जाती है और जब उत्कृष्ट योग होता है तब अधिक-से-अधिक चरम उत्कृष्ट परमाणु वाली वर्गणायें प्राप्त होती हैं। इस प्रकार योग के साथ संबंध होने से और योग जघन्य से उत्कृष्ट सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर जितना होता है उतना ही होने से प्रत्येकशरीरीवर्गणा में भी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणा करने का संकेत किया है।

प्रत्येकनामकर्म के उदय वाले जीवों के यथासंभव सत्ता में रहे हुए औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस् और कार्मण नामकर्म के पुद्गलों का अवलंबन लेकर सर्वजीवों से अनन्त गुण परमाणु वाली

जो वर्गणायें रही हुई हैं उनको प्रत्येकशरीरी वर्गणा कहते हैं। इन वर्गणाओं को जीव किसी कर्म के उदय से ग्रहण नहीं करता है, किन्तु विश्रसा परिणाम से ही औदारिक आदि पांच शरीर नामकर्म के पुद्गलों का अवलंबन लेकर रही हुई हैं। इस बात को शतक चूर्णि में भी कहा है—

पत्तेयवग्गणा इह पत्तेयाणं तु उरलमाइणं।
पंचण्हसरीराणं तणुकम्म पएसगा जेइ ॥१॥

तत्थेक्केक्क पएसे वीसस परिणाम उवचिया होंति।
सव्वजियणंतगुणा पत्तेया वग्गणा ताओ ॥२॥

प्रत्येकनामकर्म के उदय वाले जीवों के औदारिक आदि पांच शरीर नामकर्म के जो कर्माणु सत्ता में रहे हुए हैं, उनके एक-एक प्रदेश पर सर्व जीवों की अपेक्षा अनन्त गुण परमाणु वाली जो वर्गणायें विश्रसा परिणाम द्वारा उपचित हुई हैं—अवलंबन लेकर रही हुई हैं, वे प्रत्येकशरीरी वर्गणा कहलाती हैं।

ध्रुवशून्यवर्गणा

प्रत्येकशरीरी उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली द्वितीय जघन्य ध्रुवशून्यवर्गणा है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा है। इस प्रकार एक-एक परमाणु की वृद्धि करते हुए वहां तक कहना चाहिये कि यावत् उसकी उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुणी है। जघन्य वर्गणा की परमाणु संख्या को असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण प्रदेशों द्वारा गुणा करने पर प्राप्त संख्या जितने प्रदेश उत्कृष्ट वर्गणा में होते हैं। यह द्वितीय ध्रुवशून्यवर्गणा है और इस ध्रुवशून्यवर्गणा का अर्थ पूर्व में बताई गई पहली ध्रुवशून्यवर्गणानुरूप समझ लेना चाहिये।

बादरनिगोदवर्गणा

साधारणनामकर्म के उदय वाले बादर एकेन्द्रिय जीवों के सत्ता में रहे हुए औदारिक, तैजस और कार्मण नामकर्म के पुद्गल पर-

माणुओं को विश्रसापरिणाम द्वाराअवलंबन लेकर सर्वजीवों की अपेक्षा अनन्त गुण परमाणु वाली जो वर्गणायें रही हुई हैं, उनको बादर निगोद वर्गणा कहते हैं। यद्यपि पंचेन्द्रियों में से बंध कर गये हुए कितने ही बादर निगोदिया जीवों के कुछ समय पर्यन्त वैक्रिय और आहारक शरीर नामकर्म की भी सत्ता होती है, परन्तु वहाँ जाने के पश्चात् प्रथम समय से उनकी उद्‌वलना करने वाले होने से अत्यन्त असार हैं, जिससे उन दोनों शरीरों की विवक्षा नहीं की है।

पूर्वोक्त द्वितीय ध्रुवशून्यवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली जघन्य बादरनिगोदवर्गणा होती है, दो अधिक परमाणु वाली दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक करके वहाँ तक कहना चाहिये कि उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणा हो जाये। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यातगुण है। यहाँ भी गुणक राशि क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग के लेने के कारण को पूर्व में बताई प्रत्येकशरीरीवर्गणा के अनुरूप समझ लेना चाहिये।

ध्रुवशून्यवर्गणा

उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली तृतीय जघन्य ध्रुव शून्यवर्गणा है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी ध्रुवशून्य वर्गणा, इस प्रकार एक-एक अधिक परमाणु को बढ़ाते हुए वहां तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा हो। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुण है। जघन्य वर्गणा में जो संख्या है, उसे अंगुल मात्र क्षेत्र में जितने आकाश प्रदेश हैं, उनके आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय हैं उतने वर्गमूल करना और उनमें से अंतिम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश हों, उनसे गुणा करने पर जितने परमाणु हों उतने परमाणु उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा में होते हैं।

सूक्ष्मनिगोदवर्गणा

उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा से एक अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप

जघन्य सूक्ष्मनिगोदवर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप दूसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक परमाणु को बढ़ाते हुए उत्कृष्ट वर्गणा पर्यन्त कहना चाहिये। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुण है। अर्थात् जघन्य वर्गणा में जितने परमाणु होते हैं, उनको आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण समयों द्वारा गुणा करने पर जितने हों, उतने परमाणु उत्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणा में होते हैं।

इस वर्गणा का स्वरूप सामान्यतः बादर निगोदवर्गणा के अनुरूप समझना चाहिये और यहाँ जो जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा में गुणक संख्या आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण बताई है, उसका कारण यह है कि सूक्ष्म निगोद जीवों के जघन्य योगस्थान से उत्कृष्ट योगस्थान आवलिका के असंख्यातवें भाग के समयों द्वारा गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण जितने ही होते हैं। उनसे अधिक नहीं होते। कर्मप्रदेशों का ग्रहण योगाधीन है और उसके अधीन सूक्ष्म-निगोदवर्गणा है। इसलिये जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा में आवलिका के असंख्यातवें भाग के समयों से गुणा करने पर प्राप्त संख्या जितने ही परमाणु होते हैं।

ध्रुवशून्यवर्गणा

सूक्ष्मनिगोद वर्गणा से एक अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप चतुर्थ ध्रुवशून्यवर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक को बढ़ाते हुए वहां तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा हो। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुण है। जघन्य वर्गणा में रही परमाणु संख्या को प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्याती सूचि-श्रेणि के आकाश प्रदेशों द्वारा गुणा करने पर जो संख्या हो उतने परमाणु उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा में होते हैं और यह पहले बताया जा चुका है कि जो वर्गणायें इस जगत में किसी समय होती नहीं,

मात्र ऊपर की वर्गणाओं का बाहुल्य बताने के लिये ही जिनका निर्देश किया जाता है वे वर्गणायें ध्रुवशून्यवर्गणायें कहलाती हैं।

महास्कन्धवर्गणा

उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली जघन्य अचित्त महास्कन्धवर्गणा होती है, दो अधिक परमाणु वाली दूसरी महास्कन्ध वर्गणा। इस प्रकार एक-एक परमाणु की वृद्धि करते हुए उत्कृष्ट महास्कन्धवर्गणा पर्यन्त कहना चाहिये। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुणी है। जघन्य महास्कन्धवर्गणा में जितने परमाणु रहे हुए हैं, उनको पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समयों से गुणा करने पर जो संख्या हो उतने परमाणु उत्कृष्ट अचित्त महास्कन्धवर्गणा में होते हैं।

जो वर्गणायें विश्रसापरिणाम से टंक, शिखर और पर्वतादि बड़े-बड़े स्कन्धों का आश्रय लेकर रही हुई हैं, उन्हें महास्कन्धवर्गणा कहते हैं। ये महास्कन्ध वर्गणायें जब-जब त्रस जीवों की संख्या अधिक होती है तब अल्प-अल्प और जब त्रस जीवों की संख्या अल्प होती है तब अधिक होती हैं। इसका कारण वस्तुस्वभाव ही है। शतक चूर्णि में भी कहा है—विश्रसापरिणाम से टंक, कूट और पर्वतादि स्थानों का अवलंबन लेकर जो पुद्गल रहे हुए हैं वे महास्कन्ध वर्गणायें कहलाती हैं। जिस समय त्रसकाय राशि अधिक प्रमाण में होती है, उस समय महास्कन्ध वर्गणायें अधिक होती हैं।[1]

---

१. महखंधवग्गणा टंक कूड तह पव्वयाइठाणेसु।
जे पोग्गला समसिया महखंधा ते उ वुच्चंति ॥१॥
तत्थ तसकायरासी जम्मियकालम्मि होंति बहुगो य।
महखंधवग्गणाओ तम्मि य काले भवे थोवा ॥२॥
जंमि पुण होइ काले रासी तसकाइयाण थोवा उ।
महखंधवग्गणाओ तहिं काले होंति बहुगाओ ॥३॥

इस प्रकार परमाणुवर्गणा से लेकर महास्कन्धवर्गणा पर्यन्त समस्त पौद्‌गलिक वर्गणाओं का स्वरूप जानना चाहिये।

यद्यपि यहाँ योग द्वारा जिन वर्गणाओं का जीव द्वारा ग्रहण होता है उन्हीं का स्वरूप कहना चाहिये था लेकिन प्रासंगिक होने से समस्त संभव पौद्‌गलिक वर्गणाओं के स्वरूप का प्रतिपादन कर दिया गया है। ये सभी वर्गणायें सार्थक नाम वाली हैं—'सगुण-नामाओ।' जैसे कि एक-एक परमाणु रूप वर्गणा परमाणुवर्गणा है, दो परमाणु की पिंडरूप वर्गणा, द्विपरमाणुवर्गणा इत्यादि। अचित्त महा-स्कन्ध पर्यन्त की सभी वर्गणायें प्रदेशों की अपेक्षा अनुक्रम से बहु प्रदेशी है, लेकिन प्रत्येक वर्गणा अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाली हैं। कर्म प्रकृति में कहा है—प्रत्येक वर्गणा की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की है।[1]

इस प्रकार से वर्गणाओं का स्वरूप जानना चाहिये।[2] अब ग्रन्थकार आचार्य यह बताते हैं कि उन वर्गणाओं में कितने परमाणु होते हैं।

वर्गणान्तर्वर्ती परमाणु प्रमाण

सिद्धाणंतंसेणं अहव अभव्वेहणंतगुणिएहिं।
जुत्ता जहन्न जोग्गा ओरलाइणं भवे जेट्ठा ॥१७॥

शब्दार्थ—**सिद्धाणंतंसेणं**—सिद्धों के अनन्तवें भाग, **अहव**—अथवा, **अभव्वेहणंतगुणिएहिं**—अभव्यों से अनन्त गुणे परमाणुओं से, **जुत्ता**—युक्त, **जहन्नजोग्गा**—जघन्य ग्रहणयोग्य वर्गणा, **ओरलाइणं**—औदारिक आदि की, **भवे**—होती हैं, **जेट्ठा**—उत्कृष्ट।

गाथार्थ—सिद्धों के अनन्तवें भाग अथवा अभव्यों से अनन्तगुणे परमाणुओं से युक्त औदारिक आदि की जघन्य ग्रहणयोग्य

१ असंखभागंगुलवगाहो।

२ वर्गणाओं सम्बन्धी विवरण एवं सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

वर्गणा होती है और वही जघन्य वर्गणा अपने अनन्तवें भाग से युक्त होने पर उत्कृष्ट ग्रहण योग्यवर्गणा होती है।

विशेषार्थ—गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि जघन्य और उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीव जिन वर्गणाओं को ग्रहण करता है, उनकी जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणाओं में परमाणु कितने प्रमाण होते हैं।

जिन वर्गणाओं में सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण अथवा अभव्यों से अनन्तगुण परमाणु होते हैं वे वर्गणायें औदारिक आदि शरीर के ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणायें होती हैं और वही एक दो आदि परमाणुओं के अनुक्रम से बढ़ती हुई उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणा होती हैं, तथा जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा में अपने अनन्तवें भाग अधिक परमाणु होते हैं।

औदारिकप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहण वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और फिर एक दो आदि अनुक्रम से बढ़ते हुए परमाणु वाली चरम उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। अग्रहण जघन्य वर्गणा में के परमाणुओं को सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण संख्या द्वारा अथवा अभव्यों से अनन्त गुण संख्या द्वारा गुणा करने पर जितने परमाणु होते हैं उतने परमाणु उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा में जानना चाहिये।

उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली वैक्रियशरीर की ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है, वही एक दो आदि परमाणु के क्रम से बढ़ते हुए उत्कृष्ट वर्गणा होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा में अपने अनन्तवें भाग अधिक परमाणु होते हैं। उत्कृष्ट ग्रहण योग्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है। एक, दो, परमाणु आदि के क्रम से बढ़ते हुए उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा होती है। जघन्य से उत्कृष्ट में अनन्त गुणे परमाणु होते हैं। तत्पश्चात् एकाधिक परमाणु वाली आहारकशरीरयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। और फिर एक, दो आदि परमाणु के क्रम से बढ़ते हुए उत्कृष्ट ग्रहण वर्गणा होती है। जघन्य से उत्कृष्ट में अनन्तवें

भाग अधिक परमाणु होते हैं। तत्पश्चात् अग्रहण वर्गणा, फिर तैजस्प्रायोग्य ग्रहण वर्गणा, उस प्रकार अनुक्रम से भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण वर्गणा के विषय में भी जानना चाहिये।

इस प्रकार जीवप्रायोग्य ग्रहण वर्गणाओं के स्वरूप का विचार कहने के बाद वर्गणाओं के पौद्गलिक होने से अब उनके वर्णादि का निरूपण करते हैं।

वर्गणाओं के वर्णादि

पंचरस पंच वन्नेहिं परिणया अट्ठफास दो गंधा।
जावाहरग जोग्गा चउफासाविसेसिया उवरिं ॥१८॥

शब्दार्थ—**पंच**—पांच, **रस**—रस, **पंच**—पांच, **वन्नेहिं**—वर्णों से, **परिणया**—परिणत-युक्त, **अट्ठफासा**—आठ स्पर्श, **दो गंधा**—दो गंध, **जावाहरगजोग्गा**—आहारक प्रायोग्य तक, **चउफासा**—चार स्पर्श, **विसेसिया**—विशेषित युक्त, **उवरिं**—ऊपर की।

गाथार्थ—आहारकप्रायोग्य वर्गणा तक की वर्गणायें पांच रस, पांच वर्ण, आठ स्पर्श और दो गंध युक्त होती हैं और ऊपर की वर्गणायें चार स्पर्श युक्त हैं।

विशेषार्थ—वर्गणायें पौद्गलिक गुण युक्त होने पर भी उनमें संभव विशेषता का यहां उल्लेख किया है।

जावाहारग जोग्गा—अर्थात् औदारिकशरीर से लेकर आहारक शरीर योग्य वर्गणा पर्यन्त वर्गणायें पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श से युक्त हैं। अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर-प्रायोग्य ये तीन वर्गणायें पुद्गल द्रव्य गत पांच वर्ण आदि कुल बीस गुणों से युक्त हैं तथा ऊपर की तैजसादि शरीर योग्य शेष पांच वर्गणायें पांच वर्ण पाँच रस और दो गंध वाली तो हैं परन्तु स्पर्श के विषय में चार स्पर्श वाली जानना चाहिये। जिसका आशय यह है कि तैजसादि पांच वर्गणाओं में के प्रत्येक स्कन्ध में मृदु और लघु ये दो स्पर्श तो अवस्थित हैं और स्निग्ध-उष्ण, स्निग्ध-शीत, रूक्ष-उष्ण

और रूक्ष-शीत इनमें के कोई भी दो स्पर्श अनियत होने से कुल चार स्पर्श होते हैं। अर्थात् तैजसादि के प्रत्येक स्कन्ध में पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और उपर्युक्त चार स्पर्श 'चउफासा विसेसिया उवरिं' कुल सोलह गुण होते हैं।

यद्यपि एक परमाणु में पांच वर्ण में से कोई एक वर्ण, दो गंध में से कोई एक गंध, पांच रस में से कोई एक रस और स्निग्ध, उष्ण रूक्ष और शीत इन चार स्पर्शों में से अविरुद्ध दो स्पर्श होते हैं, परन्तु समुदाय में एक परमाणु कोई वर्णादि युक्त, दूसरा परमाणु कोई वर्णादि युक्त होने से स्कन्ध में पांचों वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श होना शक्य है।

परमाणु में अंतिम चार स्पर्शों में से अविरुद्ध दो स्पर्श कहने पर जिज्ञासु का प्रश्न है कि परमाणु के संयोग से स्कन्ध बनते हैं और जब परमाणु में अंतिम चार स्पर्शों में से अविरुद्ध दो स्पर्श होते हैं तो फिर औदारिकादि के स्कन्धों में आठ स्पर्श कैसे पाये जा सकते हैं? तो इसके उत्तर में यह समझना चाहिये कि तिरोभाव से तो प्रत्येक परमाणु में सभी स्पर्श रूप से परिणत होने की शक्ति रही हुई है जो अमुक संख्या वाले परमाणुओं के स्कन्ध में आविर्भूत होती है किन्तु उसकी अपेक्षा संख्या में वृद्धि होने पर तथास्वभाव से वह आविर्भूत नहीं होती है, इसीलिये आहारकशरीर तक की वर्गणायें ग्रहण की हैं कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीर प्रायोग्य वर्गणाओं में आठों स्पर्श एवं इनसे शेष रही वर्गणाओं में शीत उष्ण आदि अंतिम चार स्पर्श पाये जाते हैं। आठ स्पर्श वाली वर्गणायें गुरुलघु हैं अर्थात् उनके स्कन्धों में अमुक प्रमाण में वजन होता है और चार स्पर्श वाली वर्गणायें अगुरु-लघु कहलाती हैं। क्योंकि चाहे उनका कितना भी समूह एकत्रित हो जाये उनमें वजन नहीं होता है।

औदारिकशरीरप्रायोग्य वर्गणायें वैक्रियशरीरप्रायोग्य आदि

वर्गणाओं से प्रदेशगणना की अपेक्षा सबसे कम हैं। उनसे वैक्रिय-शरीरप्रायोग्य वर्गणायें अनन्त गुणी हैं। उनसे आहारकशरीरयोग्य वर्गणायें अनन्त गुणी हैं। इसी प्रकार तैजस आदि कर्मप्रायोग्य वर्गणायें उत्तरोत्तर अनन्त गुणी जानना चाहिये। क्योंकि ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणागत प्रदेश राशि से अनन्त गुण अग्रहण वर्गणायें अन्तराल में होने से उत्तरोत्तर की वर्गणाओं में क्रम से अनन्तगुणे प्रदेश कहे हैं। इस प्रकार से ग्रहण और अग्रहण प्रायोग्य वर्गणाओं का स्वरूप जानना चाहिये।

इन वर्गणाओं के वर्णन में कतिपय मतभेद भी है। जैसे कर्मप्रकृति चूर्णि में औदारिक एवं वैक्रिय के बीच में तथा वैक्रिय और आहारक वर्गणा के बीच में अग्रहण वर्गणायें नहीं मानी हैं, किन्तु विशेषावश्यक-भाष्य में मानी हैं और कार्मणवर्गणा के बाद यहां जिस रीति से वर्गणायें कही हैं, उससे विशेषावश्यकभाष्य में भिन्न रूप से वर्णन किया है। जिसका स्पष्टीकरण परिशिष्ट में किया गया है।

पुद्गलों का परस्पर संबंध स्नेहगुण से होता है, स्नेह के बिना संबंध नहीं हो सकता है, अतएव अब पुद्गलों के परस्पर संबंध में हेतुभूत स्नेह का विचार करते हैं। उस स्नेह का विचार तीन प्रकार से किया जाता है—

(१) स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा (२) नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा और (३) प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. स्नेह निमित्तक स्पर्धक की प्ररूपणा को स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहते हैं। अर्थात् स्नेह के निमित्त से होने वाले स्पर्धक का विचार जिस प्ररूपणा में किया जाता है वह स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहलाती है।

२. बंधननामकर्म जिसमें निमित्त है, ऐसे शरीर प्रदेश के स्पर्धक का विचार नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहलाती है। जिसका

आशय यह हुआ कि बंधननामकर्म के उदय से परस्पर बद्ध हुए शरीर-पुद्गलों के स्नेह का आश्रय लेकर जिसमें स्पर्धक का विचार किया गया हो वह नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा है और पांच शरीर रूप परिणमते पुद्गलों में स्निग्धपने की तरतमता बताना नाम-प्रत्ययप्ररूपणा कहलाती है।

३. योग रूप हेतु द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गलों के स्नेह का आश्रय करके स्पर्धक का जिसमें विचार किया जाये वह प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा है। अर्थात् प्रकृष्ट योग को प्रयोग कहते हैं। इस कारणभूत प्रकृष्ट योग के द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गलों के स्नेह का आश्रय लेकर जो स्पर्धक प्ररूपणा की जाती है उसे प्रयोगप्रत्यय-स्पर्धक प्ररूपणा कहते हैं और उत्कृष्ट योग से ग्रहण होने वाले पुद्गलों में स्निग्धता की तरतमता कहना प्रयोगप्रत्यय प्ररूपणा है।

उक्त तीन प्ररूपणाओं में से प्रथम स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का निर्देश करते हैं।

स्नेह प्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

अविभागाईनेहेणं जुत्तया ताव पोग्गला अत्थि।
सव्वजियाणंत गुणेण जाव नेहेण संजुत्ता ॥१९॥
जे एगनेह जुत्ता ते बहवो तेहिं वग्गणा पढमा।
जे दुगनेहाइजुया असंखभागूण ते कमसो ॥२०॥

शब्दार्थ—**अविभागाईनेहेणं**—अविभागादि स्नेह से, **जुत्तया**—युक्त, **ताव**—तब तक, **पोग्गला**—पुद्गल परमाणु, **अत्थि**—होते हैं, **सव्वजियाणंतगुणेण**—सर्व जीव राशि से अनन्त गुण से, **जाव**—यावत् तक, **स्नेहेण**—स्नेहाणु **संजुत्ता**—युक्त, सहित।

जे—जो, **एगनेह जुत्ता**—एक स्नेहाणु से युक्त हैं, **ते**—वे, **बहवो**—बहुत हैं, **तेहिं**—उनकी, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **जे**—जो,

दुगनेहाइजुया—दो स्नेह गुण युक्त हैं, **असंखभागूण**—असंख्यात-असंख्यात भाग न्यून, **ते**—वे, **कमसो**—क्रमशः ।

गाथार्थ—अविभाग स्नेह युक्त अर्थात् एक स्नेहाणु युक्त यावत् सर्व जीव राशि से अनन्त गुण स्नेहाणु से युक्त पुद्गल परमाणु होते हैं । उनमें जो एक स्नेहाणु युक्त परमाणु हैं, वे अधिक हैं और उनकी पहली वर्गणा होती है । तत्पश्चात् जो परमाणु दो, तीन आदि स्नेहाणु से युक्त हैं वे क्रमशः असंख्यात-असंख्यात भाग न्यून-न्यून हैं ।

विशेषार्थ—यह पूर्व में बताया जा चुका है कि वस्तु के विचार करने की दो शैलियां हैं—अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा । जिस शैली में पूर्व से ठीक अनन्तरवर्ती के क्रम से उत्तर (आगे) स्थित वस्तु आदि का विचार किया जाये उसे अनन्तरोपनिधा कहते हैं और परंपरोनिधा शैली वह है जिसमें अन्तरालवर्ती बहुतों का अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त, स्थिति वस्तु का विचार किया जाता है ।

इन दोनों शैलियों में से प्रथम अनन्तरोपनिधा से स्नेहप्रत्यय-स्पर्धक प्ररूपणा का विचार प्रारम्भ करते हैं—सर्वोत्कृष्ट स्नेह वाले परमाणु में रहे हुए स्नेह[1] का केवली के केवलज्ञान रूप शस्त्र से एक के दो अंश, खंड न हो सकें, इस प्रकार से अंश करने पर उस एक अंश को स्नेहाणु कहते हैं ।

इस लोक में कितने ही परमाणु एक स्नेहाणुयुक्त हैं, कितने ही दो स्नेहाणु युक्त हैं । इस प्रकार से बढ़ते हुए कितने ही परमाणु सर्व जीव राशि से अनन्त गुणे स्नेहाणुयुक्त होते हैं । उनमें से जो परमाणु एक स्नेह गुण वाले हैं, वे अधिक हैं—प्रभूत मात्रा में हैं—'जे एगनेहजुत्ता ते बहवो' और ऐसे परमाणुओं को पहली वर्गणा होती है—'तेहिं वग्गणा

---

१. यहाँ स्निग्धता के उपलक्षण से रूक्षता का भी ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि 'स्निग्ध रूक्षत्वाद्बंधा' (तत्त्वार्थ सूत्र ५/३२) स्निग्धता और रूक्षता दोनों मिलकर बंध के कारण होते हैं ।

पढमा'। दो स्नेहाणु वाले जो-जो परमाणु हों उनका जो समुदाय उसकी दूसरी वर्गणा, तीन स्नेहाणु वाले परमाणुओं के समूह की तीसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार के क्रम से बढ़ते हुए संख्यात स्नेहाणु वाले परमाणुओं की संख्यात वर्गणायें होती हैं। असंख्यात स्नेहाणु वाले परमाणुओं के समुदाय की असंख्यात वर्गणायें और अनन्त स्नेहाणु वाले परमाणुओं की बढ़ती हुई अनन्त वर्गणायें होती हैं।

इन वर्गणाओं में तथास्वभाव से अल्प-अल्प स्नेहाणु वाले परमाणु अधिक होते हैं और अधिक-अधिक स्नेह वाले परमाणु अल्प-अल्प होते जाते हैं। इसलिये पहली एक स्नेहाणु वाली वर्गणा में परमाणु अधिक हैं और जो परमाणु दो स्नेहाणु वाले हैं, वे एक स्नेहाणु वाले परमाणुओं की अपेक्षा असंख्यातवें भाग न्यून हैं। इसी क्रम से तीन, चार इत्यादि स्नेहाणु वाले परमाणुओं की वर्गणाओं में पूर्व-पूर्व वर्गणा से उत्तरोत्तर वर्गणा में परमाणु असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग न्यून-न्यून होते हैं—असंखभागूण ते कमसो।

इस प्रकार से उत्तरोत्तर असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग न्यून न्यून परमाणु वाली वे वर्गणायें कितनी होती हैं? ऐसा जिज्ञासु के पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

इय एरिस हाणीए जंति अणंता उ वग्गणा कमसो।
संखंसूणा तत्तो संखगुणूणा तओ कमसो ॥२१॥
तत्तो असंखगुणूणा अणंतगुणऊणियावि तत्तोवि।

शब्दार्थ—**इय**—इस तरह, **एरिसहाणीए**—इस प्रकार की हानि वाली, **जंति**—होती हैं, **अणंता**—अनन्त, **उ**—और, **वग्गणा**—वर्गणायें, **कमसो**—अनुक्रम से।

संखंसूणा—संख्यातवें भाग हीन, **तत्तो**—तत्पश्चात्, **संखगुणूणा**—संख्यातगुणहीन, **तओ**—उसके बाद, **कमसो**—क्रमशः, **तत्तो**—उसके अनन्तर,

असंखगुणूणा—असंख्यगुण हीन, **अणंतगुणऊणियावि**—अनन्तगुण न्यून भी, **तत्तोवि**—उससे भी।

गाथार्थ—इस तरह इस प्रकार की हानि वाली अनुक्रम से अनन्त वर्गणायें होती हैं।

तत्पश्चात् संख्यातभागहीन वर्गणायें हैं, इसके बाद अनुक्रम से संख्यातगुणहीन वर्गणायें हैं और फिर इसके पश्चात् अनुक्रम से असंख्यातगुणहीन और इसके अनन्तर अनुक्रम से अनन्तगुणहीन परमाणु वाली वर्गणायें होती हैं।

विशेषार्थ—असंख्यातवें भाग-असंख्यातवें भाग हीन परमाणुओं वाली वे वर्गणायें कितनी हैं और उसके बाद की वर्गणाओं में परमाणुओं की हानि का क्रम क्या है, एवं वे भी कितनी-कितनी हैं? इसका स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है—

'एरिसहाणीए'—इस प्रकार की हानि वाली अर्थात् पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर में असंख्यातवें भाग न्यून-न्यून परमाणु वाली वे वर्गणायें अनन्त होती हैं अर्थात् दूसरी वर्गणा से लेकर अनन्त वर्गणा पर्यन्त प्रत्येक वर्गणा में पूर्व-पूर्व वर्गणा की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की वर्गणा में असंख्यातवें भाग-असंख्यातवें भाग न्यून परमाणु होते हैं और वे वर्गणायें अनन्त हैं—'जंति अणंता उ वग्गणा कमसो'।

इस तरह असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग न्यून-न्यून परमाणु वाली अनन्त वर्गणायें होने के पश्चात् पूर्व-पूर्व वर्गणाओं की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्त वर्गणाओं में संख्यातभाग न्यून-न्यून परमाणु होते जाते हैं। यानि असंख्यातवें भाग न्यून परमाणु वाली अंतिम वर्गणा की अपेक्षा अनन्तरवर्ती उत्तर वर्गणा में संख्यातवें भाग न्यून परमाणु होते हैं। उसकी अपेक्षा उसके बाद की वर्गणा में संख्यातवें भाग न्यून परमाणु होते हैं—'संखंसूणातत्तो' और इस प्रकार से अनन्त वर्गणा पर्यन्त जानना चाहिये। अर्थात् संख्यातवें भाग न्यून परमाणु वाली वर्गणायें भी अनन्त होती हैं।

'संखगुणूणा तओ कमसो'—तत्पश्चात् संख्यातगुणहीन परमाणु वाली वर्गणायें होती हैं। अर्थात् संख्यातभागहीन परमाणु वाली अनन्त वर्गणायें हो चुकने के पश्चात् उसकी अंतिम वर्गणा की अपेक्षा अनन्तरवर्ती उत्तर वर्गणा में संख्यातगुणहीन परमाणु होते हैं। संख्यातगुणहीन यानि पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की वर्गणा में संख्यातगुणहीन-संख्यातगुणहीन परमाणु अनन्त वर्गणाओं पर्यन्त होते हैं।

'तत्तो असंखगुणूणा'—तत्पश्चात् अनन्ती वर्गणाओं में असंख्येय-गुणहीन परमाणु होते हैं। अर्थात् संख्यातगुणहीन परमाणु वाली अंतिम वर्गणा की अपेक्षा इसके बाद की अनन्तरवर्ती उत्तर वर्गणा में असंख्येयगुणहीन परमाणु होते हैं, उसके बाद की वर्गणा में असंख्येयगुणहीन परमाणु होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व वर्गणा की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की वर्गणा में असंख्येयगुणहीन परमाणु वाली अनन्त वर्गणायें जानना चाहिये।

इसके बाद की अनन्ती वर्गणाओं में अनन्तगुणहीन परमाणु होते हैं। अर्थात् असंख्येयगुणहीन परमाणु वाली अंतिम वर्गणा की अपेक्षा उसके बाद की वर्गणा में अनन्तगुणहीन परमाणु होते हैं। उसकी अपेक्षा भी उत्तरवर्ती वर्गणा में अनन्तगुणहीन परमाणु होते हैं। उसकी अपेक्षा भी उसके बाद की वर्गणा में अनन्तगुणहीन परमाणु होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व वर्गणा की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की वर्गणा में अनन्तगुणहीन परमाणु वहाँ तक जानना चाहिये कि अंतिम सर्वोत्कृष्ट स्नेहाणु वाली वर्गणा प्राप्त हो। ऐसी वर्गणायें अनन्त जानना चाहिये।

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की उक्त अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा के कथन का सारांश यह है कि अनुक्रम से स्थापित की हुई वर्गणाओं में पूर्व-वर्गणा के बाद की पर-वर्गणा में परमाणुओं के हीनाधिकपने को बताना। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

१. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की आदि की अनन्त वर्गणायें असंख्यात भागहीन।

२. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणायें संख्यातभाग हीन।

३. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणायें संख्यातगुणहीन।

४. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणायें असंख्यातगुणहीन।

५. स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तदनन्तर की अनन्तवर्गणायें अनन्तगुणहीन।

इस प्रकार से स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की अनन्त वर्गणायें—१. असंख्यातभागहीन-विभाग, २. संख्यातभागहीन-विभाग, ३. संख्यातगुणहीन-विभाग, ४. असंख्यातगुणहीन-विभाग, और ५. अनन्त गुणहीन-विभाग, इन पाँच विभागों में विभाजित हैं।

इस प्रकार से स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के संबंध में अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा का मंतव्य जानना चाहिये। अब परंपरोपनिधा प्ररूपणा द्वारा विचार करते हैं—

गंतुमसंखा लोगा अद्धद्धा पोग्गला भूय ॥२२॥

शब्दार्थ—गंतुमसंखा लोगा—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओं का उल्लंघन करने के बाद, **अद्धद्धा**—अर्ध-अर्ध, **पोग्गला**—पुद्गल परमाणु, **भूय**—पुनः फिर।

गाथार्थ—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओं का उल्लंघन करने के बाद प्राप्त होने वाली वर्गणा में अर्ध पुद्गल परमाणु होते हैं। इस प्रकार पुनः पुनः अर्ध-अर्ध जानना चाहिये।

विशेषार्थ—परंपरोपनिधा से वर्गणाओं में प्राप्त पुद्गल परमाणुओं का प्रमाण बतलाते हुए निर्देश किया है कि प्रथम वर्गणा में जितने परमाणु हैं उनकी अपेक्षा असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण वर्गणाओं का अतिक्रमण करने के पश्चात् प्राप्त होने वाली वर्गणा

में परमाणु आधे होते हैं। उसकी अपेक्षा पुनः असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओं का अतिक्रमण करने पर प्राप्त वर्गणा में परमाणु अर्ध होते हैं। परन्तु ये अर्ध-अर्ध परमाणु किस हानि तक प्राप्त होते हैं? इसको स्पष्ट करने के लिये आचार्य गाथा सूत्र कहते हैं—

पढमहाणीए एवं बीयाए संखवग्गणा गंतुं।
अद्धं उवरित्थाओ हाणीओ होंति जा जीए ॥२३॥

शब्दार्थ—**पढमहाणीए**—प्रथम हानि में, **एवं**—इसी प्रकार, **बीयाए**—दूसरी हानि में, **संखवग्गणा**—संख्याती वर्गणाओं के, **गंतुं**—जाने पर, **अद्धं**—अर्ध, **उवरित्थाओ**—ऊपर रही हुई वर्गणाओं में, **हाणीओ**—हानियां, **होंति**—होती हैं, **जा**—जो, **जीए**—जिसकी।

गाथार्थ—प्रथम हानि में इस प्रकार जानना चाहिये। द्वितीय हानि में संख्याती वर्गणाओं के जाने पर अर्धपरमाणु होते हैं। इसी प्रकार ऊपर रही हुई वर्गणाओं में (संख्याती वर्गणाओं को उलांघने के बाद हो, उसमें) अर्ध-अर्ध परमाणु होते हैं।

विशेषार्थ—'पढमहाणीए एवं' अर्थात् पहली असंख्यातभाग हानि में असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओं के परे जो वर्गणा आती है उसमें अर्ध-अर्ध परमाणु होते हैं। तत्पश्चात् संख्यातभाग हानि में जो द्विगुण हानि होती है उस पहली वर्गणा से संख्याती वर्गणाओं के उलांघने के पश्चात् प्राप्त वर्गणा में अर्ध परमाणु होते हैं। तत्पश्चात् संख्यातभाग हानि में जो द्विगुणहानि होती है उस वर्गणा से संख्याती वर्गणाओं का अतिक्रमण करने के बाद जो वर्गणा आती है उसमें आधे पुद्‌गल होते हैं। वह इस प्रकार समझना चाहिये—

संख्यातभाग हानि वाली पहली वर्गणा से संख्याती वर्गणाओं को उलांघने के पश्चात् जो वर्गणा आती हैं, उसमें असंख्यात भाग हानि वाली अंतिम वर्गणा में रहे हुए परमाणुओं की अपेक्षा पुद्‌गल परमाणु आधे होते हैं। उसके बाद पुनः संख्याती वर्गणाओं को उलांघने के बाद

जो वर्गणा होती है उसमें आधे परमाणु होते हैं। इस प्रकार संख्याती-संख्याती वर्गणायें उलांघने पर अर्ध-अर्ध परमाणु संख्यातभाग हानि की चरम वर्गणा पर्यन्त समझना चाहिये।

संख्यातभाग हानि वाली वर्गणाओं से उपरिवर्ती संख्यातगुण, असंख्यात गुण, अनन्तगुणहानि रूप इन तीन हानियों में अमुक वर्गणा को उलांघने के बाद अर्धपरमाणु होने रूप परंपरोपनिधा सम्भव नहीं है क्योंकि संख्यातगुणहानि वाली प्रथम वर्गणा में ही संख्येयभाग हीन परमाणु वाली अंतिम वर्गणा में रहे हुए परमाणुओं की अपेक्षा संख्यातगुणहीन परमाणु होते हैं और संख्यातगुणहीन भी कम-से-कम भी त्रिगुणहीन या चतुर्गुणहीन ग्रहण करना चाहिये, किन्तु द्विगुणहीन नहीं। क्योंकि शास्त्र में जहाँ कहीं भी संख्येयगुणहीन को ग्रहण किया जाता है वहाँ कम से कम त्रिगुणहीन अथवा चतुर्गुण-हीन ग्रहण किया जाता है। लेकिन जघन्य या उत्कृष्ट ग्रहण नहीं किया जाता है। इस प्रकार से संख्यातभागहीन परमाणु वाली अंतिम वर्गणा में जितने परमाणु होते हैं, उनका संख्यातवां भाग यानि तीसरा भाग अथवा चौथा भाग संख्यातगुणहीन परमाणु वाली पहली वर्गणा में ही शेष रहता है, जिससे अमुक वर्गणाओं को उलांघने के बाद अर्ध-परमाणु शेष रहें, इस प्रकार की परंपरोपनिधा सम्भव नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि संख्यातभागगत अंतिम वर्गणा से आगे की वर्गणा में त्रिगुणादि हीन (संख्यातगुणहीन) पुद्‌गल परमाणु है, द्विगुणहीन नहीं। जिससे द्विगुणहीन परंपरोपनिधा की प्ररूपणा किया जाना सम्भव नहीं है।

अतएव दूसरे प्रकार से परंपरोनिधा का विचार करते हैं। जो इस प्रकार है—

असंख्यातभागहानि वाली पहली और अंतिम वर्गणा के बीच में वर्तमान कितनी ही वर्गणायें पहली वर्गणा की अपेक्षा असंख्यातभाग हीन परमाणु वाली हैं, कितनी ही वर्गणायें संख्यातभागहीन परमाणु

वाली हैं, कितनी ही वर्गणायें संख्यातगुणहीन परमाणु वाली हैं, कितनी ही वर्गणायें असंख्यातगुणहीन परमाणु वाली और कितनी ही अनन्तगुणहीन परमाणु वाली हैं। इस प्रकार असंख्यातभागहानि में पहली वर्गणा की अपेक्षा पाँच हानियां संभव हैं।

संख्यातभागहीन परमाणु वाली वर्गणाओं में असंख्यातभाग हानि के सिवाय शेष चार हानि संभव हैं, क्योंकि आदि से ही असंख्यात भाग हानि का अभाव होने से असंख्यात भागहीन संभव नहीं है। जो इस प्रकार---संख्यातभागहीन परमाणु वाली पहली और अंतिम वर्गणा के बीच में विद्यमान वर्गणाओं में कितनी ही वर्गणायें उसकी पहली वर्गणा की अपेक्षा संख्यातभागहीन परमाणु वाली हैं, कितनी ही संख्यातगुणहीन परमाणु वाली हैं, कितनी ही असंख्यातगुणहीन परमाणु वाली और कितनी ही अनन्तगुणहीन परमाणु वाली हैं।

संख्यातगुणहानि में असंख्यातभाग और संख्यातभाग हीन को छोड़कर शेष तीन हानि संभव हैं। वे इस प्रकार—संख्यातगुणहानि वाली पहली और अंतिम वर्गणा के बीच रही हुई वर्गणाओं में कितनी ही वर्गणायें उसकी पहली वर्गणा की अपेक्षा संख्यातगुणहीन परमाणु वाली हैं, कितनी ही असंख्यातगुणहीन परमाणु वाली और कितनी ही अनन्तगुणहीन परमाणु वाली हैं।

असंख्यातगुणहानि में पूर्व की तीन हानियों को छोड़कर शेष रही आगे की असंख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानि इस प्रकार की दो हानियाँ संभव हैं। वे इस प्रकार—असंख्यातगुणहानि वाली पहली और अंतिम वर्गणा के मध्य में की कितनी ही वर्गणायें उसकी पहली वर्गणा की अपेक्षा असंख्यातगुणहीन परमाणु वाली हैं, और कितनी ही वर्गणायें अनन्तगुणहीन परमाणु वाली हैं।

अनन्तगुणहानि में तो अनन्तगुणहानि यही एक हानि घटित होती है क्योंकि अनन्तगुणहानि वाली वर्गणाओं में प्रारम्भ से ही प्रत्येक वर्गणा अनन्तगुणहीन परमाणु वाली ही होती है।

इस प्रकार से परंपरोपनिधा का आशय जानना चाहिये।

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की उक्त परंपरोपनिधाप्ररूपणा के आशय का सारांश इस प्रकार जानना चाहिये—

पूर्व वर्गणा की अपेक्षा बीच की कुछ वर्गणाओं को छोड़कर आगे की वर्गणा में परमाणुओं की हीनाधिकता के विचार करने को परंपरोपनिधा कहते हैं। इसको इस प्रकार समझना चाहिये—

असंख्यातभागहानि—विभाग में असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों का अतिक्रमण होने पर द्विगुणहानि, संख्यातभागहानिविभाग में असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों का अतिक्रमण होने पर द्विगुणहानि होती है। किन्तु संख्यातगुणहीन, असंख्यातगुणहीन और अनन्तगुणहीन इन तीन विभागों में पहले से ही त्रिगुणादि हीनता होने से द्विगुणहानि का अभाव है। अतएव पूर्वोक्त द्विगुण हानि रूप परंपरोपनिधा सर्व विभागों में संभव न हो सकने से दूसरे प्रकार से परंपरोपनिधा प्ररूपणा इस प्रकार की जाती है कि—

असंख्यातभागहानि विभाग में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा कुछ वर्गणायें—१. असंख्यातभागहीन, २. संख्यातभागहीन, ३. संख्यातगुणहीन, ४. असंख्यातगुणहीन और, ५. अनन्तगुणहीन हैं। इस प्रकार पाँचों हानि वाली होती हैं।

संख्यातभागहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असंख्यातभागहानि के सिवाय उत्तर की अपने नाम सहित शेष चार हानि वाली जानना चाहिये।

संख्यातगुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असंख्यातभागहानि और संख्यातभागहानि इन दो हानियों को छोड़कर उत्तर की अपने नाम सहित तीन हानि वाली हैं।

असंख्यातगुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यात-

गुणहानि इन तीन पूर्व की हानियों को छोड़कर शेष रही असंख्यात-गुणहानि, अनन्तगुण हानि, इन दो हानियों वाली है।

अनन्तगुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्वोक्त चार हानियों के सिवाय अपने नाम की हानि वाली अर्थात् अनन्तगुणहानि वाली होती हैं।

सारांश यह है कि जिस हानि का वर्णन करना हो उसको अपने-अपने नाम के क्रम से प्रारंभ कर उत्तर की सभी हानियों का नामोल्लेख करना चाहिये, किन्तु पूर्व की हानियों को छोड़ दें।

इस तरह मूल हानिपंचक और उत्तर हानिपंचक इन दो प्रकारों से परंपरोपनिधा प्ररूपणा जानना चाहिये। अब इनके अल्प बहुत्व का विचार करते हैं—

पंचहानिगत वर्गणाओं का अल्पबहुत्व

थोवाओ वग्गणाओ पढमहाणीय उवरिमासु कमा।
होंति अणंतगुणाओ अणंतभागो पएसाणं ॥२४॥

शब्दार्थ—**थोवाओ**—स्तोक, अल्प, **वग्गणाओ**—वर्गणायें, **पढम-हाणीए**—प्रथम हानि में, **उवरिमासु**—उत्तरवर्ती में, **कमा**—अनुक्रम से, **होंति**—होती हैं, **अणंतगुणाओ**—अनन्तगुण, **अणंतभागो**—अनन्तवें भाग, **पएसाणं**—प्रदेशों का।

गाथार्थ—प्रथम हानि में वर्गणायें अल्प हैं और उसके बाद की उत्तरवर्ती हानियों में अनुक्रम से अनन्तगुण वर्गणायें होती हैं और प्रदेशों का अनन्तवां भाग होता है।

विशेषार्थ—'थोवाओ वग्गणाओ पढमहाणीए' अर्थात् स्नेहाणुओं की वृद्धि और परमाणुओं की हानि के साथ बनने वाली वर्गणाओं में पहली हानि का नाम असंख्यातभाग हानि है। उसमें वर्गणायें सबसे कम होती हैं, उससे उत्तरवर्ती होने वाली हानियों में अनुक्रम से अनन्त-अनन्तगुण वर्गणायें होती हैं—'उवरिमासु कमा होंति अणंत

गुणाओ।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि असंख्यातभागहानि के अनन्तर क्रम प्राप्त संख्यातभागहानि में अनन्तगुणी वर्गणायें होती हैं। उसकी अपेक्षा संख्यातगुणहानि में अनन्तगुणी वर्गणायें होती हैं। उसकी अपेक्षा असंख्यातगुणहानि में वर्गणायें अनन्तगुणी हैं और उससे भी अनन्तगुणहानि में अनन्तगुणी वर्गणायें हैं।

हानियों की अपेक्षा वर्गणाओं की अल्पाधिकता का प्रमाण उक्त प्रकार है किन्तु प्रदेशापेक्षा-परमाण्वापेक्षा अल्पबहुत्व अनन्तवां भाग है—'अणंतभागो पएसाणं'। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

असंख्यातभागहानि में पुद्गल अधिक हैं। उससे संख्यातभागहानि में अनन्तवें भाग मात्र पुद्गल हैं। उसकी अपेक्षा संख्यातगुणहानि में अनन्तवें भाग हैं, उससे असंख्यातगुणहानि में अनन्तवें भाग और उसकी अपेक्षा भी अनन्तगुणहानि में अनन्तवें भाग मात्र पुद्गल होते हैं। क्योंकि जैसे-जैसे रस (स्नेह) की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे उस-उस स्नेह वाले पुद्गल तथास्वभाव से अल्प-अल्प होते जाते हैं जिससे ऊपर-ऊपर वृद्धि को प्राप्त रस वाली वर्गणाओं में पुद्गल परमाणु न्यून-न्यून पाए जाते हैं।

उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि १. अनन्तगुणहानि में पुद्गल परमाणु सबसे कम हैं, २. उनसे असंख्यातगुणहानि में पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते हैं, ३. उनसे भी संख्यातगुणहानि में पुद्गल परमाणु अनन्त गुणे होते हैं, ४. उनसे भी संख्यातभाग हानि में पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते हैं और ५. उनसे भी असंख्यातभाग हानि में पुद्गल परमाणु अनन्त गुणे होते हैं।

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि अनन्तगुणहानि में अनन्तगुण बड़े-बड़े भागों की हानि होने से अनन्तगुण में गुण शब्द से अनन्त पुद्गल राशि प्रमाण एक भाग ऐसे अनन्त भाग समझना चाहिये, किन्तु गुणाकार जैसा भाग नहीं। क्योंकि अनन्तगुण रूप भाग तो सब भागों की अपेक्षा बृहत् प्रमाण वाला है। अतएव यहाँ की तरह

जहाँ कहीं भी हानि में गुण शब्द का प्रयोग किया जाये वहाँ सर्वत्र गुण शब्द से भागाकार प्रमाण ही जानना चाहिये, गुणाकार रूप नहीं और वृद्धि के प्रसंग में गुण शब्द का अर्थ गुणाकार समझना चाहिए।

इस प्रकार से स्नेहप्रत्ययिक वर्गणाओं का विस्तार से विवेचन करने के बाद अब स्नेहप्रत्ययस्पर्धक के स्वरूप का विचार करते हैं—

एक स्नेहाविभाग से लेकर यथोत्तर के क्रम से वृद्धि को प्राप्त अनन्त स्नेहाविभागों से युक्त परमाणुओं की अनन्त वर्गणायें होती हैं और उन अनन्त वर्गणाओं के समुदाय का एक स्नेहप्रत्ययस्पर्धक होता है। इसके मध्य में एक-एक स्नेहाणु की वृद्धि का विच्छेद न होने से यह स्नेहप्रत्ययस्पर्धक एक ही होता है। क्योंकि अनुक्रम से अविभागी अंशों से बढ़ने वाली उक्त वर्गणाओं के अन्तराल में एक-एक अविभाग की वृद्धि का व्यवच्छेद नहीं है। अर्थात् एक-एक अविभाग-वृद्धि का व्यवच्छेद स्पर्धक के अन्त में होता है। कहा भी है—

रूवुत्तर वुड्ढीए छेओ फड्डगाणं

अर्थात् रूपोत्तर[1] वृद्धि का जो विच्छेद वह स्पर्धक का अंत कहलाता है किन्तु यहाँ जघन्य से लेकर उत्कृष्ट स्नेहाणु वाली अंतिम वर्गणा पर्यन्त एक-एक बढ़ते हुए स्नेहाणु वाली वर्गणायें प्राप्त होती हैं। बीच में एक-एक के क्रम से बढ़ते स्नेहाणु का विच्छेद नहीं होने से अनेक स्पर्धक नहीं होते हैं, लेकिन एक ही स्पर्धक होता है।

इस प्रकार से स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।

अब नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा को कहते हैं। उसके विचार के आठ अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं—१. अविभाग प्ररूपणा, २. वर्गणा

---

१ एक (अंक) संख्या का बोधक रूप शब्द है।

प्ररूपणा, ३. स्पर्धक प्ररूपणा, ४. अंतर प्ररूपणा, ५. वर्गणागत पुद्गलों के स्नेहाविभाग के समस्त समुदाय की प्ररूपणा, ६. स्थान प्ररूपणा, ७. कंडक प्ररूपणा और ८. षट्स्थान प्ररूपणा। इनमें से प्रथम अविभाग प्ररूपणा का निर्देश करते हैं।

अविभाग प्ररूपणा

पंचण्ह सरीराणं परमाणूणं मईए अविभागो।
कप्पियगाणेगंसो गुणाणु भावाणु वा होज्जा ॥२५॥

शब्दार्थ—**पंचण्ह सरीराणं**—पांच शरीरों के, **परमाणूणं**—परमाणुओं के, **मईए**—बुद्धि से, **अविभागो**—अविभाग, **कप्पियगाणेगंसो**—किया गया एक अंश, **गुणाणु**—गुणाणु, **भावाणु**—भावाणु, **वा**—अथवा, **होज्जा**—होता है, कहलाता है।

गाथार्थ—पाँच शरीरों के परमाणुओं के स्नेह का बुद्धिरूप शस्त्र द्वारा अविभाग करना और उन किये गये अविभागों में से एक अंश गुणाणु अथवा भावाणु कहलाता है।

विशेषार्थ—'पंचण्ह सरीराणं' अर्थात् पन्द्रह बंधननामकर्म के द्वारा बंधयोग्य औदारिकादि पाँच शरीरों के परमाणुओं में रहे हुए स्नेह के केवली की प्रज्ञा रूप शस्त्र से किये गये एक के दो अंश न हों इस प्रकार के अविभागी अंशों के एक अंश को गुणाणु—गुणपरमाणु अथवा भावाणु-भावपरमाणु कहते हैं—'गुणाणु भावाणु वा होज्जा'।

इस प्रकार से अविभाग प्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये। अब तदनन्तरवर्ती वर्गणा प्ररूपणा का वर्णन करते हैं।

वर्गणा प्ररूपणा

जे सव्वजहन्नगुणा जोग्गा तणुबंधणस्स परमाणु।
तेवि उ संखासंखा गुणपलिभागे अइक्कंता ॥२६॥

शब्दार्थ—**जे**—जो, **सव्वजहन्नगुणा**—सर्वजघन्य स्नेह गुण वाले, **जोग्गा**—योग्य, **तणुबंधणस्स**—शरीरबंधननामकर्म के, **परमाणु**—परमाणु,

तेवि—वे भी, **उ**—और, **संखासंखा**—संख्यात असंख्यात (अनन्त), **गुण-पलिभागे**—स्नेहाणु वाले परमाणुओं का, **अइक्कंता**—अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त होते हैं।

गाथार्थ—शरीरबंधननामकर्म के योग्य सर्वजघन्य स्नेह गुण वाले जो परमाणु हैं वे भी संख्यात, असंख्यात और अनन्त स्नेहाणु वाले परमाणुओं का अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—पन्द्रह बंधननामकर्म के योग्य जो पुद्गल परमाणु हैं, अर्थात् बंधननामकर्म के उदय से शरीरयोग्य जिन पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के साथ संबंध होता है, उनमें भी कम-से-कम संख्यात, असंख्यात या अनन्त स्नेहाणु वाले परमाणु नहीं होते हैं, किन्तु अनन्तानन्त स्नेहाणु वाले परमाणु होते हैं।

उक्त संक्षिप्त कथन का तात्पर्य यह है कि एक स्नेहाविभाग युक्त पुद्गल परमाणु शरीरयोग्य नहीं होते हैं, यानि औदारिक-औदारिकादि पन्द्रह बंधनों में से किसी भी बंधन के विषय-भूत नहीं होते हैं। इसी प्रकार दो स्नेहाणु वाले, तीन स्नेहाणु वाले आदि इसी क्रम से बढ़ते-बढ़ते संख्यात स्नेहाणु वाले, असंख्यात या अनन्त स्नेहाणु वाले पुद्गल परमाणु भी बंधन के विषयभूत नहीं होते हैं परन्तु—

सव्वजियाणंतगुणेण जे उ नेहेण पोग्गला जुत्ता।

ते वग्गणा उ पढमा बंधणनामस्स जोग्गाओ ॥२७॥

अविभागुत्तरियाओ सिद्धाणमणंतभाग तुल्लाओ।

शब्दार्थ—**सव्वजियाणंतगुणेण**—संपूर्ण जीव राशि से अनन्त गुणे, **जे उ**—जो, **नेहेण**—स्नेह से, **पोग्गला**—पुद्गल परमाणु, **जुत्ता**—युक्त, **ते**—वह, **वग्गणा**—वर्गणा, **उ**—ही, **पढमा**—प्रथम, **बंधणनामस्स**—बंधननामकर्म के, **जोग्गाओ**—योग्य, **अविभागुत्तरियाओ**—एक-एक अविभाग से बढ़ती हुई, **सिद्धाणमणंतभाग तुल्लाओ**—सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण।

गाथार्थ—संपूर्ण जीव राशि से अनन्त गुणे स्नेह से युक्त जो पुद्गल परमाणु हैं, उनका समूह प्रथम वर्गणा है और वह बंधन-नामकर्म के योग्य होती है। एक-एक अविभाग से बढ़ती हुई वर्गणायें सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होती हैं।

विशेषार्थ—संपूर्ण जीवराशि से अनन्त गुणे स्नेह से युक्त पुद्गल परमाणुओं का जो समुदाय, वह पहली जघन्य वर्गणा है। ऐसी वर्गणायें अर्थात् समस्त जीव राशि से अनन्त गुणे स्नेहाविभाग से युक्त परमाणु वाली वर्गणायें औदारिक-औदारिकादि बंधननामकर्म योग्य होती हैं और उन वर्गणाओं को ग्रहण करके जीव बंधननाम-कर्म के उदय से अपने साथ संबद्ध करता है। लेकिन इनसे अल्प स्नेहाणु वाली वर्गणाओं को अपने साथ संबद्ध नहीं करता है।

तत्पश्चात् एक अधिक स्नेहाणु वाले पुद्गल परमाणुओं के समूह की दूसरी वर्गणा, दो अधिक स्नेहाणु वाले परमाणुओं की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक स्नेहाणु से बढ़ती हुई वर्गणायें निरन्तर वहाँ तक जानना चाहिये, यावत् अभव्यों से अनन्तगुण या सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हों। अर्थात् एक-एक स्नेहाणु से बढ़ती हुई वे वर्गणायें अभव्यों से अनन्तगुण अथवा सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होती हैं।

इस प्रकार से वर्गणा प्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये। अब स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा का कथन करते हैं।

स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा

ताओ फड्डगमेगं अणंतविवराइं इय भूय ॥२८॥
जइमं इच्छसि फड्डं तत्तिय संखाए वग्गणा पढमा।
गुणिया तस्साइल्ला रूवुत्तरियाओ अण्णाओ ॥२९॥

शब्दार्थ—**ताओ**—उनका, **फड्डगमेगं**—एक स्पर्धक होता है, **अणंत-विवराइं**—अनन्त अन्तराल, **इय**—इस प्रकार, **भूय**—बार-बार, **जइमं**—जितनेवें, **इच्छसि**—इच्छा करते हो, **फड्डं**—स्पर्धक की, **तत्तिय**—उस, **संखाए**—संख्या के साथ, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **गुणिया**—गुणा करने से,

तस्साइल्ला—उसकी पहली, **रूवुत्तरियाओ**—एक रूप से अधिक, **अण्णाओ**—अन्य-अन्य ।

गाथार्थ—उन वर्गणाओं का समुदाय एक स्पर्धक होता है। अनन्त अन्तराल वाले वे स्पर्धक होते हैं। इस प्रकार बार-बार कहना चाहिये।

जितनेवें स्पर्धक की पहली वर्गणा के स्नेहाणु की संख्या जानने की इच्छा हो उस संख्या के साथ पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा के स्नेहाणु से गुणा करने पर जो आये वह उतनेवें स्पर्धक की पहली वर्गणा में स्नेहाणु की संख्या होती है। इस प्रकार एक-एक रूप से अधिक अनन्त वर्गणायें होती हैं।

विशेषार्थ—अभव्यों से अनन्तगुण अथवा सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणायें जब हो जाती हैं, तब उसके बाद अनुक्रम से एक-एक स्नेहाविभाग से बढ़ती हुई वर्गणायें नहीं होती हैं। अतएव उन पूर्वोक्त वर्गणाओं के समूह का एक स्पर्धक होता है। अर्थात् उन अनन्त वर्गणाओं के समुदाय की स्पर्धक यह संज्ञा है।

इस प्रकार से स्पर्धक प्ररूपणा जानना चाहिये, और वे स्पर्धक अनन्त अन्तराल वाले हैं। अर्थात् संपूर्ण जीव राशि की अपेक्षा अनन्त गुण स्नेहाणु रूप अन्तराल वाले वे स्पर्धक होते हैं, किन्तु वर्गणाओं की तरह एकोत्तर वृद्धि रूप वाले नहीं होते हैं। जिनकी विशेषता के साथ विवरण इस प्रकार है—

प्रथम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा से आगे एक स्नेहाविभाग से अधिक वाले कोई परमाणु नहीं हैं, दो स्नेहाणु अधिक वाले परमाणु नहीं हैं, इसी प्रकार तीन, चार, संख्यात, असंख्यात या अनन्त स्नेहाणु अधिक वाले परमाणु नहीं हैं। परन्तु सर्व जीवों से अनन्तगुण स्नेहाणु से अधिक वाले परमाणु होते हैं। समान स्नेहाणु वाले उनका जो समुदाय वह दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा है। दूसरे स्पर्धक की उस पहली वर्गणा में पहले स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में जितने स्नेहाणु हैं

उसकी अपेक्षा दुगने स्नेहाणु होते हैं। उसमें एक अधिक स्नेहाणु वाले परमाणुओं का जो समुदाय वह दूसरी वर्गणा, उससे एक अधिक परमाणुओं के समुदाय की तीसरी वर्गणा इस प्रकार एक-एक स्नेहाविभाग से अधिक निरंतर वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये जब वे अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हो जायें। उनके समुदाय का दूसरा स्पर्धक होता है।

दूसरे स्पर्धक की अंतिम वर्गणा के पश्चात् एक अधिक स्नेहाविभाग वाले परमाणु नहीं हैं। दो स्नेहाविभाग अधिक वाले परमाणु नहीं हैं। तीन अधिक वाले नहीं हैं, इसी क्रम से बढ़ते हुए संख्यात या असंख्यात या अनन्त स्नेहाविभाग अधिक वाले परमाणु नहीं हैं, परन्तु सर्वजीवों से अनन्तगुण स्नेहाणु युक्त परमाणु होते हैं। समान स्नेहाणु वाले उनका जो समुदाय, वह तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा होती है। उसमें पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा से तिगुने स्नेहाविभाग होते हैं। उनसे एक अधिक स्नेहाणु वाले परमाणुओं के समुदाय की दूसरी वर्गणा, दो स्नेहाणु अधिक परमाणुओं की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक बढ़ाते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि अभव्यों से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण निरंतर वर्गणायें हो जायें, उनका समुदाय तीसरा स्पर्धक होता है।

तीसरे स्पर्धक की अंतिम वर्गणा से आगे एक अधिक स्नेहाणु वाले परमाणु नहीं हैं। इसी क्रम से बढ़ते हुए संख्यात, असंख्यात या अनन्त अधिक स्नेहाणु युक्त परमाणु प्राप्त नहीं होते हैं परन्तु संपूर्ण जीव राशि से अनन्त गुणअधिक वाले स्नेहाविभाग युक्त परमाणु होते हैं, उन समान स्नेह वाले परमाणुओं का समुदाय चौथे स्पर्धक की पहली वर्गणा होती है। इस चौथे स्पर्धक की पहली वर्गणा में पहले स्पर्धक की प्रथम वर्गणा से चौगुने स्नेहाविभाग होते हैं।

इस प्रकार पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा के स्नेहाविभाग की अपेक्षा जितनेवें स्पर्धक का विचार किया जाये तो उसमें उतने गुणे

स्नेहाणु होते हैं। जैसे कि पाँचवें, दसवें, बीसवें, हजारवें, या लाखवें स्पर्धक की पहली वर्गणा में पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा के स्नेहाणुओं से पांचगुने, दसगुने, बीसगुने, हजारगुने या लाखगुने स्नेहाणु होते हैं।

अब इसी बात को विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं कि जिस संख्या वाले स्पर्धक की पहली वर्गणा के स्नेहाणुओं की संख्या ज्ञात करने की जिज्ञासा हो तो उस संख्या के साथ पहले स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में रहे हुए स्नेहाविभाग का गुणा करने पर जो प्रमाण आये उतने स्नेहाणु विवक्षित स्पर्धक की पहली वर्गणा में होते हैं। जैसे कि लाखवें स्पर्धक की पहली वर्गणा के स्नेहाणुओं को जानने की इच्छा हो तो लाख की संख्या के साथ पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा में के स्नेहाणुओं का गुणा करने पर जितने स्नेहाणु आयें उतने स्नेहाणु लाखवें स्पर्धक की पहली वर्गणा में होते हैं। अर्थात् पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा के स्नेहाणुओं से लाख गुने स्नेहाणु होते हैं। तत्पश्चात् उस पहली वर्गणा से एक-एक स्नेहाविभाग से अधिक स्पर्धक की समाप्ति पर्यन्त अनन्त वर्गणायें होती हैं।

इस प्रकार से स्पर्धक प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।

अब अन्तर प्ररूपणा का विचार करते हैं कि पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा में दुगुने, तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा में तिगुने इत्यादि कथन के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि सभी स्पर्धकों में अन्तर तुल्य हैं। यानि पहले स्पर्धक और दूसरे स्पर्धक के बीच में जितने स्नेहाणुओं का अन्तर है, उतना ही अन्तर दूसरे और तीसरे स्पर्धक के मध्य में है, उतना ही तीसरे और चौथे स्पर्धक के बीच में है। इस प्रकार प्रत्येक स्पर्धक में जानना चाहिये।

अब इसी कथन का असत्कल्पना से स्पष्टीकरण करते हैं कि यद्यपि पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा में अनन्त स्नेहाणु होते हैं तथापि उनकी संख्या दस मान ली जाये यानि पहली वर्गणा में दस, दूसरी वर्गणा

में ग्यारह, तीसरी वर्गणा में बारह और चौथी वर्गणा में तेरह और इन चार वर्गणाओं का समूह पहला स्पर्धक हुआ। यहाँ से आगे एकोत्तर वृद्धि वाले स्नेहाविभाग नहीं होते हैं, किन्तु सर्व जीव राशि से अनन्तगुणाधिक स्नेहाणु होते हैं, उनकी असत्कल्पना से संख्या बीस मान ली जाए। अतएव वे बीस स्नेहाणु दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा में हुए। वे बीस स्नेहाणु पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा दुगुने हुए। दूसरी वर्गणा में इक्कीस, तीसरी वर्गणा में बाईस और चौथी वर्गणा में तेईस। इन चार वर्गणाओं का समुदाय दूसरा स्पर्धक है। इसके पश्चात् एकोत्तर वृद्धि में वृद्धिगत स्नेहाविभाग नहीं होते हैं परन्तु सर्वजीवों से अनन्तगुणाधिक स्नेहाविभाग होते हैं। उनको असत्कल्पना से तीस मान लिया जाये। ये तीस स्नेहाविभाग तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा में होते हैं। ये तीस स्नेहाणु पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा के दस स्नेहाणुओं की अपेक्षा तिगुने हुए। इसी प्रकार प्रत्येक स्पर्धक की पहली वर्गणा के लिये समझना चाहिये। पहले स्पर्धक और दूसरे स्पर्धक के बीच में चौदह से उन्नीस इस प्रकार छह स्नेहाणुओं का अन्तर है। इसी प्रकार चौबीस से उनतीस तक छह स्नेहाणुओं का अन्तर दूसरे और तीसरे स्पर्धक के बीच में है। इस तरह छह-छह स्नेहाणु रूप में यह अन्तर समान हैं। इसी प्रकार प्रत्येक स्पर्धक में अन्तर समान समझना चाहिये। यहाँ सर्वजीवों से अनन्तगुण संख्या के स्थान में छह की कल्पना की है।

इस प्रकार से स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा का विवेचन करने के पश्चात् उनका उपसंहार करते हुए यह बताते हैं कि कुल मिलकर स्पर्धक और अन्तर कितने होते हैं।

स्पर्धक और अंतरों का संख्याप्रमाण

अभवाणंतगुणाइं फड्डाइं अंतरा उ रूवूणा।
दोण्णंतर वुड्ढिओ परंपरा होंति सव्वाओ ॥३०॥

शब्दार्थ—अभवाणंतगुणाइं—अभव्यों से अनन्त गुणे, **फड्डाइं**—स्पर्धक,

अंतरा—अंतर, **उ**—और, **रूवूणा**—रूप (एक) न्यून, **दोण्णंतर वुड्ढिओ**—अनन्तर दो वृद्धियां, **परंपरा**—परंपरा से, **होंति**—होती हैं, **सव्वाओ**—सभी।

गाथार्थ—स्पर्धक अभव्यों से अनन्त गुणे और अंतर रूपोन (एक न्यून) होते हैं। अनन्तर दो वृद्धि और परंपरा से सभी वृद्धियां होती हैं।

विशेषार्थ—स्पर्धक का कुल प्रमाण कितना है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि 'अभवाणंतगुणाइं फड्डाइं' अर्थात् अभव्य से अनन्त गुणे एवं उपलक्षण से सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक होते हैं तथा अंतर कितने होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में बताया कि 'अंतरा रूवूणा' यानि अन्तर स्पर्धक की अपेक्षा रूप न्यून—एक कम होते हैं, जैसे कि चार के अंतर तीन होते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिये तथा वर्गणाओं में आनन्तर्य—पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर की अपेक्षा दो वृद्धि होती हैं—'दोण्णंतर वुड्ढिओ'। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. एक-एक अविभाग वृद्धि और २ अनन्तानन्त अविभाग वृद्धि। इनमें से एक-एक अविभाग की वृद्धि स्पर्धक में रही हुई वर्गणाओं में उत्तरोत्तर और अनन्तानन्त अविभागों की वृद्धि पूर्व स्पर्धक की अंतिम वर्गणा की अपेक्षा उत्तरवर्ती स्पर्धक की पहली वर्गणा में जानना चाहिये और 'परंपरा होंति सव्वाओ' यानि परंपरा वृद्धि पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा छह प्रकार की समझना चाहिये। वे इस प्रकार—१ अनन्तभागवृद्धि २ असंख्यातभागवृद्धि ३ संख्यात-भागवृद्धि, ४ संख्यातगुणवृद्धि ५ असंख्यातगुणवृद्धि और ६ अनन्त गुण वृद्धि। इसका आशय यह हुआ कि पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा कितनी ही वर्गणायें अनन्तभागाधिक स्नेहाणु वाली, कितनी ही असंख्यभागाधिक स्नेहाणु वाली और कितनी ही संख्यात-भागाधिक स्नेहाणु वाली होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्पर्धक में रही हुई वर्गणाओं की अपेक्षा तीन वृद्धि होती हैं। पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा पहले स्पर्धक से लेकर संख्यात स्पर्धकपर्यन्त प्रत्येक

की पहली-पहली वर्गणा में संख्यातगुण स्नेहाणु होते हैं। तत्पश्चात् असंख्यात स्पर्धक पर्यन्त प्रत्येक की पहली-पहली वर्गणा में असंख्यात-गुण और उसके बाद के अनन्त स्पर्धक पर्यन्त प्रत्येक की पहली-पहली वर्गणा में अनन्त गुण स्नेहाणु होते हैं, यह परंपरा वृद्धि पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा उसके बाद के किसी भी स्पर्धक की पहली वर्गणा में होती है, यह समझना चाहिये।

इस प्रकार से वर्गणा, स्पर्धक और अंतर प्ररूपणाओं का आशय जानना चाहिये। अब वर्गणागत पुद्गलपरमाणुओं के स्नेहाविभाग के समुदाय की प्ररूपणा करते हैं।

वर्गणागत पुद्गल—स्नेहाविभाग समुदाय प्ररूपणा

वर्गणागत परमाणुओं के स्नेहाविभाग कुल मिलाकर कितने होते हैं ? तो वे इस प्रकार जानना चाहिये कि पहले शरीरस्थान के पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा में स्नेहाविभाग अल्प होते हैं, उसकी अपेक्षा दूसरे शरीरस्थान के प्रथम स्पर्धक की पहली वर्गणा में अनन्त गुणे स्नेहाणु होते हैं, उससे तीसरे शरीरस्थान के प्रथम स्पर्धक की पहली वर्गणा में अनन्त गुणे स्नेहाणु होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रत्येक शरीरस्थान की पहली वर्गणा में अनन्तगुण-अनन्तगुण स्नेहाविभाग समझना चाहिये।

इस प्रकार से वर्गणागत पुद्गल स्नेहाविभाग समुदाय की प्ररूपणा करने के पश्चात् क्रमप्राप्त स्थान व कंडक प्ररूपणा का कथन करते हैं।

स्थान और कंडक प्ररूपणा

पढमाउ अणंतेहिं सरीरठाणं तु होई फड्डेहिं।
तयणंतभागवुड्ढी कंडकमित्ता भवे ठाणा ॥३१॥

शब्दार्थ—**पढमाउ**—पहले (स्पर्धक) से लेकर, **अणंतेहिं**—अनन्त, **सरीर-ठाणं**—शरीरस्थान, **तु**—और, **होइ**—होता है, **फड्डेहिं**—स्पर्धकों द्वारा,

तयणंतभागवुड्ढी—तदनन्तर अनन्त भाग से वृद्धिगत, **कंडकमित्ता**—कंडक प्रमाण, **भवे**—होते हैं, **ठाणा**—स्थान।

गाथार्थ—पहले स्पर्धक से लेकर अनन्त स्पर्धकों के द्वारा प्रथम स्थान होता है, तदनन्तर अनन्तभाग से वृद्धिगत कंडक प्रमाण स्थान होते हैं।

विशेषार्थ—नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का प्रसंग होने से यहाँ स्थान शब्द से शरीरस्थान का ग्रहण करना चाहिये। अतएव पहले स्पर्धक से लेकर अनन्त स्पर्धकों का प्रथम शरीरस्थान होता है। क्योंकि अनन्त स्पर्धकों के समूह की स्थान यह संज्ञा है। पहले शरीरस्थान के स्पर्धकों की अपेक्षा अनन्तभागाधिक स्पर्धकों का दूसरा शरीरस्थान होता है। उससे अनन्तभागाधिक स्पर्धकों का तीसरा स्थान होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व शरीरस्थान की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्त भागाधिक स्पर्धकों वाले कंडक प्रमाण शरीरस्थान होते हैं।

इस प्रकार से स्थानप्ररूपणा करने के पश्चात् अब कंडक प्ररूपणा करते हैं कि कंडक यह संख्याबोधक शब्द हैं, जिसका लक्षण स्वयं ग्रन्थकार आचार्य आगे गाथा ३५ में कह रहे हैं।

इस प्रकार से कंडक प्ररूपणा का विचार करने के पश्चात् अब षट्स्थान प्ररूपणा करते हैं।

षट्स्थान प्ररूपणा

एक्कं असंखभागुत्तरेण पुण णंतभागवुड्ढिए।
कंडकमेत्ता ठाणा असंखभागुत्तरं भूय ॥३२॥
एवं असंखभागुत्तराणि ठाणाणि कंडमेत्ताणि।
संखेज्जभागवुड्ढं पुण अन्नं उट्ठए ठाणं ॥३३॥
अमुयंतो तह पुव्वुत्तराइं एयंपिनेसु जा कंडं।
इय एय विहाणेणं छव्विहवुड्ढी उ ठाणेसु ॥३४॥

शब्दार्थ—**एकं**—एक, **असंखभागुत्तरेण**—तत्पश्चात् असंख्यभाग वृद्धि और, **पुण**—पुन:, **णंतभागवुड्ढिए**—अनन्तभाग वृद्धि के, **कंडकमेत्ता**—कंडक मात्र, **ठाणा**—स्थान, **असंखभागुत्तरं**—असंख्यभाग अधिक वाला, **भूय**—पुन: फिर।

एवं—इस प्रकार से, **असंखभागुत्तराणि**—असंख्यभागवृद्धि वाले, **ठाणाणि**—स्थान, **कंडमेत्ताणि**—कंडक प्रमाण, **संखेज्जभागवुड्ढं**—संख्यातभागवृद्ध **पुण**—फिर, **अन्नं**—अन्य, **उट्ठए**—होता है, **ठाणं**—स्थान।

अमुयंतो—नहीं छोड़ते हुए, **तह**—तथा, **पुव्वुत्तराइं**—पूर्व और बाद के, **एयंपि**—यह भी, **नेसु**—जानना चाहिये, **जा**—जहाँ तक, यावत्, **कंडं**—कंडक, **इय**—यह, **एयविहाणेणं**—इस प्रकार से, **छव्विहवुड्ढी**—छह प्रकार की वृद्धि, **उ**—और, **ठाणेसु**—स्थानों (शरीर स्थानों) में।

> **गाथार्थ**—(अनन्तभागवृद्धि का कंडक होने के पश्चात्) एक असंख्यातभागवृद्ध स्थान होता है। तत्पश्चात् अनन्तभागवृद्धि के कंडक प्रमाण स्थान होते हैं और उसके बाद पुन: असंख्यातभाग-वृद्धि वाला स्थान होता है। तत्पश्चात् संख्यातभागवृद्ध अन्य स्थान होता है।
>
> फिर उसके बाद पूर्व तथा उसके बाद के स्थानों को न छोड़ते हुए यह संख्यातभागाधिक स्थान भी वहाँ तक जानना चाहिये कि उनका कंडक परिपूर्ण हो। इस तरह उपर्युक्त प्रकार से छहों प्रकार की वृद्धि शरीरस्थानों में होती है।

विशेषार्थ—षट्स्थान प्ररूपणा की आद्य इकाई 'अनन्तभागाधिक' है कि पूर्व-पूर्व शरीरस्थानों के स्पर्धक की अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीर-स्थानों में अनन्तवें भाग बढ़ते हुए स्पर्धक वाले शरीरस्थान एक कंडक जितने होते हैं। जिसका पूर्व गाथा में संकेत किया जा चुका है। उसके बाद का जो शरीरस्थान होता है उसमें अनन्तभागवृद्ध कंडक के अन्तिम-स्थान के स्पर्धकों की अपेक्षा असंख्यातवेंभाग अधिक स्पर्धक होते हैं —'एकं असंखभागुत्तरेण'। तत्पश्चात् पुन: एक कंडक जितने स्थान

पूर्व-पूर्व स्थान की अपेक्षा अनन्तभागाधिक स्पर्धक वाले होते हैं। तत्पश्चात् जो शरीरस्थान होता है, वह पूर्व के शरीरस्थान से असंख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला होता है। उसके बाद पुनः एक कंडक प्रमाण स्थान अनन्तभागाधिक स्पर्धक वाले होते हैं। इस प्रकार कंडक प्रमाण अनन्त-भागाधिक स्पर्धकों से व्यवहित असंख्यातभागाधिक स्पर्धक वाले शरीरस्थान भी एक कंडक प्रमाण होते हैं। अर्थात् पहले असंख्यातभागवृद्ध और दूसरे असंख्यातभागवृद्ध शरीरस्थान के बीच में अनन्तभागवृद्ध स्पर्धक वाले एक कंडक जितने स्थान होते हैं। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे के बीच में, तीसरे और चौथे के मध्य में अनन्तभागवृद्ध स्पर्धकों का कंडक होता है। इस रीति से असंख्यातभागवृद्ध स्पर्धकों का एक कंडक पूर्ण हो जाता है।

तत्पश्चात् अन्तिम असंख्यातभागवृद्ध शरीरस्थान से एक कंडक जितने स्थान अनन्त भागाधिक स्पर्धक वाले होते हैं, और उसके बाद जो शरीरस्थान प्राप्त होता है, उसमें पूर्व स्थान की अपेक्षा संख्यातवें भाग अधिक स्पर्धक होते हैं अर्थात् असंख्यातभागवृद्ध स्पर्धक का अन्तिम स्थान होने के पश्चात् एक कंडक जितने स्थान अनन्तभागवृद्ध स्पर्धक वाले होते हैं, और उसके बाद का संख्यात भागाधिक स्पर्धक वाला पहला एक शरीरस्थान होता है। इसके पश्चात् प्रारम्भ से लेकर जितने स्थान जिस क्रम से पूर्व में कहे गये हैं उतने स्थान उसी क्रम से कहने के बाद जो शरीरस्थान होता है, वह पूर्व स्थान की अपेक्षा संख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला होता है—'संखेज्जभाग वुडढ् पुण अन्नं उट्ठए ठाणं'।

इसके अनन्तर पहले और दूसरे संख्यातभागाधिक स्थान के बीच में जिस क्रम से और जितने स्थान कहे हैं उसी क्रम से और उतने कहकर फिर तीसरा संख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला स्थान होता है। इस प्रकार संख्यातभागाधिक शरीरस्थान भी एक कंडक जितने होते हैं।

उक्त कथन का आशय यह हुआ कि—

पहली बार संख्यात वृद्धि वाला स्थान होने के पश्चात् पहले अनन्त भागवृद्ध और उसके बाद के असंख्यातभागवृद्ध स्थान कंडक प्रमाण जिस रीति से पूर्व में बताये हैं, उसी प्रमाण करने से दूसरा संख्यात-भाग वृद्ध स्थान होता है। फिर पुनः अनन्त और असंख्यातभागवृद्धि के सभी स्थान होने के पश्चात् तीसरा संख्यात भाग वृद्ध स्थान होता है। इस प्रकार करने से संख्यातभागवृद्ध स्थान भी कंडक प्रमाण होते हैं।

अन्तिम संख्यातभागवृद्ध स्थान होने के पश्चात् अनन्त और असंख्यात भाग वृद्धि के समस्त स्थान करने के बाद संख्यातगुणवृद्ध स्थान प्रारम्भ होता है। यानि अनन्तर पूर्व के स्थान में जितने स्पर्धक होते हैं, उससे संख्यातगुण स्पर्धक संख्यातगुणवृद्धि के पहले स्थान में होते हैं उसके बाद शुरू से लेकर यहाँ तक जितने स्थान पूर्व में कहे जा चुके हैं उतने स्थान उसी प्रकार कहना चाहिये। उसके बाद दूसरा संख्यातगुणाधिक स्पर्धक वाला स्थान कहना चाहिये। उसके पश्चात् पहले और दूसरे संख्यातगुण स्थान के बीच जो स्थान कहे हैं, वे सभी स्थान उसी प्रकार कहना चाहिये। तत्पश्चात् तीसरा संख्यातगुणा-धिक स्थान होता है। इस प्रकार यह संख्यातगुणाधिक स्थान भी वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उसका कंडक पूर्ण हो।

अन्तिम संख्यातगुणधिक स्थान कहने के पश्चात् मूल से प्रारम्भ कर पहले संख्यातगुणवृद्ध पर्यन्त जितने स्थान जिस क्रम से कहे हैं, उतने उसी प्रमाण कहना चाहिये। तत्पश्चात् असंख्यातगुण अधिक स्पर्धक वाला पहला स्थान होता है। तत्पश्चात् शुरू से लगाकर यहाँ तक जितने शरीरस्थान जिस रीति से पूर्व में कहे हैं, उतने उसी प्रकार से कहकर दूसरा असंख्यातगुणाधिक स्थान होता है। फिर उतने ही स्थान कहने के पश्चात् तीसरा असंख्यातगुणवृद्ध स्थान होता है। इस प्रकार से असंख्यातगुणवृद्ध स्थान भी कंडक प्रमाण होते हैं।

अन्तिम असंख्यातगुणवृद्ध स्थान के बाद मूल से लेकर पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान पर्यन्त जितने स्थान जिस क्रम से कहे हैं, उतने उसी प्रकार से कहना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्व के अनन्तर स्थान की अपेक्षा अनन्त गुणाधिक स्पर्धक वाला पहला शरीरस्थान होता है। उसके बाद मूल से लेकर यहाँ तक जितने शरीरस्थान पूर्व में कहे गये हैं, उतने ही उसी क्रम से कहना चाहिये। उसके बाद दूसरा अनन्तगुणाधिक स्पर्धक वाला स्थान होता है। तत्पश्चात् पहले और दूसरे अनन्तगुणवृद्ध स्थान के बीच में जो स्थान जिस क्रम में कहे हैं, उसी प्रकार समस्त स्थानों को कहकर अनन्त गुणाधिक स्पर्धक वाला स्थान कहना चाहिये। इस प्रकार से अनन्तगुणाधिक शरीरस्थान का कंडक पूर्ण होता है।

अन्तिम बार अनन्तगुणाधिक वाला स्थान कहने के बाद मूल से लेकर पहले अनन्तगुणवृद्ध स्थान पर्यन्त जो पंच वृद्ध्यात्मक स्थान कहे हैं, उसी तरह सभी स्थान कहना चाहिये, परन्तु उसके बाद अनन्तगुणवृद्ध स्थान नहीं कहना चाहिये। इसका कारण यह है कि यहाँ पहला षट्स्थान समाप्त होता है, और अनन्तगुण वृद्धि के पश्चात् पुनः अनन्तगुण वृद्धि नहीं होती है।

इस प्रकार प्रथम षट्स्थान की प्ररूपणा जानना चाहिये।

तत्पश्चात् दूसरा षट्स्थान प्रारम्भ होता है, दूसरे षट्स्थान की आदि में एक कंडक प्रमाण अनन्तभागवृद्धि वाले स्थान होते हैं। उसके बाद अनन्तभागवृद्ध स्थान कंडक से व्यवहित असंख्यातभाग-वृद्ध स्थान कंडक जितने होते हैं। इस तरह पहला षट् स्थान जिस क्रम से कहा है, उसी प्रकार अनन्तभाग, असंख्यातभाग, संख्यातभाग, संख्यातगुण, असंख्यातगुण और अनन्तगुण ये छहों वृद्धियाँ होती हैं और तब दूसरा षट्स्थानक पूर्ण होने के पश्चात् पूर्वोक्त क्रम से तीसरा षट्स्थानक पूर्ण हो जाता है[1]।

---

१. असत्कल्पना से षट्स्थान प्ररूपणा का आशय 'कर्मप्रकृति' के परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार के षट्स्थानक कितने होते हैं ? तो इसके उत्तर में आचार्य सूत्र और कंडक का लक्षण कहते हैं---

अस्संखलोग तुल्ला अणंतगुणरसजुया य इय ठाणा ।
कंडंति एत्थ भन्नइ अंगुलभागो असंखेज्जो ॥३५॥

शब्दार्थ—**अस्संखलोग तुल्ला**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **अणंतगुणरसजुया**—अनन्त गुण स्नेह से युक्त, **य**—और, **इय**—ये, **ठाणा**—शरीरस्थान, **कंडंति**—कंडक यह, **एत्थ**—यहाँ, **भन्नइ**—कहते हैं, **अंगुलभागो असंखेज्जो**—अंगुल के असंख्यातवें भाग ।

गाथार्थ—इस प्रकार अनन्तगुण स्नेह से युक्त असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण शरीरस्थान होते हैं । यहाँ कंडक यह अंगुल के असंख्यातवें भाग (गत प्रदेशों) की संख्या को कहते हैं ।

विशेषार्थ—पूर्व में बताये गये छह प्रकार की वृद्धि वाले शरीरस्थानों के प्रमाण का यहाँ निर्देश किया है कि अनन्तगुण स्नेह से युक्त वे स्थान कुल मिलाकर '**अस्संखलोगतुल्ला**' —असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं और इसी प्रकार से असंख्येय गुण स्नेहादि से युक्त भी प्रत्येक स्थान असंख्यातलोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं ।

इस प्रकार से समस्त शरीरस्थानों का प्रमाण बतलाने के बाद अब पूर्व में आगत कंडक शब्द का लक्षण कहते हैं कि स्थान के विचार में अंगुल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उस संख्या की कंडक यह संज्ञा है । अर्थात् अंगुल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश हैं, उनकी कुल मिलाकर जितनी संख्या होती है उतनी संख्या की शास्त्रीय भाषा में कंडक यह संज्ञा है ।

अब उन-उन बंधनयोग्य शरीर के परमाणुओं के अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

१. औदारिक-औदारिक बंधन योग्य पुद्गल परमाणु अल्प हैं । उससे औदारिक-तैजस बंधनयोग्य पुद्गल अनन्तगुणे हैं । उससे

औदारिक-कार्मण बंधनयोग्य पुद्‌गल अनन्त गुणे हैं, और उससे औदारिक-तैजस-कार्मणबंधन योग्य पुद्‌गल अनन्त गुणे हैं।

२. वैक्रिय-वैक्रिय बंधनयोग्य पुद्‌गल अल्प हैं, उससे वैक्रिय-तैजस बंधन योग्य पुद्‌गल अनन्तगुणे हैं। उससे वैक्रिय-कार्मण बंधन योग्य पुद्‌गल अनन्त गुणे हैं और उससे वैक्रिय-तैजस-कार्मण बंधनयोग्य पुद्‌गल अनन्त गुणे हैं।

३. आहारक-आहारक बंधनयोग्य पुद्‌गल अल्प हैं। उसकी अपेक्षा आहारक-तैजस बंधन योग्य पुद्‌गल अनन्तगुणे हैं। उससे आहारक-कार्मण बंधनयोग्य पुद्‌गल अनन्तगुणे हैं और उससे आहारक-तैजस-कार्मणबंधन योग्य पुद्‌गल अनन्तगुणे हैं।

४. उससे तैजस-तैजस बंधन योग्य पुद्‌गल अनन्त गुणे हैं। उससे तैजस-कार्मणबंधन योग्य पुद्‌गल अनन्तगुणे हैं। और उससे कार्मण-कार्मण बंधन योग्य पुद्‌गल अनन्तगुणे हैं।

बंधननामकर्म के अधिकतम पन्द्रह भेद होते हैं, उन्हीं की अपेक्षा यहाँ अल्पबहुत्व का कथन किया है। जिसका आशय यह है कि, औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों से बंधने वाले अपने-अपने नाम वाले बंधन योग्य पुद्‌गल परमाणु अल्प होते हैं, उससे तैजस, कार्मण और तैजस-कार्मण बंधन योग्य परमाणु क्रमशः अनन्तगुणे अनन्तगुणे हैं, और तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण तथा कार्मण-कार्मण बंधन योग्य परमाणु अनन्तगुण अनन्तगुण ही होते हैं। सामान्य से तो इन तैजस आदि बंधनों में अल्पबहुत्व नहीं माना जा सकता है, लेकिन विशेषापेक्षा मान भी लिया जाये तो अनन्त के अनन्त भेद होने से अनन्तगुणता में कोई अन्तर नहीं आयेगा अनन्तगुण ही कहलायेगा।

सुगमता से समझने के लिए उक्त कथन का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

१. औदारिक-औदारिक	बंधन योग्य	स्तोक
,, तैजस	,,	अनन्तगुण
,, कार्मण	,,	,,
,, तैजस कार्मण	,,	,,
२. वैक्रिय-वैक्रिय	,,	स्तोक
,, तैजस	,,	अनन्तगुण
,, कार्मण	,,	,,
,, तैजसकार्मण	,,	,,
३. आहारक-आहारक	,,	स्तोक
,, तैजस	,,	अनन्तगुण
,, कार्मण	,,	,,
,, तैजसकार्मण	,,	,,
४. तैजस-तैजस	,,	,,
तैजस-कार्मण	,,	,,
कार्मण-कार्मण	,,	,,

इस प्रकार से नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये। अब प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का विचार करते हैं।

प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा—प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के विचार के आठ अनुयोगद्वार हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं–१. अविभाग प्ररूपणा, २. वर्गणा प्ररूपणा, ३. स्पर्धक प्ररूपणा, ४. अन्तर प्ररूपणा, ५. स्थान प्ररूपणा, ६. कंडक प्ररूपणा, ७. षट्स्थान प्ररूपणा और ८. वर्गणागत स्नेहाविभाग सकल समुदाय प्ररूपणा।

इन द्वारों का वर्णन करने के पूर्व सर्वप्रथम प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक शब्द का अर्थ कहते हैं—

होई पओगो जोगो तट्ठाणविवड्ढणाए जो उ रसो।
परिवड्ढेइ जीवे पओगफड्डं तयं बेंति ॥३६॥

शब्दार्थ—**होई**—होता है, **पओगो**—प्रयोग, **जोगो**—योग, **तट्ठाणविवड्ढणाए**—उस स्थान (योगस्थान) की वृद्धि से, **जो**—जो, **उ**—और, **रसो**—

रस, **परिवड्ढेइ**—वृद्धिगत, **जीवे**—जीव में, **पओगफड्डं**—प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक, **तयं**—उसको, **बेंति**— कहते हैं ।

गाथार्थ—प्रयोग यानि योग, उस स्थान की वृद्धि द्वारा जो रस स्पर्धक रूप से वृद्धिगत होता है, उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं ।

विशेषार्थ—प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की प्ररूपणा प्रारम्भ करने के पूर्व गाथा में प्रयोग प्रत्ययस्पर्धक का स्वरूप स्पष्ट किया है कि **होई पओगो जोगो** यानि यहाँ प्रयोग शब्द से योगस्थान ग्रहण करना चाहिये । उसकी वृद्धि द्वारा केवल योग के निमित्त से बंधे हुए कर्म-परमाणुओं में जो रस स्नेहस्पर्धक के रूप में वृद्धिगत होता है, स्पर्धक रूप परिणाम को प्राप्त होता है, वह प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहलाता है और उसकी प्ररूपणा करने को प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहते हैं । ग्रंथकार आचार्य ने अपनी स्वोपज्ञटीका में इसी आशय को विशेषता के साथ स्पष्ट किया है—**प्रकृष्टो वा योगो व्यापारः तद्धेतु गृहीत पुद्गल स्नेहस्य प्ररूपणा प्रयोगस्पर्धकप्ररूपणेति**—प्रकृष्ट योग व्यापार के निमित्त से ग्रहण किये गये पुद्गलों के स्नेह की प्ररूपणा को प्रयोग-प्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहते हैं ।[1]

ग्रंथकार आचार्य ने गाथा में स्नेह का बोध कराने के लिये रस शब्द का प्रयोग किया है । अतएव उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि स्नेह और कर्मगत वह शक्तिविशेष जो ज्ञानादि को अल्पाधिक प्रमाण में आच्छादित करती है अथवा सुख-दुःखादि का

---

१. कर्म प्रकृति टीका में उपाध्याय यशोविजय जी के प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की व्याख्या इस प्रकार की है—तत्र प्रयोगो योगः प्रकृष्टो योग इति व्युत्पत्तेः तत्स्थानवृद्ध्या यो रसः कर्मपरमाणुषु केवलयोगप्रत्ययतो बध्यमानेषु परिवर्धते स्पर्धकरूपतया प्रत्प्रयोगप्रत्ययम् स्पर्धकम् ।

वेदन कराती है और जिसकी रस यह संज्ञा है, दोनों एक होना चाहिये।

परन्तु पुद्गलगत स्नेह और अनुभाग रूप रस दोनों एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। उन दोनों के पार्थक्य के कारण इस प्रकार हैं—

कार्यभेद—कर्मपुद्गलों को जीव के साथ सम्बन्धित करना स्नेह का कार्य है और कर्म के स्वभावानुरूप तीव्रमंदादि शुभाशुभ रूप अनुभव कराना अनुभाग रूप रस का कार्य है। इस प्रकार के कार्य भेद से स्नेह और अनुभाग रूप रस भिन्न हैं।

कारणभेद—कर्मस्कन्ध गत स्नेह का कारण स्निग्ध स्पर्श रूप पुद्गल गुण है और अनुभाग रूप रस के कारण जीव के काषायिक अध्यवसाय हैं। इन प्रकार कारणभेद से स्नेह और रस भिन्न-भिन्न हैं।

पर्यायभेद—स्नेह स्निग्ध स्पर्श की पर्याय है और रस काषायिक अध्यवसायों से संयुक्त कर्मदलिक की पर्याय है।

वस्तुभेद—स्नेह कर्माणुओं में विद्यमान स्निग्ध स्पर्श है और अनुभाग रस तदनुरूप अनुभव की तीव्रता-मंदता है।

उत्पत्तिभेद—स्नेहाविभाग कार्मणवर्गणा के पुद्गलों की कर्म रूप से परिणत होने के पूर्व से भी उत्पन्न हुए होते हैं और अनुभाग रूप रस की उत्पत्ति कर्म परिणाम से परिणत होने के समय ही कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों में उत्पन्न होती है। अर्थात् जीव के साथ सम्बद्ध होने के समय ही अनुभाग शक्ति—रस की उत्पत्ति होती है।

प्ररूपणाभेद—स्नेह की प्ररूपणा स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय रूप में की जाती है और अनुभाग रूप रस की प्ररूपणा शुभ-अशुभ, घाति-अघाति, एकस्थानक, द्विस्थानक आदि के रूप में।

सारांश यह है कि उपर्युक्त हेतु स्नेह और अनुभाग रूप रस की भिन्नता के निमित्त हैं। अतएव यहाँ रस शब्द का प्रयोग किये जाने

पर भी उसे स्नेहवाचक समझना चाहिये और अनुभाग के प्रसंग में यदि स्नेह शब्द का प्रयोग आये तो वहाँ वह कर्म रस का वाचक जानना चाहिये किन्तु स्निग्ध स्पर्श-वाचक नहीं।

इस प्रकार प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक के अर्थ का निर्देश करने के पश्चात् अब उसके अविभाग प्ररूपणा आदि अधिकारों का वर्णन करते हैं।

अविभागवग्गफड्डगअंतरठाणाइ एत्थ जह पुव्विं।
ठाणाइवग्गणाओ अणंतगुणणाए गच्छंति ।।३७।।

शब्दार्थ—**अविभाग**—अविभाग, **वग्ग**—वर्गणा, **फड्डग**—स्पर्धक, **अंतर**—अंतर, **ठाणाइ**—स्थान आदि का स्वरूप, **एत्थ**—यहां, **जह**—यथा, जैसा, **पुव्विं**—पूर्व में, **ठाणाइवग्गणाओ**—(प्रत्येक) स्थान की आदि वर्गणा में, **अणंतगुणणाए**—अनन्त गुण, **गच्छंति**—होते हैं।

गाथार्थ—अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान आदि का स्वरूप जैसा पूर्व में कहा है, वैसा ही यहाँ जानना चाहिये तथा प्रत्येक स्थान की आदि वर्गणा में अनन्तगुण स्नेहाणु होते हैं।

विशेषार्थ—प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के विषय में जो अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, और आदि शब्द से ग्रहणीय कंडक का स्वरूप जैसा पूर्व में नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के प्रसंग में वर्णित है, तदनुरूप यहाँ समझना चाहिये तथा—

प्रत्येक स्थान के प्रथम स्पर्धक की पहली वर्गणागत पुद्गल परमाणुओं में के समस्त स्नेहाविभाग अनन्तगुण होते हैं, तथापि वे अल्प हैं, उसकी अपेक्षा दूसरे स्थान की पहली वर्गणा में अनन्तगुणे होते हैं, उससे तीसरे स्थान की पहली वर्गणा में अनन्तगुणे होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान की पहली वर्गणा से उत्तरोत्तर स्थान की पहली-पहली वर्गणा में अनन्तगुणे-अनन्तगुणे स्नेहाविभाग अन्तिम स्थान पर्यन्त जानना चाहिये—'ठाणाइवग्गणाओ अणंतगुणणाए गच्छंति'

इस प्रकार से प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का वर्णन करने के पश्चात अब उक्त तीनों प्ररूपणाओं के वर्गणागत स्नेहाविभागों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं।

स्नेहाविभाग अल्पबहुत्व

तिण्हंपि फड्डगाणं जहन्नउक्कोसगा कमा ठविउं।
नेयाणंतगुणाओ वग्गणा णेहफड्डाओ ॥३८॥

शब्दार्थ—तिण्हंपि फड्डगाणं—तीनों स्पर्धकों की, **जहन्नउक्कोसगा**—जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणा, **कमा**—अनुक्रम से, **ठविउं**—स्थापित करके, **नेयाणंतगुणाओ**—अनन्त गुण जानना चाहिये, **वग्गणा**—वर्गणा, **णेहफड्डाओ**—स्नेहप्रत्ययस्पर्धक से।

गाथार्थ—तीनों स्पर्धकों की जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणा अनुक्रम से स्थापित करके पहली स्नेहप्रत्ययवर्गणा से शेष उत्तर-उत्तर की वर्गणायें अनन्तगुण जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ स्नेह, नाम और प्रयोग प्रत्ययिक स्पर्धकों की प्ररूपणा की जा रही है और स्पर्धक वर्गणाओं के समूह को कहते हैं तथा वर्गणायें स्नेहगुण से समन्वित परमाणुओं से बनती हैं। अतएव गाथा में यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक की जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा में कितने स्नेहाविभाग होते हैं। इसको स्पष्ट करने का सूत्र इस प्रकार है—

'तिण्हंपि फड्डगाणं' अर्थात् स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय ओर प्रयोग-प्रत्यय इन तीनों की सर्वप्रथम जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणा 'कमा ठविउं' अनुक्रम से स्थापित करें और स्थापित करके अपनी-अपनी जघन्य वर्गणा से स्वयं की उत्कृष्ट वर्गणा अनन्त गुणी जानना चाहिये। वह इस प्रकार है—

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा में स्नेहाविभाग अल्प हैं, उससे उसकी उत्कृष्ट वर्गणा में अनन्तगुणे स्नेहाविभाग होते हैं,

उससे नामप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा में अनन्त गुणे स्नेहाविभाग हैं, उससे उसी की उत्कृष्ट वर्गणा में अनन्त गुणे स्नेहाविभाग होते हैं, उससे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा में अनन्त गुणे और उससे उसी की उत्कृष्ट वर्गणा में अनन्त गुणे स्नेहाविभाग होते हैं।

सरलता से समझने के लिए जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

स्पर्धक नाम	वर्गणा स्थापना	स्नेहाणुओं का प्रमाण
१. स्नेहप्रत्यय	जघन्य	स्तोक, अल्प, उससे
	उत्कृष्ट	अनंतगुण उससे
२. नामप्रत्यय	जघन्य	,, ,,
	उत्कृष्ट	,, ,,
३. प्रयोगप्रत्यय	जघन्य	,, ,,
	उत्कृष्ट	,, ,,

इस प्रकार पुद्गल परमाणुओं के सम्बन्ध की कारणभूत स्नेह प्ररूपणा जानना चाहिये।

जीव और कर्मपरमाणुओं का सम्बन्ध स्नेहप्रत्ययिक है, यह स्पष्ट हो जाने पर जिज्ञासु पूछता है कि जीव के साथ सम्बद्ध हुए उन कर्मपरमाणुओं में क्या विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं और उनका स्वरूप क्या है ? इसका समाधान करने के लिये आचार्य बंधनकरण की सामर्थ्य से बंधने वाली मूल और उत्तर प्रकृतियों का विभाग बताने के लिये गाथा सूत्र कहते हैं।

प्रकृति विभाग का कारण

अणुभागविसेसाओ मूलुत्तरपगइभेयकरणं तु।
तुल्लस्सावि दलस्सा पगइओ गोणनामाओ ॥३६॥

शब्दार्थ—**अणुभागविसेसाओ**—अनुभाग की विशेषता से, **मूलुत्तरपगइ-भेयकरणं**—मूल और उत्तर प्रकृतियों का भेद होता है, **तु**—और, **तुल्लस्सावि दलस्सा**—दलिकों के तुल्य होने पर भी, **पगइओ**—प्रकृतियां, **गोणनामाओ**—गुणनिष्पन्न नाम वाली।

गाथार्थ—कर्म रूप में दलिकों के समान होने पर भी अनुभाग-स्वभाव की विशेषता से मूल और उत्तर प्रकृतियों का भेद होता है। ये प्रत्येक प्रकृतियां गुणनिष्पन्न नाम वाली हैं।

विशेषार्थ—आयुष्मन ! यह ठीक है कि कार्मण वर्गणायें समान हैं और संसारी जीव यावज्जीवन अध्यवसाय-विशेष से समय-समय उन अनन्त कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करता रहता है, लेकिन ग्रहण समय में ही जीव के परिणामानुसार उन कार्मण-वर्गणा के दलिकों में ज्ञान गुण का आवरण करना, दर्शन गुण का आवरण करना इत्यादि रूप भिन्न-भिन्न स्वभावों को उत्पन्न करता है और स्वभावभेद से वस्तु का भेद—भिन्नता, पार्थक्य सुप्रतीत ही है, यथा घट और पट। इसी प्रकार कर्मदलिक कर्मस्वरूप से समान होने पर भी ज्ञाना-वरणत्वादि भिन्न-भिन्न स्वभाव के भेद से मूल और उत्तर प्रकृतियों के भी भिन्न-भिन्न प्रकार हो जाते हैं।

समय-समय ग्रहण की गई कार्मण वर्गणाओं में जीव अध्यवसाया-नुसार भिन्न-भिन्न अनुभाग-स्वभाव को स्वभाव-सामर्थ्य से उत्पन्न करने वाला होने से कर्म के मूल भेद आठ और उत्तर भेद एक सौ अट्ठावन होते हैं। ये सभी मूल और उत्तर भेद—प्रकृतियां गुणनिष्पन्न-अन्वर्थ-सार्थक नाम वाली हैं। जैसे कि जिसके द्वारा ज्ञान आच्छादित हो वह ज्ञानावरण, जिसके द्वारा सुख-दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय, जिसके द्वारा मतिज्ञान आवृत हो वह मतिज्ञानावरण, जिसके द्वारा सुख का अनुभव हो वह सातावेदनीय इत्यादि। इस प्रकार सभी मूल और उत्तर प्रकृतियां सार्थक नाम वाली हैं। उन सभी प्रकृतियों के नामों आदि का निरूपण बंधव्य अधिकार में किया जा चुका है।

इस प्रकार सामान्य से मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के विभाग होने का कारण बतलाने के पश्चात् अब प्रकृतिबंध आदि का विस्तार से स्वरूप-निर्देश करते हैं।

प्रकृतिबंधादि के लक्षण

ठिइबंधु दलस्स ठिई पएसबंधो पएसगहणं जं।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबंधो ॥४०॥

शब्दार्थ—**ठिइबंधु**—स्थिति बंध, **दलस्स**—दलिक की, **ठिई**—स्थिति, **पएसबंधो**—प्रदेश बंध, **पएसगहणं**—प्रदेशों का ग्रहण, **जं**—जो, **ताण**—उनका, **रसो**—रस, विपाक शक्ति, **अणुभागो**—अनुभाग बंध, **तस्समुदाओ**—उनका समुदाय, **पगइबंधो**—प्रकृतिबंध।

गाथार्थ—दलिक की स्थिति को स्थितिबंध और प्रदेशों का जो ग्रहण उसे प्रदेशबंध, एवं उनके रस को अनुभागबंध तथा इनके समुदाय को प्रकृतिबंध कहते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में स्थिति, प्रदेश, अनुभाग और प्रकृति बंध का स्वरूप बतलाया है। लेकिन कर्मवर्गणायें पौद्गलिक हैं। अतः उनके प्रदेश होते हैं। इसलिये सुगमता से बोध कराने के लिये प्रदेशबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रकृतिबंध के क्रम से विवेचना करते हैं—

'पएसबंधो पएसगहणं' अर्थात् जीव जो अपने अध्यवसायविशेष से प्रति समय अनन्तानन्त कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करता है तथा ग्रहण करके पानी और दूध अथवा अग्नि और लोहपिंड के समान अपने साथ एकमेक रूप में सम्बद्ध-संयुक्त कर लेता है उसे प्रदेशबंध कहते हैं।

उनके काल का निश्चय अर्थात् अमुक कर्म रूप में परिणमित हुई वर्गणाओं का फल अमुक काल पर्यन्त अनुभव किया जायेगा, ऐसा जो निर्णय उसे स्थितिबंध कहते हैं—'ठिइबंधु दलस्सठिई। कर्मरूप

परिणाम को प्राप्त हुई वर्गणाओं का फल क्रमपूर्वक अनुभव किया जाता है, अतएव उसकी जो स्थापना—रचना होती है, उसे निषेक-रचना कहते हैं। विवक्षित समय में परिणामानुसार जितनी स्थिति का बंध हुआ हो उसके प्रमाण में अबाधाकाल को छोड़कर निषेक रचना होती है और उस रचना के अनुसार जीव फल का अनुभव करता है। इस प्रकार के कर्मवर्गणाओं के काल प्रमाण को स्थिति-बंध कहते हैं।

हीनाधिक प्रमाण में आत्मा के गुणों को आच्छादित कर सके एवं अल्पाधिक प्रमाण में सुख-दुःखादि दे सके ऐसे परिणमन का अनुसरण करके कर्मपरमाणुओं में जो शक्ति उत्पन्न होती है वह रसबंध—अनु-भामबंध कहलाता है—'ताण रसो अणुभागो।' तथा—

'तस्समुदाओ पगइबंधो' अर्थात् उन तीनों का समुदाय प्रकृतिबंध है। यानि पूर्वोक्त प्रदेश, स्थिति और रस का समुदाय प्रकृतिबंध है। जैसे हाथ-पैर आदि अवयवों के समूह को शरीर कहा जाता है और शरीर एवं उन अवयवों का अवयव-अवयवी सम्बन्ध है, वैसे ही स्थिति, रस और प्रदेश के समूह को प्रकृतिबंध कहते हैं। प्रकृतिबंध और स्थिति आदि के समूह का अवयव-अवयवीभाव सम्बन्ध है। प्रकृतिबंध अवयवी है और स्थिति आदि उसके अवयव हैं।

प्रकृतिबंध का पूर्वोक्त लक्षण कषाय के निमित्त से दसवें गुण-स्थान तक जो कर्मबंध होता है, उसकी अपेक्षा जानना चाहिये। क्योंकि उसमें कषाय के निमित्त से स्थिति और रस उत्पन्न हुआ होता है, परन्तु ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त योग के निमित्त से बंधने वाले कर्म की अपेक्षा यह लक्षण नहीं समझना चाहिये। क्योंकि उसमें कषाय का अभाव होने से स्थिति और रस नहीं होता है। इसलिये कषाय के योग से बंधने वाले कर्म की अपेक्षा यह लक्षण है।

प्रकारान्तर से अब इसका दूसरा स्पष्टीकरण करते हैं—केवल योग के निमित्त से बंधने वाले कर्म की भी दो समय की स्थिति है

और आवारक शक्ति बिना का भी कोई रस है। अतएव वहाँ भी उपर्युक्त प्रकृतिबंध का लक्षण घटित कर लेना चाहिये।

इस विषय में अन्य कतिपय आचार्यों का मंतव्य इस प्रकार है—कर्मवर्गणाओं में ज्ञानाच्छादक आदि पृथक्-पृथक जो स्वभाव उत्पन्न होते हैं, वे ही प्रकृतिबंध हैं। पूर्व में सामान्य रूप में कार्मण वर्गणा थी। बंध समय में उसके अन्दर परिणामानुसार भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाते हैं और उत्पन्न हुए भिन-भिन स्वभावों को ही प्रकृतिबंध कहा जाता है, किन्तु तीनों के समुदाय को नहीं। इस प्रकार यह प्रकृतिबंध का स्वतन्त्र लक्षण है जो प्रत्येक स्थान में होने वाले कर्मबंध में घटित हो सकता है। इसका कारण यह है कि मात्र योग के निमित्त से बंधने वाले कर्म में भी स्वभाव और प्रदेश तो होते ही हैं। इस प्रकार उनके अभिप्राय से अध्यवसाय के अनुरूप उत्पन्न हुए भिन्न-भिन्न स्वभावों को प्रकृतिबंध, काल के निर्णय को स्थितिबंध, आवारक शक्ति को रसबंध और कर्म पुद्‌गलों का ही आत्मा के साथ जो सम्बन्ध उसे प्रदेशबंध कहा जाता है।

इस प्रकार से प्रकृतिबंध आदि चारों का स्वरूप जानना चाहिये। प्रकृतियों के लक्षण आदि विस्तार से पूर्व में कहे जा चुके हैं अतएव प्रकृतिबंध के रूप में अन्य कुछ कहना शेष नहीं रहने से अब प्रदेश-बंध का निरूपण करते हैं।

प्रदेशबंध का लक्षण पूर्व में बताया जा चुका है कि 'पएसबंधो पएसगहणं जं।' अतएव अब मूल और उत्तर प्रकृतियों में जिस रीति से दलिक-विभाग होता है, उसका कथन करते हैं।

प्रकृतियों में दलिक-विभाग विधि

मूलुत्तरपगईणं पुव्वं दलभागसंभवो वुत्तो।
रसभेएणं इत्तो मोहावरणाण निसुणेह ॥४१॥

शब्दार्थ—**मूलुत्तरपगईणं**—मूल और उत्तर प्रकृतियों का, **पुव्वं**—पहले, **दलभागसंभवो**—दलिकों का भाग रूप संभव प्रमाण, **वुत्तो**—कहा है,

रसभेएणं—रस के भेद से, **इत्तो**—अब, **मोहावरणाण**—मोहनीय आवरणद्विक के, **निसुणेह**—सुनो ।

गाथार्थ—पहले मूल और उत्तर प्रकृतियों के दलिकों का भाग रूप संभव प्रमाण कहा है। अब रस के भेद से मोहनीय और आवरणद्विक के भाग के प्रमाण को सुनो ।

विशेषार्थ—यद्यपि पहले बंधविधि अधिकार में 'कमसो वुड्ढ्ठिईणं' (गाथा ७८) एवं उसकी अनन्तरवर्ती अन्य गाथाओं में मूल और उत्तर प्रकृतियों सम्बन्धी कर्मवर्गणाओं के भाग का प्रमाण कहा जा चुका है कि स्थितिविशेष से किस कर्म के रूप में कितनी वर्गणायें परिणमित होती हैं। लेकिन यहाँ उसी प्रकार से दलिक विभाग का पुनः कथन न करके घाति मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और नाम कर्मों में घाति एवं अघाति रूप रस की अपेक्षा दल विभाग का प्रमाण बतलाते हैं। अर्थात् कर्म रूप में परिणमित हुई वर्गणाओं में से सर्वघाति और देशघाति के रूप में कितनी-कितनी वर्गणायें परिणमित होती हैं, इसको स्पष्ट करते हैं। यह कथन प्रदेशों के सहकार से किया जा सकता है। अतएव उन्हीं का आलंबन लेकर विशेषता से करते हैं। वह इस प्रकार—

कर्मों को उन-उनकी स्थिति के प्रमाण में भाग प्राप्त होता है। अर्थात् किसी भी कर्म रूप में अमुक प्रमाण में वर्गणाओं का जो परिणमन होता है, वह उसकी स्थिति के प्रमाण में होता है। जिसकी स्थिति अधिक होती है, उस रूप में अधिक वर्गणायें और जिसकी स्थिति अल्प होती है उस रूप में अल्प वर्गणायें परिणमित होती हैं उसके भाग में थोड़ी वर्गणायें आती हैं। जैसे कि दूसरे कर्मों से अल्प स्थिति होने से आयु का भाग सबसे अल्प है। क्योंकि उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम प्रमाण है। बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति होने से आयु कर्म की अपेक्षा नाम और गोत्र कर्म का भाग अधिक है, किन्तु स्वस्थान में दोनों की स्थिति समान होने से परस्पर तुल्य है। उनकी अपेक्षा ज्ञानावरण,

दर्शनावरण और अन्तराय का भाग बड़ा है। क्योंकि इन तीनों की उत्कृष्ट स्थिति तीस-तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम है और परस्पर में तीनों की समान स्थिति होने से समान भाग है। उनकी अपेक्षा सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति होने से मोहनीय का भाग अधिक है, लेकिन वेदनीय कर्म का भाग मोहनीय की अपेक्षा भी अधिक है। इसका कारण यह है कि ज्ञानावरणादि घातित्रिक के बराबर वेदनीय की भी तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की स्थिति है फिर भी मोहनीय कर्म के रूप में जितना दल परिणमित होता है, उसकी अपेक्षा भी अधिक दलिक यदि वेदनीय कर्म रूप में परिणमित न हो तो वह अपने फल-सुख और दुःख का स्पष्ट अनुभव नहीं करा सकता है। वह अत्यन्त स्पष्ट सुख और दुःख का अनुभव इस कारण कराता है कि उसके भाग में अधिक दलिक आते हैं क्योंकि वेदनीय अघाती कर्म है।

इस प्रकार सामान्य से दल-विभाग का संकेत करने के बाद अब अल्पबहुत्व बतलाते हैं। क्योंकि उत्कृष्ट योग होने पर जीव अधिक से अधिक वर्गणायें और जघन्य योग होने पर कम से कम वर्गणायें ग्रहण करता है। इसलिये किस प्रकृति रूप में किस प्रमाण में वर्गणायें परिणमित होती हैं, इसको स्पष्ट करते हैं।

उत्कृष्ट पद में प्रदेशों का अल्पबहुत्व

ज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे मनपर्यायज्ञानावरण का अनन्तगुण, उससे अवधिज्ञानावरण का विशेषाधिक, उससे श्रुतज्ञानावरण का विशेषाधिक और उससे मति-ज्ञानावरण का विशेषाधिक है।

दर्शनावरण—प्रचला का प्रदेश प्रमाण सबसे अल्प है, उससे निद्रा का विशेषाधिक, उससे प्रचला-प्रचला का विशेषाधिक, उससे निद्रा-निद्रा का विशेषाधिक, उससे स्त्यानर्द्धि का विशेषाधिक, उससे केवल-दर्शनावरण का विशेषाधिक, उससे अवधिदर्शनावरण का अनन्तगुण उससे अचक्षुदर्शनावरण का विशेषाधिक, उससे चक्षुदर्शनावरण का विशेषाधिक दलिक है।

वेदनीय—असातावेदनीय का प्रदेश प्रमाण सर्वाल्प है, उससे सातावेदनीय का विशेषाधिक है।

मोहनीय—सबसे अल्प अप्रत्याख्यानावरण मान का दल विभाग है, उससे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का विशेषाधिक, उससे अप्रत्याख्यानावरण माया का विशेषाधिक, उससे अप्रत्याख्यानावरण लोभ का विशेषाधिक, उससे प्रत्याख्यानावरण मान का विशेषाधिक, उससे प्रत्याख्यानावरण क्रोध का विशेषाधिक, उससे प्रत्याख्यानावरण माया का विशेषाधिक, उससे प्रत्याख्यानावरण लोभ का विशेषाधिक है, उससे अनन्तानुबंधि मान का विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधि क्रोध का विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधि माया का विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधि लोभ का विशेषाधिक, उससे मिथ्यात्व का विशेषाधिक, उससे जुगुप्सा का अनन्तगुण, उससे भय का विशेषाधिक, उससे हास्य और शोक का विशेषाधिक और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे रति और अरति का विशेषाधिक और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद का विशेषाधिक और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे संज्वलन क्रोध का विशेषाधिक, उससे संज्वलन मान का विशेषाधिक, उससे पुरुषवेद का विशेषाधिक, उससे संज्वलन माया का विशेषाधिक और उससे संज्वलन लोभ का असंख्यातगुण दल विभाग है।

आयुकर्म—आयुचतुष्क का दल विभाग परस्पर तुल्य है।

नामकर्म—देव और नरक गति का दल विभाग अल्प है, और स्वस्थान में तुल्य है, उससे मनुष्य गति का विशेषाधिक है, उससे तिर्यंच गति का विशेषाधिक है।

जातिनामकर्म में द्वीन्द्रियादि जातिचतुष्क का प्रदेश प्रमाण अल्प है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है, उससे एकेन्द्रिय जाति का विशेषाधिक है।

शरीरनामकर्म में आहारक शरीर का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे वैक्रिय शरीर का विशेषाधिक है, उससे औदारिक शरीर का

विशेषाधिक, उससे तैजस का विशेषाधिक और उससे कार्मण-शरीर नाम का विशेषाधिक है।

संघातनामकर्म का अल्प-बहुत्व शरीरनामकर्म के अनुसार जानना चाहिये।

बंधननामकर्म में आहारक-आहारक बंधन का दल विभाग अल्प है, उससे आहारक-तैजस बंधन का विशेषाधिक, उससे आहारक-कार्मण का विशेषाधिक और उससे आहारक-तैजस-कार्मण का विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-वैक्रिय बंधन का विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-तैजस-बंधन का विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-कार्मण का विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-तैजस-कार्मणबंधन का विशेषाधिक है, उससे औदारिक-औदारिक बंधन का विशेषाधिक है, उससे औदारिक-तैजस बंधन का विशेषाधिक है, उससे औदारिक-कार्मण का विशेषाधिक है, उससे औदारिक-तैजस-कार्मण का विशेषाधिक है, उससे तैजस-तैजस बंधन का विशेषाधिक है, उससे तैजस-कार्मण का विशेषाधिक है और उससे कार्मण-कार्मण-बंधन का विशेषाधिक दल विभाग है।

संस्थाननामकर्म में प्रथम और अंतिम को छोड़कर मध्यवर्ती चार संस्थानों का प्रदेश प्रमाण अल्प है और स्वस्थान में चारों का परस्पर तुल्य है, उससे प्रथम समचतुरस्र संस्थान नाम का विशेषाधिक है और उससे हुण्डक संस्थान नाम का प्रदेश प्रमाण विशेषाधिक है।

संहनननामकर्म में आदि के पांच संहननों का दल विभाग अल्प है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है एवं उससे छठे सेवार्त संहनन नामकर्म का दल विभाग विशेषाधिक है।

अंगोपांगनामकर्म में आहारक-अंगोपांग का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे वैक्रिय-अंगोपांग का विशेषाधिक है और उससे औदारिक-अंगोपांग का प्रदेश प्रमाण विशेषाधिक है।

वर्णनाम में कृष्ण वर्ण का प्रदेशाग्र अल्प है, उससे नील वर्ण का विशेषाधिक है, उससे लोहित वर्ण का विशेषाधिक है, उससे पीत वर्ण

का विशेषाधिक है और उससे श्वेत वर्ण का दल प्रमाण विशेषाधिक है।

गंधनाम में सुरभिगंध का प्रदेश प्रमाण अल्प है और उससे दुरभिगंध का विशेषाधिक है।

रसनाम में कटुकरस का दल विभाग अल्प है, उससे तिक्त रस का विशेषाधिक, उससे कषाय रस का विशेषाधिक, उससे आम्ल रस का विशेषाधिक और उससे मधुर रस का विशेषाधिक दल विभाग है।

स्पर्शनाम में कर्कश और गुरु स्पर्श का दल विभाग अल्प है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है, उससे मृदु और लघु स्पर्श का विशेषाधिक है तथा स्वस्थान में दोनों का परस्पर तुल्य है, उससे रूक्ष और शीत स्पर्श का विशेषाधिक है एवं स्वस्थान में परस्पर तुल्य है, उससे स्निग्ध और उष्ण स्पर्श का विशेषाधिक है तथा स्वस्थान में परस्पर तुल्य है।

आनुपूर्वीनाम में देवानुपूर्वी एवं नरकानुपूर्वी का प्रदेश प्रमाण अल्प है तथा स्वस्थान में दोनों का परस्पर तुल्य है, उससे मनुष्यानुपूर्वी का विशेषाधिक और उससे तिर्यंगानुपूर्वी नाम का दल प्रमाण विशेषाधिक है।

त्रस नाम का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे स्थावर नाम का विशेषाधिक है।

पर्याप्त नाम का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे अपर्याप्त नाम का विशेषाधिक है।

इसी प्रकार स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, सूक्ष्म-बादर और प्रत्येक-साधारण में से पूर्व का अल्प और उत्तर का विशेषाधिक के क्रम से अल्पबहुत्व जानना चाहिए।

अयशःकीर्ति नाम कर्म का प्रदेशाग्र अल्प है, उससे यशःकीर्ति

नाम का संख्यातगुणा है तथा शेष रही आतप, उद्योत, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर-दुःस्वर इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट पद में प्रदेश प्रमाण परस्पर समान तुल्य है।

निर्माण, उच्छ्वास, उपघात, पराघात, अगुरुलघु और तीर्थंकर नाम इन छह प्रकृतियों की विरोधी प्रकृतियों का अभाव होने से अल्प बहुत्व नहीं है। क्योंकि यह अल्पबहुत्व स्वजातीय अन्य प्रकृतियों की अपेक्षा अथवा प्रतिपक्षी प्रकृतियों जैसे सुभग-दुर्भग की अपेक्षा से विचार किया है। किन्तु निर्माण नाम कर्म आदि प्रकृतियाँ परस्पर स्वजातीय नहीं है, तथा न परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि एक साथ इन का बंध हो सकता है।

गोत्र कर्म—नीच गोत्र का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे उच्च गोत्र का विशेषाधिक है।

अन्तराय कर्म—दानान्तराय का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे लाभान्तराय का विशेषाधिक है, उससे भोगान्तराय का विशेषाधिक है, उससे उपभोगान्तराय का विशेषाधिक है और उससे वीर्यान्तराय का विशेषाधिक प्रदेश प्रमाण है।

इस प्रकार से उत्कृष्ट पद में उत्तर प्रकृतियों का प्रदेश प्रमाण का अल्पबहुत्व जानना चाहिये। अब जघन्यपदभावी अल्पबहुत्व का कथन करते हैं।

जघन्य पद में प्रदेशाग्र—अल्पबहुत्व

ज्ञानावरण, दर्शनावरण—जघन्य पद में इन दोनों की उत्तर प्रकृतियों के प्रदेशाग्र का अल्पबहुत्व जैसा उत्कृष्ट पद में कहा गया है, उसी क्रम से समझना चाहिये।

मोहनीय कर्म—अप्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उसकी अपेक्षा अनुक्रम से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, माया और लोभ का विशेषाधिक है। उससे प्रत्याख्यानावरण मान का विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, माया और लोभ का अनुक्रम से विशेषा-

धिक विशेषाधिक है। उससे अनन्तानुबंधि मान का दल प्रमाण विशेषाधिक है, पश्चात् अनुक्रम से अनन्तानुबंधि क्रोध, माया और लोभ का विशेषाधिक है। उससे मिथ्यात्व का दल प्रमाण विशेषाधिक है। उसकी अपेक्षा जुगुप्सा का अनन्त गुण है, उससे भय का विशेषाधिक है, उससे हास्य और शोक का विशेषाधिक है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है। उससे रति और अरति का विशेषाधिक है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है। उसकी अपेक्षा किसी भी एक वेद का विशेषाधिक है, उससे संज्वलन मान, क्रोध, माया, लोभ का अनुक्रम से विशेषाधिक दल प्रमाण है।

आयुकर्म—तिर्यंच और मनुष्य आयु का प्रदेश प्रमाण अल्प है और स्वस्थान में तुल्य है, उनसे देवायु और नरकायु का असंख्यातगुणा है एवं स्वस्थान में तुल्य है।

नामकर्म—तिर्यंचगति का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे मनुष्य गति का विशेषाधिक, उससे देव गति का असंख्यातगुणा और उससे नरक गति का असंख्यगुणा है।

जातिनामकर्म में द्वीन्द्रियादि चार जाति का प्रदेशाग्र अल्प है, उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जाति का विशेषाधिक है।

शरीरनामकर्म में औदारिक शरीर का अल्प प्रदेश प्रमाण है, उससे तैजस नाम का विशेषाधिक, उससे कार्मण का विशेषाधिक, उससे वैक्रिय शरीर का असंख्यातगुण और उससे आहारक शरीर का असंख्यातगुणा है।

शरीरनामकर्म के अनुरूप संघातनामकर्म का भी अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

अंगोपांग नाम कर्म में औदारिक-अंगोपांग का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे वैक्रिय-अंगोपांग का असंख्यातगुण और उससे आहारक-अंगोपांग का असंख्यातगुण है।

आनुपूर्वीनामचतुष्क में देवानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी का प्रदेश प्रमाण

अल्प है, उससे मनुष्यानुपूर्वी का विशेषाधिक है और उससे तिर्यंचानुपूर्वी का विशेषाधिक है।

त्रसनामकर्म का प्रदेशाग्र अल्प है उसकी अपेक्षा स्थावरनाम का विशेषाधिक है। इसी प्रकार बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त और प्रत्येक-साधारण के प्रदेश प्रमाण के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

शेष नामकर्म की प्रकृतियों का अल्पबहुत्व नहीं है। समान भाग में ही प्रदेशों का उनमें विभाग होता है।

इसी प्रकार साता-असाता वेदनीय और उच्च गोत्र-नीच गोत्र का भी अल्पबहुत्व नहीं है।

अन्तरायकर्म में उत्कृष्ट पद के अनुरूप जघन्य पद में भी अल्प-बहुत्व जानना चाहिये।

इस प्रकार से उत्कृष्ट योग एवं जघन्य योग के सद्‌भाव में क्रमशः यथायोग्य अधिक और अल्प वर्गणाओं का ग्रहण होने से उस कर्म रूप में उतनी-उतनी वर्गणायें परिणमित होती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीव उत्कृष्ट प्रदेश ग्रहण करता है तथा मूल अथवा उत्तर कर्म प्रकृतियां अल्प बांधे तब शेष अबध्यमान प्रकृतियों के भाग के दलिक बध्यमान प्रकृतियों को प्राप्त होते हैं और उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम काल में विवक्षित बध्यमान प्रकृति में अन्य प्रकृतियों के प्रभूत कर्म पुद्‌गल संक्रमित होते हैं। इस प्रकार के कारणों के रहने पर उत्कृष्ट प्रदेशाग्र और विपरीत कारणों के सद्‌भाव में जघन्य प्रदेशाग्र होता है। मध्यम योग से ग्रहण की गई वर्गणाओं का उसके अनुसार भाग प्राप्ति समझना चाहिये।

अब पूर्व गाथा में जो मोहनीय और आवरणद्विक में रसभेद से दल विभाग कहने का संकेत किया था तदनुसार उनके दल विभाग का कथन करने के लिये आचार्य गाथा सूत्र कहते हैं।

रसभेद से मोहनीय, आवरणद्विक का प्रदेश विभाग

सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणंतिमो भागो ।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो देसघाईणं ।।४२।।

शब्दार्थ—**सव्वुक्कोसरसो**—सर्वोत्कृष्ट रस, **जो**—जो, **मूलविभागस्सणंतिमो**—मूल विभाग का अनन्तवां, **भागो**—भाग, **सव्वघाईण**—सर्वघाति प्रकृतियों को, **दिज्जइ**—दिया जाता है, **सो**—वह, **इयरो**—इतर, **देसघाईणं**—देशघाति प्रकृतियों को ।

गाथार्थ—सर्वोत्कृष्ट रस वाले मूल विभाग का अनन्तवां भाग सर्वघाति प्रकृतियों को और इतर भाग देशघाति प्रकृतियों को दिया जाता है ।

विशेषार्थ—घाति प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—सर्वघातिनी और देशघातिनी और यह पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक प्रकृति को उस-उसकी स्थिति के अनुसार दलिक भाग प्राप्त होता है । अर्थात् कम स्थिति वाले को कम और अधिक स्थिति वाले को अधिक भाग मिलता है । अतएव स्थिति के अनुसार ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के भाग में जो दलिक आते हैं, उनका सर्वोत्कृष्ट रस वाला अनन्तवां भाग तत्काल बंधने वाली सर्वघाति प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है । यानि विवक्षित समय में बंधने वाली सर्वघाति प्रकृति के रूप में यथायोग्य रीति से परिणत होता है तथा इतर—अनुत्कृष्ट रस वाला शेष रहा दल विभाग वह देशघातिनी कर्म प्रकृतियों में यथायोग्य रीति से विभाजित हो जाता है । अर्थात् बंधने वाली प्रकृति रूप में पूर्व में कहे गये अल्पबहुत्व के प्रमाण में परिणमित होता है—उस रूप होता है ।

विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

स्थिति के अनुसार ज्ञानावरण को जो मूल भाग प्राप्त होता है उसका सर्वोत्कृष्ट रस वाला अनन्तवां भाग सर्वघाती केवलज्ञानावरण रूप में परिणमित होता है और शेष दलिक के चार भाग होकर यथायोग्य रीति से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनपर्यायज्ञानावरण में विभाजित हो जाता है ।

दर्शनावरण कर्म को जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसके उत्कृष्ट रस वाले अनन्तवें भाग के छह भाग होकर दर्शनावरण कर्म की सर्वघातिनी छह प्रकृतियों—पांच निद्राओं और केवलदर्शनावरण में विभाजित हो जाता है और शेष रहे दल के तीन भाग होकर देशघातिनी चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण इन तीन प्रकृतियों में बंट जाता है।

इसी प्रकार से मोहनीय कर्म की सर्वघातिनी एवं देशघातिनी प्रकृतियों के लिये दल विभाग का क्रम जानना चाहिये। जिसका विशदता के साथ वर्णन इस प्रकार है—

उक्कोसरसस्सद्धं मिच्छे अद्धं तु इयरघाईणं।
संजलणनोकसाया सेसं अद्धद्धयं लेंति ॥४३॥

शब्दार्थ—**उक्कोसरसस्सद्धं**—उत्कृष्ट रस वाले दलिक का अर्द्ध भाग, **मिच्छे**—मिथ्यात्व को, **अद्धं**—अर्ध भाग, **तु**—और, **इयरघाईणं**—इतर घाति प्रकृतियों को, **संजलणनोकसाया**—संज्वलन और नोकषायों को, **सेसं**—शेष, **अद्धद्धयं**—अर्ध भाग, **लेंति**—प्राप्त होता है।

गाथार्थ—उत्कृष्ट रस वाले दलिक का अर्ध भाग मिथ्यात्व को और अर्ध इतर घाति प्रकृतियों को प्राप्त होता है तथा शेष रहे अर्ध भाग का अर्ध-अर्ध भाग संज्वलन तथा नोकषायों को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—रस की अपेक्षा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में दल विभाग के क्रम को गाथा में स्पष्ट किया गया है।

मोहनीय कर्म के दो प्रकार हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमें से दर्शनमोहनीय की बंध की अपेक्षा एक मिथ्यात्व प्रकृति है जो सर्वघातिनी है तथा चारित्रमोहनीय के कषाय वेदनीय नोकषाय वेदनीय ये दो भेद हैं। अनन्तानुबंधि क्रोध से संज्वलन लोभ पर्यन्त कषाय वेदनीय के सोलह भेद तथा हास्यादि नपुंसकवेद

पर्यन्त नोकषाय वेदनीय के नौ भेद हैं। इस प्रकार चारित्रमोहनीय की कुल मिलाकर पच्चीस प्रकृतियां हैं। जिनमें से संज्वलन कषाय चतुष्क और नवनोकषाय देशघातिनी प्रकृतियां हैं। शेष अनन्तानुबंधि क्रोध से प्रत्याख्यानावरण लोभ पर्यन्त बारह कषायें सर्वघातिनी हैं।

अतएव मोहनीय कर्म के मूल भाग में के सर्वघाति योग्य सर्वोत्कृष्ट रस वाले दलिक दो भागों में विभाजित हो जाते हैं। उसमें से एक भाग मिथ्यात्वमोहनीय को और एक भाग सर्वघाति आदि की बारह कषायों को प्राप्त होता है।

शेष मूल भाग के पुनः दो भाग होते हैं। उसमें से एक भाग कषाय-मोहनीय की देशघाती संज्वलन कषाय चतुष्क को और एक भाग नोकषाय मोहनीय को मिलता है। जो भाग कषायमोहनीय को प्राप्त होता है, उसके चार भाग होकर एक-एक भाग संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ में बंट जाता है तथा नोकषायमोहनीय को जो भाग प्राप्त होता है उसके पांच भाग होकर तत्काल बंधने वाली हास्य-रति अथवा अरति-शोक युगल में से एक युगल, तीन वेद में से एक वेद और भय एवं जुगुप्सा इन पांच को मिलता है। इसका कारण यह है कि बंधने वाली प्रकृतियों को ही भाग मिलने से नोक-षायमोहनीय को प्राप्त होने वाले दलिक के पांच भाग होते हैं।

इसी प्रसंग में अन्य अघाति और अन्तराय प्रकृतियों के भी दल विभाग का संकेत करते हैं—

स्थिति के अनुसार नामकर्म को जो भाग प्राप्त होता है, वह सब भाग गति, जाति, शरीर, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, अंगोपांग, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, आनुपूर्वी, विहायोगति, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, निर्माण, तीर्थंकर, त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुस्वर, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, यशः-कीर्ति और अयशःकीर्ति, इतनी प्रकृतियों में से विवक्षित समय में जितनी

प्रकृतियां बंधती हैं, उन-उनको भाग प्राप्त होता है। किन्तु वर्ण-चतुष्क को जो भाग प्राप्त होता है वह वर्णादि के अपने-अपने पांच-पांच, दो और आठ अवान्तर भेदों में विभाजित हो जाता है। क्योंकि प्रतिसमय वर्णादि प्रत्येक की अवान्तर प्रकृतियां बंधती रहती हैं। संघात और शरीर नाम के भाग में जो दलिक जाते हैं, वे उस समय बंधने वाले तीन शरीर और तीन संघातन अथवा चार शरीर और चार संघातन नाम कर्म में विभाजित हो जाते हैं।[1] बंधननामकर्म के भाग में जो दलिक आते हैं, वे सात अथवा ग्यारह भाग में विभाजित हो जाते हैं। जब तीन शरीरों का बंध होता है, तब सात बंधन में और जब चार शरीर का बंधन होता है तब ग्यारह बंधन नाम कर्म के भेदों में वे प्राप्त दलिक विभाजित होते हैं।

स्थिति के अनुसार अंतरायकर्म को जो दलिक प्राप्त होते हैं, उसके पांच भाग होकर दानान्तराय आदि पाँच भागों में विभाजित होते हैं तथा वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म को जो उनका मूल भाग प्राप्त होता है वह सब उस समय बंधने वाली उन-उनकी एक-एक प्रकृति को प्राप्त होता है। क्योंकि वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की एक-एक ही प्रकृति बंधती है।

यह दलिकों का विभाजन पूर्व में बताये गये अल्पबहुत्व के अनुरूप और अनुसार ही होता है।

इस प्रकार से बंधनकरण के प्रसंग में प्रदेशबंध का आंशिक कथन जानना चाहिये। विस्तृत वर्णन बंधविधि नामक पांचवें द्वार में किया जा चुका है अतः जिज्ञासुजन उस वर्णन को वहाँ से जान लेवें।

---

१ औदारिक, तैजस, कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस, कार्मण अथवा आहारक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण इस प्रकार एक समय में तीन अथवा चार शरीर और उनके संघातन का बंध होता है।

पूर्वोक्त प्रकार से योगनिमित्तक प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध का वर्णन करने के बाद अब स्थितिबंध और रसबंध का निरूपण करते हैं। उसमें से पहले रसबंध का विचार करते हैं।

रसबंध की प्ररूपणा के पन्द्रह अधिकार हैं—

१. अध्यवसायप्ररूपणा, २. अविभाग प्ररूपणा, ३. वर्गणा प्ररूपणा, ४. स्पर्धक प्ररूपणा, ५. अन्तर प्ररूपणा, ६. स्थान प्ररूपणा, ७. कंडक प्ररूपणा, ८. षट्स्थान प्ररूपणा, ९. अधस्तन स्थान प्ररूपणा, १०. वृद्धि प्ररूपणा, ११. समय प्ररूपणा, १२. यवमध्य प्ररूपणा, १३. ओजोयुग्म प्ररूपणा, १४. पर्यवसान प्ररूपणा और १५. अल्पबहुत्व प्ररूपणा।

क्रमानुसार कथन करने के न्याय से अब अध्यवसाय व अविभाग प्ररूपणा करते हैं।

अध्यवसाय, अविभाग प्ररूपणा

जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासंखलोकपरिमाणा।
सव्वजीयाणंतगुणा एक्केक्के होंति भावाणू ॥४४॥

शब्दार्थ—**जीवस्सज्झवसाया**—जीव के अध्यवसाय, **सुभासुभ**—शुभ और अशुभ, **असंखलोकपरिमाणा**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **सव्वजीयाणंतगुणा**—संपूर्ण जीव राशि से अनन्तगुणे, **एक्केक्के**—एक एक में, **होंति**—होते हैं, **भावाणु**—रसाणु।

गाथार्थ—जीव के शुभ और अशुभ अध्यवसाय असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं तथा एक-एक परमाणु में सर्व जीवों से अनन्तगुणे भावाणु-रसाणु होते हैं।

विशेषार्थ—रसबंध के कारणभूत जीव के अध्यवसाय कितने होते हैं और प्रत्येक कर्म परमाणु में कम से कम भी कितनी रस शक्ति सम्भव है? ग्रंथकार आचार्य ने इन दोनों का स्पष्टीकरण यहां किया है।

सर्वप्रथम अध्यवसायों की संख्या का निर्देश किया है कि जीव के अध्यवसाय असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं और इनमें शुभ-अशुभता रूप दोनों प्रकार सम्भव हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कषायोदय से उत्पन्न हुए आत्म-परिणाम को अध्यवसाय कहते हैं। जैसे-जैसे काषायिकबल में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे परिणाम क्लिष्ट-क्लिष्ट, अशुभ-अशुभ होते जाते हैं और जैसे-जैसे कषाय का बल घटता जाता है—कम होता जाता है वैसे-वैसे परिणाम शुभ होते जाते हैं। ये शुभ-अशुभ परिणाम रसबंध में हेतुभूत हैं। अशुभ अध्यवसायों से कर्मपुद्‌गलों में नीम, घोषातिकी आदि की उपमा वाला कटुक अशुभ फल दे वैसा रस उत्पन्न होता है और शुभ अध्यवसायों से क्षीर, खांडआदि की उपमा वाला मिष्ट शुभ फल दे वैसा रस उत्पन्न होता है।

जघन्य कषायोदय से लेकर उत्कृष्ट कषायोदय पर्यन्त कषायोदय के असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान होते हैं। अतएव उनके निमित्त से होने वाले शुभाशुभ अध्यवसाय भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। उनमें भी शुभ अध्यवसाय कुछ अधिक हैं। उन शुभ अध्यवसायों की कुछ अधिकता का कारण यह है कि उपशमश्रेणि में दसवें गुणस्थान के चरम समय में जिन अध्यवसायों से पुण्य प्रकृतियों का स्वभूमिकानुरूप उत्कृष्ट और पाप प्रकृतियों का जघन्य रस बंधता है, उन अध्यवसायों से लेकर पहले गुणस्थान में जिन अध्यवसायों से पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट और पुण्य प्रकृतियों का जघन्य रस बंधता है, उन उत्कृष्ट अध्यवसाय तक के प्रत्येक अध्यवसायों को क्रमपूर्वक स्थापित करें और दसवें गुणस्थान से क्रमपूर्वक पतन करके जीव पहले गुणस्थान पर्यन्त आते हुए क्रमशः स्थापित किये हुए समस्त अध्यवसायों का जैसा स्पर्श करता है उसी प्रकार पहले गुणस्थान से आरोहण कर दसवें गुणस्थान पर्यन्त जाते हुए भी समस्त अध्यवसायों का स्पर्श करता है। अध्यवसाय वही हैं परन्तु जब जीव गिरता है तब कषायों का बल बढ़ता हुआ होने से संक्लिष्ट परिणामी कह-

लाता है और उस समय पुण्य प्रकृतियों के रस में हानि और पाप प्रकृतियों के रस में वृद्धि होती जाती है। किन्तु वही जीव पहले गुण-स्थान से चढ़ता जाता है तब कषायों का बल घटते जाने से वह विशुद्ध परिणामी कहलाता है और उस समय पाप प्रकृतियों के रस में हानि और पुण्य प्रकृतियों के रस में वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार हीयमान और प्रवर्धमान अध्यवसायों की संख्या समान है। जैसे ऊपर की मंजिल से उतरते जितनी सीढ़ियां होती हैं, उतनी ही चढ़ते हुए भी होती हैं। इसी प्रकार यहाँ भी संक्लिष्टपरिणामी जीव के जितने अशुभ अध्यवसाय होते हैं, उतने ही विशुद्ध परिणामी जीव के शुभ अध्यवसाय होते हैं और पूर्व में जो यह संकेत किया गया था कि शुभ अध्यवसाय कुछ अधिक होते हैं तो उसका कारण यह है कि क्षपक श्रेणि के अध्यवसाय अधिक हैं। क्योंकि जिन अध्यवसायों में वर्तमान क्षपक आत्मा क्षपक श्रेणि पर आरोहण करती है, वहाँ से गिरती नहीं है। इसी कारण अशुभ अध्यवसायों की अपेक्षा शुभ अध्यवसायों की संख्या अधिक बताई है।

प्रश्न—एक ही परिणाम शुभ और अशुभ दोनों प्रकार होना कैसे सम्भव है ?

उत्तर—एक ही परिणाम शुभ और अशुभ दोनों प्रकार हो सकता है। क्योकि शुभाशुभत्व सापेक्ष है। जब जीव गिरता हो तब उस पतनो-न्मुखी जीव के वे समस्त परिणाम अशुभ कहलाते हैं और आरोहण करता हो तब वही सब शुभ कहलाते हैं। जैसे कि पर्वत पर आरोहण और अवरोहण करते हुए मनुष्य के अध्यवसाय में तारतम्य स्पष्टतया ज्ञात होता है। पर्वत से उतरते मनुष्य और पर्वत पर चढ़ते मनुष्य यदि एक ही सोपान पर खड़े हों तो भी चढ़ने वाले के अध्यवसाय प्रवर्धमान और उतरने वाले के हीयमान होते हैं, इसी प्रकार यहाँ भी प्रवर्धमान और हीयमान अध्यवसायों के विषय में भी जानना चाहिये।

यह अध्यवसाय प्ररूपणा का आशय जाना चाहिये। अब अविभाग प्ररूपणा का विचार करते हैं।

अविभाग प्ररूपणा—यह पूर्व में बताया जा चुका है कि योगानुसार जीव प्रतिसमय अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है और उनमें के एक-एक परमाणु में काषायिक अध्यवसायवश अल्पातिअल्प भी सर्वजीवों से अनन्तगुणे गुण परमाणु, भाव परमाणु—रसाणु उत्पन्न करता है। जीव के द्वारा ग्रहण करने से पहले जब तक जीव ने ग्रहण नहीं किये, तब तक कर्मप्रायोग्य वर्गणाओं में के कोई भी परमाणु तथाविध विशिष्ट रस युक्त—आवारक रस युक्त नहीं होते हैं, परन्तु प्रायः नीरस और एक ही स्वरूप वाले होते हैं। यानि ज्ञान का आवरण करना आदि भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले नहीं थे जब जीव ग्रहण करता है तब उसी समय काषायिक अध्यवसाय से एक-एक परमाणु में कम-से-कम सर्वजीवों की अपेक्षा भी अनन्तगुण शक्ति संपन्न रसाविभाग एवं ज्ञानावारकत्वादि भिन्न-भिन्न स्वभाव उत्पन्न होते हैं—'सव्व जीयाणंतगुणा होंति भावाणु'। जीव और पुद्गल की अचिन्त्य शक्ति होने से यह सब संभव एवं युक्तियुक्त है।

यहाँ कर्म वर्गणाओं के परमाणुओं को प्रायः नीरस और एक स्वरूप वाले कहने का आशय यह है कि जब तक जीव ने कर्म वर्गणायें ग्रहण नहीं कीं तब तक उनमें रस, आवारक शक्ति या ज्ञानावरणादि भिन्न-भिन्न स्वभाव उत्पन्न नहीं होते हैं। यानि रस और प्रकृति नहीं होती है। सभी एक स्वभाव वाले होते हैं। परन्तु पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होने में हेतुभूत स्नेह तो होता ही है। इसी स्नेह की ओर संकेत करने के लिये प्रायः शब्द दिया है।

इसी बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं। जैसे शुष्क घास के परमाणु अत्यन्त नीरस एवं एक समान होते हैं लेकिन जब गाय आदि उसको खाती हैं तब वे घास के परमाणु दूध रूप और सप्त धातु रूप परिणाम को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार कर्मयोग्य वर्गणायें प्रायः नीरस और एक सरीखी होती हैं, लेकिन जब जीव ग्रहण करते हैं तब उनमें रस और स्वभाव उत्पन्न होते हैं। जीव में उस प्रकार के काषायिक अध्यवसाय हैं कि वैसे तीव्र या मंद रस एवं भिन्न-भिन्न

स्वभाव को उत्पन्न करता है तथा कार्मण वर्गणा में उस-उस प्रकार का परिणाम होने का स्वभाव है जिससे यह सब बन सकता है।

यही अविभाग-रसाणु प्ररूपणा का आशय है।

इस विषय में अब जिज्ञासु अपना प्रश्न प्रस्तुत करता है—

एकज्झवसायसमज्जियस्स दलियस्स किं रसो तुल्लो।
नहु होंति णंतभेया साहिज्जंते निसामेह ॥४५॥

शब्दार्थ—**एकज्झवसायसमज्जियस्स**—एक अध्यवसाय से ग्रहण किये हुए, **दलियस्स**—दलिक का, **किं**—क्या, **रसो**—रस (अनुभाग शक्ति), **तुल्लो**—तुल्य, **नहु**—नहीं, **होंति**—होते हैं, **णंतभेया**—अनन्त भेद, **साहिज्जंते**—उन साध्यमान भेदों को, **निसामेह**—सुनो।

गाथार्थ—एक अध्यवसाय से ग्रहण किये हुए दलिक का रस क्या तुल्य होता है ? नहीं, उसके अनन्त भेद हैं, उन साध्यमान—कहे जाने वाले भेदों को सुनो।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में जिज्ञासु का प्रश्न है और उत्तरार्ध में विशद् स्पष्टीकरण के साथ उत्तर दिया है।

जिज्ञासु का प्रश्न यह है—विवक्षित समय में किसी भी एक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण की गई अनन्त वर्गणाओं के प्रत्येक परमाणु में क्या रस (अनुभाव शक्ति) समान होती है—"दलियस्स किं रसो तुल्लो" ?

आचार्य उत्तर देते हैं—'नहु, होंति णंतभेया' आयुष्मन् ! ऐसी बात नहीं है। वह रस तुल्य नहीं होता है, न्यूनाधिक होता है और उसमें अनन्त विभिन्नतायें होने से अनन्त-अनन्त भेद होते हैं। वे अनन्त भेद कैसे होते हैं ? इसको वर्गणा प्ररूपणा के माध्यम से समझाता हूँ और तुम सावधान होकर सुनो—'निसामेह'।

वर्गणा प्ररूपणा

सव्वप्परसे गेण्हइ जे बहवे तेहिं वग्गणा पढमा।
अविभागुत्तरिएहिं अन्नाओ विसेसहीणेहिं ॥४६॥

शब्दार्थ—**सव्वप्परसे**—सबसे अल्प रस वाले, **गेण्हइ**—ग्रहण करता है, **जे**—जो, **बहवे**—बहुत, **तेहिं**—उनकी, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **अविभागुत्तरिएहिं**—एक एक रसाविभाग की अधिकता से, **अन्नाओ**—अन्य-अन्य, **विसेसहीणेहिं**—विशेष-विशेष हीन—(परमाणुओं) से ।

गाथार्थ—सबसे अल्प रस वाले जो बहुत से परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, उनकी पहली वर्गणा होती है और एक-एक रसाविभाग की अधिकता और हीन-हीन परमाणु से अन्य वर्गणायें होती हैं ।

विशेषार्थ—अन्य परमाणुओं की अपेक्षा जिनके अन्दर कम से कम रसाणु उत्पन्न होते हैं, ऐसे कम से कम रस वाले बहुत परमाणुओं को जीव अपनी शक्ति से ग्रहण करता है, अर्थात् प्रतिसमय ग्रहण की जा रही अनन्त वर्गणाओं में अल्प रस वाले परमाणु अधिक होते हैं और प्रवर्धमान रस वाले परमाणुओं की संख्या अल्प-अल्प होती है ।

इस प्रकार के रसाविभाग से युक्त परमाणुओं में से समान रस वाले परमाणुओं की पहली वर्गणा होती है । उससे एक-एक परमाणु अधिक परन्तु संख्या में पूर्व-पूर्व से न्यून परमाणुओं की अन्य-अन्य वर्गणायें होती हैं ।

उक्त कथन का तात्पर्य इस प्रकार है—प्रति समय आत्मा जिन अनन्तानन्त कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करती है उनके प्रत्येक परमाणु में रसाणु समान—तुल्य नहीं होते हैं, किन्तु अल्पाधिक होते हैं । जितने परमाणुओं में कम-से-कम रसाणु होते हैं, उन समान रसाणु वाले समस्त परमाणुओं के समूह की पहली वर्गणा होती है और उस पहली वर्गणा में भी परमाणुओं की संख्या बहुत अधिक होती है । किन्तु उसके बाद की उत्तरोत्तर वर्गणाओं में परमाणुओं की संख्या हीन-हीन होती जाती है । पहली वर्गणा से एक अधिक रसाणु वाले परमाणु के समूह की दूसरी वर्गणा, दो अधिक रसाणु वाले परमाणु के समूह की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक अधिक रसाणु वाली अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणायें होती हैं ।

इस प्रकार से वर्गणा प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। इन अनन्त वर्गणाओं के समुदाय का नाम स्पर्धक है। अतः अब स्पर्धक और तत्संबंधी विशेष वक्तव्य के रूप में अन्तर प्ररूपणा करते हैं।

स्पर्धक, अन्तर प्ररूपणा

दव्वेहिं वग्गणाओ सिद्धाणमणंतभाग तुल्लाओ।
एयं पढमं फड्डं अओ परं नत्थि रूवहिया ॥४७॥
सव्वजियाणंतगुणे पलिभागे लंघिउं पुणो अन्ना।
एवं भवंति फड्डा सिद्धाणमणंतभागसमा ॥४८॥

शब्दार्थ—**दव्वेहिं वग्गणाओ**—वर्गणाओं के समुदाय, **सिद्धाणमणंतभाग-तुल्लाओ**—सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण, **एयं**—यह, **पढमं**—प्रथम, **फड्डं**—स्पर्धक, **अओ परं**—इससे परे (आगे), **नत्थि**—नहीं है, **रूवहिया**—एक रूप अधिक वाली, **सव्वजियाणंतगुणे**—संपूर्ण जीव राशि से अनन्तगुणे, **पलिभागे**—प्रतिभागों (रसाणुओं), **लंघिउं**—उलांघने पर, **पुणो**—पुनः, **अन्ना**—अन्य वर्गणायें, **एवं**—इस प्रकार, **भवंति**—होते हैं, **फड्डा**—स्पर्धक, **सिद्धाणमणंत-भागसमा**—सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण।

गाथार्थ—अभव्यों से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणाओं के समुदाय का एक स्पर्धक होता है, यह पहला स्पर्धक है। इसके बाद एक रूप अधिक वाली वर्गणायें नहीं हैं। किन्तु—

सम्पूर्ण जीव राशि से अनन्त गुण रसाणुओं को उलांघने पर पुनः अन्य वर्गणा होती है। इस प्रकार सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक होते हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणाओं के आशय को स्पष्ट किया है। उनमें से स्पर्धक प्ररूपणा इस प्रकार है—

प्रथम वर्गणा अर्थात् जिसमें कम-से-कम भी संपूर्ण जीवराशि से

अनन्तगुणे रसाणु होते हैं, ऐसी जघन्य वर्गणा से लेकर एक-एक अधिक रसाणुओं वाली अभव्यों से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणाओं के समुदाय का एक स्पर्धक होता है और यह प्रथम स्पर्धक है।

इस प्रकार स्पर्धक प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये।

अब अन्तर प्ररूपणा का विवेचन करते हैं 'अओ परं नत्थि रूव-हिया' अर्थात् पहले स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा से एक-एक रसाविभाग से अधिक वाले कोई परमाणु नहीं होते हैं। परन्तु सर्वजीवों से अनन्त-गुण अधिक रसाविभाग वाले परमाणु होते हैं। यानि अन्तिम वर्गणा में के किसी भी परमाणु के रसाणु की संख्या में सर्वजीवराशि से अनन्त-गुण रसाणुओं की संख्या को मिलाने पर उनकी जितनी संख्या हो, उतने रसाणु वाले परमाणु होते हैं और उन समान रसाणुओं वाले परमाणुओं का समुदाय दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा है। एक अधिक रसाणु वाले परमाणुओं के समूह की दूसरी वर्गणा, दो अधिक रसाणु वाले परमाणुओं के समूह की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक अधिक रसाणु वाले परमाणु के समूह की अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणायें होती हैं। उनका जो समुदाय वह दूसरा स्पर्धक है।

तदनन्तर पुनः दूसरे स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा से एक-एक अधिक रसाणु वाले परमाणु नहीं होते हैं, परन्तु सर्वजीवों से अनन्तगुण रसाविभाग वाले परमाणु होते हैं। समान रसाणु वाला उनका जो समुदाय वह तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा होती है। उससे एक अधिक रसाणु वाले परमाणुओं के समुदाय की दूसरी वर्गणा, दो अधिक रसाणु वाले परमाणुओं के समुदाय की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक रसाणु अधिक परमाणु के समूह की अभव्यों से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणायें होती हैं। उनका जो समुदाय वह तीसरा स्पर्धक है।

इस प्रकार अभव्यों से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक होते हैं, और प्रत्येक स्पर्धक के मध्य में सर्वजीवों से अनन्तगुण रसाणुओं का अन्तर है ।

इस प्रकार से अन्तर प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त स्थान आदि प्ररूपणात्रय का विचार करते हैं।

स्थान, कंडक, षट्स्थान प्ररूपणा

एयं पढमं ठाणं एवमसंखेज्ज लोगठाणाणं ।
समवग्गणाणि फड्डाणि तेसिं तुल्लाणि विवराणि ।।४६।।
ठाणाणं परिवुड्ढी छट्ठाणकमेण तं गयं पुव्विं ।
भागो गुणो य कीरइ जहोत्तरं एत्थ ठाणाणं ।।५०।।

शब्दार्थ—**एयं**—यह, **पढमं**—प्रथम-पहला, **ठाणं**—स्थान, **एवं**—इसी प्रकार, **असंखेज्ज लोगठाणाणं**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान, **समवग्गणाणि**—समान वर्गणा वाले, **फड्डाणि**—स्पर्धक, **तेसिं**—उनके, **तुल्लाणि**—तुल्य, बराबर, **विवराणि**—विवर-अन्तर, **ठाणाणं**—स्थानों की, **परिवुड्ढी**—वृद्धि, **छट्ठाणकमेण**—षट्स्थान के क्रम से, **तं**—वह, **गयं**—कहा जा चुका है, **पुव्विं**—पूर्व में, **भागो**—भाग, **गुणो**—गुणा, **य**—और, **कीरइ**—की होती है, **जहोत्तरं**—अनुक्रम से, **एत्थ**—यहां, **ठाणाणं**—स्थानों में ।

गाथार्थ—यह पहला स्थान है । इसी प्रकार असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान होते हैं । वर्गणाओं के बराबर स्पर्धक और अन्तर भी उनके बराबर होते हैं ।

स्थानों में षट्स्थान के क्रम से वृद्धि होती है । वह (स्थान का स्वरूप) पूर्व में कहा जा चुका है । यहां स्थानों में अनुक्रम से भाग और गुण (वृद्धि) होती है ।

विशेषार्थ—स्पर्धक प्ररूपणा के प्रसंग में यह बताया गया है कि अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक

होते हैं। जिनके समुदाय को स्थान कहते हैं, अर्थात् अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाण स्पर्धकों के होने पर एक रसस्थान होता है और यह पहला रसस्थान है— 'एयं पढमं ठाणं'। इसके अनन्तर इसी प्रकार से अन्यान्य रसस्थान होते हैं। जिनमें विवक्षित समय में ग्रहण की गई वर्गणाओं के रस का विचार किया जाता है।

रसस्थान बनने की प्रक्रिया इस प्रकार है—समान रसाणु वाले परमाणुओं के समुदाय को वर्गणा कहते हैं और उत्तरोत्तर प्रवर्धमान रसाणु वाली वर्गणाओं का समूह स्पर्धक कहलाता है और एक काषायिक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण किये गये परमाणुओं के रस स्पर्धक के समूह का प्रमाण रसस्थान कहलाता है।

इस प्रकार से स्थान प्ररूपणा का तात्पर्य जानना चाहिये। अब कंडक प्ररूपणा का विचार करते हैं—

'एवमसंखेज्जलोगठाणाणं' अर्थात् इसी प्रकार असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान होते हैं। इन प्रत्येक स्थान में अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक होते हैं और एक से दूसरे स्पर्धक के बीच अन्तर सर्वजीवराशि से अनन्तगुण रसाणुओं का होता है। अर्थात् पहले स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा के किसी भी परमाणु में सर्वजीवराशि से अनन्तगुण रसाणुओं को मिलाने पर जितने रसाणु होते हैं उतने रसाणु दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा के किसी भी परमाणु में होते हैं। इसी प्रकार दूसरे स्पर्धक की अन्तिम व तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा में समझना चाहिये एवं सर्व स्पर्धकों में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

सर्व रसस्थानों में यद्यपि अभव्यों से अनन्तगुण स्पर्धक होते हैं फिर भी प्रत्येक स्थान में समान नहीं होते हैं, परन्तु पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थान में षट्स्थान के क्रम से वृद्धि होती है, उस वृद्धि का क्रम इस प्रकार जानना चाहिये—

पहले रसस्थान से दूसरे रसस्थान में अनन्तवें भाग अधिक स्पर्धक होते हैं। यानि पहले रसस्थान में जितने स्पर्धक हैं, उनका अनन्तवां भाग दूसरे रसस्थान में अधिक होता है। उससे तीसरे स्थान में उसका अनन्तवां भाग अधिक होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थानमें अनन्त भाग अधिकस्पर्धकअंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे आकाश प्रदेश प्रमाण रसस्थानों में होते हैं और उनके समुदाय की कंडक यह संज्ञा है।

इस प्रकार से कंडक प्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये।

पहले कंडक के अन्तिम स्थान से बाद का जो रसस्थान प्राप्त होता है वह पूर्व के अनन्तर रसस्थान से असंख्यात भाग अधिक स्पर्धक वाला है। यानि उसमें पूर्व के स्थान में जितने स्पर्धक होते हैं उससे असंख्यात भाग अधिक स्पर्धक होते हैं। उसके बाद एक कंडक जितने स्थान पूर्व की अपेक्षा अनन्तवें भाग अधिक-अधिक स्पर्धक वाले होते हैं। उसके बाद का जो रसस्थान आता है वह पूर्व से असंख्यातवें भाग अधिक स्पर्धक वाला होता है। फिर उसके बाद के एक कंडक जितने स्थान पूर्व-पूर्व से अनन्त भाग अधिक स्पर्धक वाले होते हैं। उसके बाद जो रसस्थान आता है उसमें पूर्व की अपेक्षा असंख्यातभाग अधिक स्पर्धक होते हैं।

इस प्रकार अनन्तभाग अधिक कंडक से अन्तरित असंख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला कंडक पूर्ण हो जाता है।

इस तरह पूर्वोक्त षट्स्थान के क्रम से स्थानों में स्पर्धक की वृद्धि जानना चाहिये। नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के प्रसंग में जो षट्स्थान का स्वरूप कहा गया है और षट्स्थान के क्रम से स्थानों में स्पर्धक की वृद्धि कही है, उसी प्रकार से यहां भी षट्स्थान के क्रम से स्थानों में स्पर्धकों की वृद्धि जानना चाहिये।

वृद्धि के षट्स्थान कौन से हैं और उनमें वृद्धि का प्रमाण किस प्रकार का है ? अब इसको स्पष्ट करते हैं—

इन षट्स्थानों में कितने ही स्थान भागवृद्धि वाले और कितने

ही स्थान गुणवृद्धि वाले कहलाते हैं। षट्स्थानों में तीन भागवृद्ध स्थान है और तीन गुणवृद्ध स्थान हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. अनन्तभागवृद्ध, २. असंख्यातभागवृद्ध,
३. संख्यातभागवृद्ध, ४. संख्यातगुणवृद्ध,
५. असंख्यातगुणवृद्ध, ६. अनन्तगुणवृद्ध।

इन षट्स्थानों की व्याख्या इस प्रकार है।

१. अनन्तभागवृद्ध—पहले रसस्थान में जितने स्पर्धक हैं, उनको सर्व जीव जो अनन्त हैं, उस अनन्त से भाग देने पर जितने आयें उतने स्पर्धकों से अधिक दूसरा रसस्थान होता है। फिर उसे सर्व-जीव जो अनन्त हैं, उससे भाग देने पर जितने स्पर्धक आयें, उतने स्पर्धक से अधिक तीसरा रसस्थान है। इस प्रकार जो-जो स्थान अनन्तभाग अधिक आयें, वे-वे स्थान पूर्व-पूर्व के स्थान के स्पर्धक की संख्या को सर्व जीव जो अनन्त हैं, उस अनन्त से भाग देने पर जितने आयें, उस-उस अनन्तवें भाग से अधिक होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

२. असंख्यातभागवृद्ध—पूर्व-पूर्व के अनुभागबंध स्थान के स्पर्धकों की संख्या को असंख्य लोकाकाश के जितने आकाश प्रदेश हों, उससे भाग देने पर जो प्रमाण आये, वह असंख्यातवां भाग यहां लें। उस असंख्यातवें भाग अधिक स्पर्धक वाले जो स्थान हों वे असंख्यात-भागवृद्ध स्थान कहलाते हैं। अर्थात् जो स्थान असंख्यभागवृद्ध स्पर्धक वाला हो, उसमें उससे पूर्व के स्थान में जितने स्पर्धक हों उन्हें असंख्य लोकाकाश प्रदेश राशि द्वारा भाग देने पर जो प्रमाण आये उतने स्पर्धक अधिक होते हैं। इस प्रकार जहां असंख्यभागवृद्ध आये वहाँ-वहाँ उससे पूर्व-पूर्व के स्थान के स्पर्धकों को असंख्य लोकाकाश प्रदेशों द्वारा भाग देने पर जो प्रमाण आये, उससे अधिक है, ऐसा समझना चाहिये।

३. संख्येयभागवृद्ध—पूर्व-पूर्व के अनुभागबंध के स्थानों के स्पर्धकों को उत्कृष्ट संख्यात द्वारा भाग देने पर जो आये वह संख्यातवां भाग यहाँ ग्रहण करना चाहिये। उस संख्यातवें भाग अधिक स्पर्धक वाले जो रसस्थान हों वे संख्यातभागवृद्ध रसस्थान कहलाते हैं। अर्थात् जो स्थान संख्यातभागवृद्ध स्पर्धक वाला होता है, उसमें उससे पूर्व के स्थान में जितने स्पर्धक होते हैं, उसे उत्कृष्ट संख्यात में भाग देने पर जितने आयें उतने स्पर्धक अधिक होते हैं। इस प्रकार जहां-जहां संख्यातभागवृद्ध हो, वहां-वहां उससे पूर्व के स्थान के स्पर्धकों को उत्कृष्ट संख्यात द्वारा भाग देने पर जितने आयें उतने से अधिक है, ऐसा समझना चाहिये।

४. संख्यातगुणवृद्ध—संख्यातगुणवृद्ध यानि पूर्व के रसबंध के स्थान के स्पर्धकों को उत्कृष्ट संख्यात से गुणा करने पर जो राशि प्राप्त हो, उतने जानना। अर्थात् जो स्थान संख्यातगुणवृद्ध स्पर्धक वाला हो, उसमें उससे पूर्व के स्थान में जितने स्पर्धक हों उन्हें उत्कृष्ट संख्यात द्वारा गुणा करने पर जितने हों उतने स्पर्धक होते हैं। इस प्रकार जहां-जहां संख्यातगुणवृद्ध आये वहां-वहां इसी प्रकार के संख्यातगुण-वृद्ध समझना चाहिये।

५. असंख्यातगुणवृद्ध—यानि पूर्व के स्थान के स्पर्धकों को असंख्य लोकाकाशप्रदेशप्रमाण राशि से गुणा करने पर जितने हों उतने जानना चाहिये। यानि जो स्थान असंख्यातगुणवृद्ध होता है, उसमें उससे पूर्व के स्थान के स्पर्धकों को असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण राशि से गुणा करने पर जितने आयें, उतने स्पर्धक होते हैं। इस प्रकार जहां कहीं भी असंख्यातगुणवृद्ध हो, वहां-वहां पूर्व-पूर्व के स्थान के स्पर्धकों को असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण राशि द्वारा गुणा करने पर जो स्पर्धक आयें, उतने स्पर्धक होते हैं, ऐसा जानना चाहिये।

६. अनन्तगुणवृद्ध—अर्थात् पूर्व के स्थान के स्पर्धकों को सर्वजीव जो अनन्त हैं, उनसे गुणा करने पर जो राशि आये, वह। यानि जो स्थान

अनन्तगुणवृद्ध होता है, उसमें उससे पूर्व के स्थान के स्पर्धकों को सर्वजीवों से जो अनन्त हैं, उनसे गुणा करने पर जितना प्रमाण आये, उतने स्पर्धक होते हैं। इस प्रकार जहां-जहां अनन्तगुणवृद्ध हो वहां-वहां पूर्व-पूर्व के स्थान के स्पर्धकों को सर्वजीव जो अनन्त हैं, उनसे गुणा करने पर जो प्रमाण आये उतने स्पर्धक होते हैं, यह समझना चाहिये।

प्रश्न—अनन्तगुणवृद्ध होने पर तो किसी भी रसस्थान को सर्वजीव जो अनन्त हैं, उससे भागित किया जा सकता है, परन्तु जहां तक अनन्तगुणवृद्ध स्थान न हुआ हो, तब तक प्रारम्भ से लेकर असंख्यातगुणवृद्ध तक के किन्हीं भी स्थानों में के स्पर्धकों को सर्वजीव जो अनन्त हैं, उनसे किस प्रकार भागित किया जा सकता है, और जब भागित नहीं किया जा सके तो अनन्तभागवृद्धि किस प्रकार घटित हो सकती है ?

उत्तर—जब तक अनन्तगुणवृद्ध स्थान न हुआ हो, वहां तक पूर्व के किन्हीं भी स्थानों के स्पर्धकों की संख्या को सर्वजीव जो अनन्त हैं उनसे भागित नहीं किया जा सकता है, यह ठीक है, परन्तु वहां तक भाग करने वाला अनन्त इतना छोटा लें कि उससे भाग देने पर ज्ञानी-दृष्ट स्पर्धकों की अमुक संख्या प्राप्त हो और अनन्तभाग की वृद्धि हो। अनन्तगुणवृद्ध स्थान होने के बाद सर्वजीव जो अनन्त हैं, उनसे भाग देना चाहिये और जो संख्या आये वह अनन्तवां भाग बढ़ाना चाहिये।

इस प्रकार अनुक्रम से भागाकार और गुणाकार रूप वृद्धि के षट्स्थान जानना चाहिये। ये षट्स्थान कितने होते हैं ? अब इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

छट्ठाणगअवसाणे अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं।
एवमसंखालोगा छट्ठाणाणं मुणेयव्वा ॥५१॥

शब्दार्थ—छट्ठाणगअवसाणे—एक-पहला षट्स्थान पूर्ण होने के बाद,

अन्नं—अन्य-दूसरा, **छट्ठाणयं**—षट्स्थान, **पुणो**—पुन:, **अन्नं**—अन्य तीसरा, **एवमसंखालोगा**—इस प्रकार असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **छट्ठाणाणं**—षट्स्थानों को, **मुणेयव्वा**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—एक (पहला) षट्स्थान पूर्ण होने के बाद अन्य दूसरा, पुन: उसके बाद अन्य तीसरा, इस प्रकार असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण षट्स्थानों को जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पहला षट्स्थान पूर्ण होने के पश्चात्—'छट्ठाणग अवसाणे', दूसरा षट्स्थान होता है। तत्पश्चात् इसी क्रम से 'पुणो अन्नं' अन्य तीसरा, इस प्रकार असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण असंख्यात षट्स्थान होते हैं और षट्स्थानों में अनन्त भागादि भाग-वृद्धि और संख्येय गुणादि गुणवृद्धि आदि के कंडक किस क्रम से होते हैं यह पूर्व में नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा में विस्तार से कहा है, तदनुसार यहां समझ लेना चाहिये। क्योंकि उसी प्रकार यहां भी होते हैं।

इस प्रकार से षट्स्थान प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त अधस्तनस्थान प्ररूपणा का विचार करते हैं।

अधस्तनस्थान प्ररूपणा

सव्वासिं वुड्ढीणं कंडगमेत्ता अणंतरा वुड्ढी।
एगंतराउ वुड्ढी वग्गो कंडस्स कंडं च ॥५२॥
कंडं कंडस्स घणो वग्गो दुगुणो दुगंतराए उ।
कंडस्स वग्गवग्गो घण वग्गा तिगुणिया कंडं ॥५३॥
अडकंड वग्गवग्गा वग्गा चत्तारि छग्घणा कंडं।
चउ अंतर वुड्ढीए हेट्ठट्ठाण परूवणया ॥५४॥

शब्दार्थ—**सव्वासिं**—सभी, **वुड्ढीणं**—वृद्धियां, **कंडगमेत्ता**—कंडक मात्र, **अणंतरा**—अनन्तर, **वुड्ढी**—वृद्धि, **एगंतरा**—एकांतरित, **उ**—और, **वुड्ढी**—वृद्धि, **वग्गो कंडस्स**—कंडक का वर्ग, **कंडं**—कंडक, **च**—तथा।

कंडं—कंडक, **कंडस्स घणो**—कंडक का धन, **वग्गो**—वर्ग, **दुगुणो**—दो, **दुगंतराए**—द्व्यंतरित मार्गणा में, **उ**—और, **कंडस्स**—कंडक का, **वग्गवग्गो**—वर्गवर्ग, **घण**—घन, **वग्गा**—वर्ग, **तिगुणिया**—त्रिगुणित, **कंडं**—कंडक ।

अडकंड—आठ कंडक, **वग्गवग्गा**—वर्गवर्ग, **वग्गा**—वर्ग, **चत्तारि**—चार, **छग्घणा कंडं**—छह कंडक घन, **कंडं**—कंडक, **चउ अंतर वुड्ढीए**—चतुरंतरित वृद्धि में, **हेट्ठट्ठाण परूवणया**—अधरतनस्थान प्ररूपणा के द्वारा ।

गाथार्थ—सभी वृद्धियां होने के पश्चात् अनन्तर वृद्धि एक कंडक मात्र और एकान्तरित वृद्धि कंडकवर्ग तथा कंडक प्रमाण होती है ।

द्व्यंतरित मार्गणा में कंडक, कंडकघन, और दो कंडकवर्ग प्रमाण स्थान होते हैं तथा त्र्यंतरितमार्गणा में कंडकवर्गवर्ग, तीन कंडकघन तीन कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण स्थान होते हैं ।

चतुरंतरितमार्गणा में आठ कंडकवर्गवर्ग, चार कंडकवर्ग, छह कंडकघन और कंडक प्रमाण स्थान अधस्तनस्थान प्ररूपणा के द्वारा होते हैं ।

विशेषार्थ—उपरिवर्ती स्थान से अधोवर्ती स्थान की प्ररूपणा करने को अधस्तनस्थानप्ररूपणा कहते हैं । अनन्तगुणवृद्धि का स्थान सर्वोपरि स्थान है उससे नीचे के असंख्यात गुण वृद्धि आदि सभी वृद्धियों के स्थान अधस्तनस्थान कहलाते हैं । अनन्तगुणवृद्धि से अधोवर्ती स्थान अनन्तरवर्ती, एकान्तरित, द्व्यंतरित, त्र्यंतरित और चतुरंतरित ये चार प्रकार के हो सकते हैं । क्योंकि अनन्तगुणवृद्धि से नीचे असंख्यातगुणवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि और अनन्तभागवृद्धि वाले पांच स्थान हैं । अतः उनके अन्तर चार ही होने से अधस्तनस्थान प्ररूपणा के अनन्तर आदि चतुरंतरित पर्यन्त चार प्रकार ही हो सकते हैं ।

अब इनकी प्ररूपणा का विस्तार से स्पष्टीकरण करते हैं ।

यह तो पूर्व में बताया जा चुका है कि असंख्यातभाग आदि प्रत्येक वृद्धि वाले स्थान कंडक प्रमाण होते हैं, अर्थात् असंख्येयभाग वृद्ध आदि सभी वृद्धियों के पश्चात् अनन्तभागवृद्ध आदि वृद्धि एक कंडक जितनी ही होती है, इससे अधिक नहीं होती है। क्योंकि एक कंडक जितनी वृद्धि होने के पश्चात् अनुयायी अन्य स्थान की वृद्धि प्रारम्भ होती है।

इसका तात्पर्य यह है—जिस क्रम से सभी वृद्धियां उत्पन्न होती हैं, प्रारम्भ होती हैं उसी क्रम से वह वृद्धि निरन्तर कंडक प्रमाण ही होती है, अधिक नहीं होती है। इसलिये उससे पीछे-पीछे की वृद्धि के पूर्व अनन्तर वृद्धि कंडक मात्र जानना चाहिये।

यहां अधस्तन स्थान का विचार किया जा रहा है। अतएव प्रथम असंख्यातभागवृद्ध स्थान के पहले अनन्तभागवृद्ध स्थान कितने होते हैं? पहले संख्यातभाग वृद्ध स्थान के पूर्व असंख्यातभागवृद्ध स्थान कितने होते हैं? इस प्रकार अनन्तर वृद्धि कितने कंडक प्रमाण होती है, उसका यहां विचार करते हैं। जो इस प्रकार है—

पहले असंख्यातभागवृद्धस्थान के नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान एक कंडक जितने ही होते हैं। क्योंकि आदि में एक कंडक जितने स्थान होने के पश्चात् असंख्यातभागवृद्ध स्थान एक कंडक प्रमाण ही होते हैं। इसी प्रकार पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से पहले संख्यातगुण स्थान एक कंडक प्रमाण होते हैं। क्योंकि पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से पूर्व संख्यातगुणवृद्ध स्थान एक कंडक मात्र होते हैं, और पहले अनन्तगुणवृद्ध स्थान से पूर्व असंख्यातगुण वृद्ध स्थान भी एक कंडक मात्र होते हैं।

इस प्रकार बाद के उत्तरवर्ती बड़े स्थान से पहले अनन्तर पूर्व के छोटे स्थान कितने होते हैं? इसका प्रमाण निर्देश किया है कि—'कंडक मेत्ता अणंतरा वुड्ढी'।

एकान्तरित मार्गणा—अब एकान्तरित मार्गणा का विचार करते

हैं कि बाद के बड़े स्थान से पूर्व का एक स्थान छोड़कर इससे पूर्व कितने स्थान होते हैं। जैसे कि पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व असंख्यातभागवृद्ध स्थानों को छोड़कर अनन्तभागवृद्ध स्थान कितने होते हैं ? तो वह इस प्रकार जानना चाहिये—'एगंतराउ वुड्ढी वग्गो कंडस्स कंडं च' अर्थात् पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व अनन्तभागवृद्ध स्थान एक कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं। इसका कारण यह है कि पहले असंख्यातभागवृद्धस्थान से पूर्व एक कंडक जितने अनन्तभाग वृद्ध स्थान होते हैं और असंख्यातभागवृद्ध स्थान अनन्तभागवृद्ध स्थानों से अन्तरित होते हैं यानि जितनी बार असंख्यातभागवृद्ध स्थान होंगे, उतने कंडक अनन्तभाग वृद्धि के होते हैं। यदि असत्कल्पना से एक कंडक का प्रमाण चार माना जाये तो प्रारम्भ के अनन्तभागवृद्धि के कंडक के चार और असंख्यातभागवृद्धि चार बार होगी तो उसके मध्य में अनन्तभागवृद्धि चार कंडक जितनी बार होगी यानि सोलह बार होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल मिलाकर अनन्तभागवृद्धि के बीस स्थान संख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व हुए।

इन बीस स्थानों का अर्थ यह हुआ कि एक कंडक का वर्ग[1] और उसके ऊपर एक कंडक है।

इस प्रकार से एकान्तरितमार्गणा में कंडक वर्ग और कंडक प्रमाण वृद्धि होने को कारण सहित स्पष्ट करने के पश्चात् अब द्व्यंतरित मार्गणा में कितनी वृद्धि होती है और कैसे ? इसको स्पष्ट करते हैं।

द्व्यंतरित मार्गणा—पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान कंडकघन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं। पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान के नीचे असंख्यातभाग वृद्ध स्थान कंडकघन, दो कंडकवर्ग एक कंडक होते हैं। पहले अनन्तगुण-

---

१ किन्हीं भी दो संख्याओं का परस्पर गुणा करने पर प्राप्त संख्या को वर्ग कहते हैं। जैसे कि ४×४=१६। यह १६ संख्या ४ का वर्ग हुई।

वृद्ध स्थान से नीचे संख्यातभागवृद्ध स्थान कंडकघन, दो कंडकवर्ग और कंडक प्रमाण होते हैं।

ये स्थान कंडकघन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक इस प्रकार जानना चाहिये कि पहले संख्यातभागवृद्ध के स्थान से नीचे अनन्त-भागवृद्धि के स्थान कंडकवर्ग और कंडक प्रमाण होते हैं, यह पूर्व में कहा जा चुका है। संख्यातभागवृद्ध स्थान अनन्तभागवृद्ध और असंख्यातभागवृद्ध से अन्तरित एक कंडक प्रमाण होते हैं जिससे कंडकवर्ग को और कंडक को एक कंडक से गुणा करें यानि वे कंडक-घन और कंडकवर्ग प्रमाण हो जायें और संख्यातभागवृद्ध के अन्तिम स्थान से पूर्व कंडकवर्ग और कंडक प्रमाण अनन्तभागवृद्ध स्थान होते हैं। अतएव उनको मिलाने पर अनन्तभागवृद्ध स्थान कुल मिला-कर कंडकघन, दो कंडकवर्ग और कंडक प्रमाण होते हैं—'कंडं कंडस्स घणो वग्गो दुगुणो दुगंतराए'।

उदाहरणार्थ—पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान से नीचे बीस बार अनन्तभागवृद्ध स्थान होने का संकेत पूर्व में किया जा चुका है। पहले और दूसरे संख्यातभागवृद्ध स्थान के बीच में भी बीस, दूसरे और तीसरे के बीच में भी बीस, तीसरे और चौथे के बीच में भी बीस और उसके बाद बीस। कुल मिलाकर सौ बार अनन्तभागवृद्ध स्थान प्रथम बार के संख्यातगुणवृद्ध स्थान से पहले होते हैं और चार का घन चौंसठ और दो बार चार का वर्ग सोलह-सोलह और एक कंडक यानि सौ का एक घन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक होता है। यहाँ असत्कल्पना से कंडक का संख्या प्रमाण चार माना है। इसी प्रकार असंख्यातगुणवृद्ध से पूर्व असंख्यातभागवृद्ध के और अनन्तगुण-वृद्ध से पूर्व के संख्यातभागवृद्ध के स्थानों का विचार कर लेना चाहिये। इस मार्गणा में तीन स्थान हैं।

इसको द्व्यंतरित मार्गणा इसलिये कहते हैं कि पहले संख्यातगुण-वृद्ध स्थान से पूर्व संख्यातभागवृद्ध और असंख्यातभागवृद्ध स्थानों को

छोड़कर आनंतभागवृद्ध स्थान की संख्या का विचार किया जाता है। और वे स्थान कंडकघन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं। अब त्र्यंतरित मार्गणा का कथन करते हैं।

त्र्यंतरित मार्गणा—असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से पहले संख्यातगुण, संख्यातभाग और असंख्यातभाग इन तीन संख्या को छोड़कर अनंतभागवृद्ध स्थान की संख्या का पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से विचार करना त्र्यंतरित मार्गणा कहलाती है।

पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से नीचे अनन्तभागवृद्ध के स्थान कंडक-वर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं। प्रथम बार के अनन्तगुणवृद्ध स्थान के नीचे असंख्यातभागवृद्ध स्थान कंडकवर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं—'कंडस्स वग्गवग्गो घण वग्गा तिगुणिया कंडं'।

जिस प्रकार यह संख्या होती है अब इसको स्पष्ट करते हैं—पूर्व में यह बताया जा चुका है कि पहले संख्यातगुणवृद्ध स्थान के नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान कंडकघन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं। संख्यातगुणवृद्ध स्थान एक कंडक जितने होते हैं। इसलिये ऊपर की संख्या को कंडक से गुणा करने पर कंडकवर्ग-वर्ग आदि प्रमाण होता है। वह इस प्रकार—कंडकघन को कंडक से गुणा करने पर कंडकवर्ग-वर्ग होता है। क्योंकि असत्कल्पना से कंडकघन में चौंसठ संख्या और उसे चार से गुणा करने पर दो सौ छप्पन संख्या होती है और कंडकवर्ग-वर्ग भी उतना (१६ × १६ = २५६) होता है। दो कंडकवर्ग को कंडक से गुणा करने दो कंडकघन होते हैं और एक कंडक को कंडक से गुणा करने पर कंडकवर्ग होता है और अंतिम संख्यातगुणवृद्ध स्थान के बाद कंडकघन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण स्थान होते हैं, यानि कुल संख्या कंडकवर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होती है।

उदाहरणार्थ—पहले संख्यातगुणवृद्ध स्थान से नीचे ऐसे अनन्तभागवृद्ध स्थान पूर्व में कहे जा चुके हैं। उतने ही पहले और दूसरे संख्यातगुणवृद्ध स्थान के बीच में, उतने ही दूसरे और तीसरे के बीच में, उतने ही तीसरे और चौथे के बीच में, इस प्रकार कुल मिलाकर चार सौ और उतने ही उसके बाद, इस प्रकार कुल पाँच सौ अनन्तभागवृद्ध स्थान होते हैं। उनमें से कंडक वर्ग-वर्ग में दो सौ छप्पन होते हैं। इसका कारण यह है कि चार का वर्ग सोलह और उसका वर्ग दो छप्पन होता है। तीन कंडकघन में एकसौ बानवें, तीन कंडकवर्ग में अड़तालीस होते हैं और अंतिम चार अर्थात् एक कंडक बढ़ता है, जिससे उपर्युक्त संख्या होती है। इसी प्रकार अनन्तगुणवृद्ध स्थान से पहले असंख्यातभागवृद्ध स्थानों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये।

इस प्रकार से त्र्यंतरित मार्गणा का विचार जानना चाहिये कि त्र्यंतरित अनन्तभागवृद्ध स्थान कितने होते हैं। अब चतुरंतरित मार्गणा का कथन करते हैं।

चतुरंतरित मार्गणा—बीच में चार वृद्धि को छोड़कर विचार करने को चतुरंतरित मार्गणा कहते हैं। वह इस प्रकार—पहले अनन्तगुण वृद्धस्थान से नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान कितने ? तो उनका प्रमाण है—आठ कंडक-वर्ग-वर्ग, छह कंडकघन, चार कंडकवर्ग और एक कंडक जितने होते हैं—'अडकंड वग्गवग्गा वग्गा चत्तारि छग्घणा कंडं'। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान कंडकवर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं। असंख्यातगुण-वृद्ध स्थान कंडक जितनी बार होते हैं, उससे उपर्युक्त संख्या को कंडक से गुणा करने पर चार कंडकवर्ग-वर्ग आदि संख्या होती है। वह इस प्रकार–कंडकवर्ग-वर्ग को कंडक से गुणा करने पर चार कंडकवर्ग-वर्ग होते हैं। तीन कंडकघन को कंडक से गुणा करने पर तीन कंडकवर्ग-वर्ग होते हैं। तीन कंडकवर्ग को कंडक से गुणा

करने पर तीन कंडकघन होते हैं, और कंडक को कंडक से गुणा करने पर कंडकवर्ग होता है और उसमें अंतिम असंख्यातगुणवृद्ध स्थान के बाद के कंडकवर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और कंडक जितने स्थानों को जोड़ने पर कुल मिलाकर आठ कंडकवर्ग-वर्ग, छह कंडकघन, चार कंडकवर्ग और एक कंडक अनन्तभागवृद्ध स्थान होते हैं।

इस प्रकार चतुरंतरित मार्गणा का आशय जानना चाहिये। सुगम बोध के लिये उक्त समग्र कथन का सारांश इस प्रकार है—

अनन्तर मार्गणा—कंडक प्रमाण।

एकान्तरित मार्गणा—कंडक वर्ग, कंडक प्रमाण।

द्व्यंतरित मार्गणा—कंडकघन, दो कंडकवर्ग, कंडक प्रमाण।

त्र्यंतरित मार्गणा—कंडकवर्ग-वर्ग, कंडकघनत्रय, कंडकवर्ग-त्रय, कंडक प्रमाण।

चतुरंतरित मार्गणा—आठ कंडक-वर्ग-वर्ग, चार कंडकवर्ग, छह कंडकघन, कंडक प्रमाण।

इस प्रकार से अधस्तन स्थान प्ररूपणा जानना चाहिये।[1] अब वृद्धि आदि प्ररूपणा का कथन करते हैं।

वृद्धि आदि प्ररूपणा त्रय

परिणामपच्चएणं एसा नेहस्स छव्विहा वुड्ढी।
हाणी व कुणंति जिया आवलिभागं असंखेज्जं ॥५५॥
अंतमुहुत्तं चरिमा उ दोवि समयं तु पुण जहन्नेणं।
जवमज्झविहाणेणं एत्थ विगप्पा बहुठिइया ॥५६॥

शब्दार्थ—**परिणामपच्चएणं**—परिणामों के निमित्त से, **एसा**—यह,

---

१ असत्कल्पना से अधस्तनस्थान प्ररूपणा का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

नेहस्स—स्नेह-रस की, **छव्विहा**—छह प्रकार की, **वुड्ढी**—वृद्धि, **हाणी**—हानि, व—अथवा, **कुणंति**—करते हैं, **जिया**—जीव, **आवलिभागं असंखेज्जं**—आवलिका के असंख्यातवें भाग।

अंतमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त, **चरिमा**—अंतिम, **उ**—और, **दोवि**—दोनों ही, **समयं**—एक समय, **तु**—और, **पुण**—पुनः, **जहन्नेणं**—जघन्य से, **जवमज्झ-विहाणेणं**—यवमध्य के क्रम से, **एत्थ**—यहाँ, **विगप्पा**—विकल्प, **बहुठिइया**—(अल्प) अधिक स्थिति वाले।

गाथार्थ—परिणामों के निमित्त से रस की वृद्धि अथवा हानि छह प्रकार की होती है। जीव आदि की पांच वृद्धि और हानि आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण करते हैं। किन्तु अंतिम वृद्धि और हानि अंतर्मुहूर्त प्रमाण करते हैं और जघन्य से प्रत्येक वृद्धि और हानि का काल एक समय है। यवमध्य विधि से अल्प-अधिक स्थिति वाले स्थानों के विकल्प समझे जा सकते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में वृद्धि, समय और यवमध्य इन तीन प्ररूपणाओं के आशय को स्पष्ट किया है। जिनका विस्तार से विवेचन इस प्रकार है—

वृद्धि प्ररूपणा—जीव के परिणामों के तारतम्य के कारण अनन्तरोक्त (पूर्व में कहे गये) स्नेह-रस की छह प्रकार की हानि अथवा वृद्धि होती है कि किसी समय अनन्तभागाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान में जाता है, किसी समय असंख्यभागाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान में, किसी समय संख्यातभागाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान में, किसी समय संख्यातगुण, असंख्यातगुण या अनन्तगुणाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान में जाता है। इसी प्रकार छह हानि वाले स्थानों में भी जाता है। इस तरह जीव परिणामों के वश हानि, वृद्धि करता रहता है।

समय प्ररूपणा—इस प्ररूपणा के दो प्रकार हैं—१. षट्गुण हानि-वृद्धि निरन्तर होने के समय की प्ररूपणा और २. उन-उन वृद्धि और

हानि वाले रसस्थानों को निरन्तर बांधने की प्ररूपणा। इनमें से पहले वृद्धि और हानियों के समय की प्ररूपणा करते हैं—

अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि इन दो को छोड़कर शेष पाँच वृद्धियों अथवा हानियों को जीव अधिक से अधिक आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण समय पर्यन्त और अंतिम अनन्तगुणवृद्धि तथा अनन्तगुणहानि इन दो को अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त निरन्तर करता है। अर्थात् विवक्षित समय में जिस रसस्थान पर जीव विद्यमान है उससे अनन्तभागाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान में उत्तरोत्तर समय में बढ़ता रहे तो आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय पर्यन्त बढ़ता रहता है इसी प्रकार प्रत्येक वृद्धि के लिये समझना चाहिये तथा विवक्षित समय में जिस रसस्थान पर जीव है उससे अनन्तभागहीन स्पर्धक वाले रसस्थान पर उत्तरोत्तर समय में यदि जीव जाये तो आवलिका के असंख्यातवें भाग से समय पर्यन्त निरंतर हानि को प्राप्त करता है। इसी तरह अंतिम हानि अनन्तगुणहानि को छोड़कर प्रत्येक हानि के लिये समझना चाहिये। किन्तु इतना विशेष है कि अंतिम वृद्धि—अनन्तगुणवृद्धि और अंतिम हानि—अनन्तगुणहानि इन दोनों का काल अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। इस प्रकार से वृद्धि और हानि की प्ररूपणा जानना चाहिये।

अब किस रसबंध के स्थान को जीव कितने काल पर्यन्त निरंतर बांधता है, इसकी अपेक्षा समय प्ररूपणा करते हैं—

प्रथम रसबंध के स्थान से असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबंध के स्थानों में के किसी भी स्थान को अधिक से अधिक चार समय पर्यन्त निरंतर बाँधता है, उसके बाद के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबंध के स्थानों में के किसी भी स्थान को पांच समय पर्यन्त निरंतर बाँधता है, उसके बाद के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों में के किसी भी स्थान को छह समय पर्यन्त और उसके बाद के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों में के किसी भी स्थान को

निरंतर सात समय तथा तत्पश्चात्‌वर्ती असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों में के किसी भी स्थान को निरंतर उत्कृष्ट से आठ समय पर्यन्त बांधता है, तत्पश्चात्‌वर्ती असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसस्थानों को सात समय पर्यन्त, उसके बाद के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों को छह समय पर्यन्त, तत्पश्चाद्‌वर्ती असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों को पांच समय पर्यन्त, तत्पश्चातद्‌वर्ती असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों को चार समय पर्यन्त, उसके बाद के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों को तीन समय पर्यन्त और उसके बाद के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण उत्कृष्ट रसस्थान तक के रसस्थानों में के किसी भी रसस्थान को उत्कृष्ट से निरंतर दो समय पर्यन्त बांधता है और जघन्य से किसी भी रसस्थान को एक समय पर्यन्त ही बांधता है।

इस प्रकार से रसस्थानों को बांधने की समय प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब यवमध्य प्ररूपणा करते हैं।

यवमध्य प्ररूपणा—आठ समय कालमान वाले स्थानों की '**यवमध्य**' यह संज्ञा है। जैसे यव का मध्य भाग मोटा होता है और दोनों बाजुओं में अनुक्रम से पतला-पतला होता जाता है, उसी प्रकार आठ समय काल मान वाले स्थान काल की अपेक्षा मोटे यानि अधिक कालमान वाले हैं और उसकी दोनों बाजू में हीन-हीन कालमान वाले स्थान हैं। जिससे आठ समय कालमान वाले स्थान यवमध्य कहलाते हैं। ये आठ समय काल वाले रसबंध के स्थान किसी रसस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध हैं और किसी रसस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणहीन हैं। जो इस प्रकार से जानना चाहिये।

पूर्व के सात समय कालमान वाले रसस्थानों में के अंतिम रसस्थान से आठ समय काल वाले रसस्थानों का पहला रसस्थान अनन्तगुणवृद्ध स्पर्धक वाला होता है। जब पहला ही अनन्तगुणवृद्ध है तब शेष सभी उसकी अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध ही

होते हैं तथा आठ समय कालमान वालों में के अंतिम रसबंधस्थान से उसके ऊपर का—उत्तर का सात समय काल मान वालों में का पहला स्थान अनन्तगुणवृद्ध स्पर्धक वाला है, उसकी अपेक्षा उससे पहले के आठ समय काल मान वाले समस्त रसबंध स्थान अनन्तगुणहीन स्पर्धक वाले हैं।

इसी प्रकार शेष सात, छह समयादि कालमान वाले स्थान पूर्व के और बाद के उत्तर के रसस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध और अनन्तगुणहीन स्पर्धक वाले होते हैं। मात्र प्रारम्भ के चार समय कालमान वाले स्थान पांच समय काल वालों की अपेक्षा अनन्तगुणहीन ही होते हैं, अनन्तगुणवृद्ध नहीं। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ ही वहां से होता है। उससे पहले कोई रसस्थान नहीं है कि जिसकी अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध हो तथा अंतिम दो समय कालमान वाले समस्त स्थान उससे पूर्व के तीन समय कालमान वाले स्थानों की अपेक्षा अनन्तगुवृणद्ध ही होते हैं, अनन्तगुणहीन नहीं होते हैं क्योंकि वे ही अंतिम है, उसके बाद कोई स्थान नहीं है कि जिसकी अपेक्षा अनन्तगुणहीन हों।

उक्त समग्र कथन यव की आकृति द्वारा स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है। क्योंकि यवमध्य—आठ समय कालमान वाले स्थानों के पहले के चार समय काल वाले से लेकर यवमध्य पर्यन्त अनुक्रम से अधिक-अधिक स्थिति वाले हैं और बाद के दो समय काल वाले स्थान पर्यन्त अनुक्रम से हीन-हीन स्थिति वाले हैं।

इस प्रकार से यवमध्य सम्बन्धी समय प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब इन चार समयादि काल वाले स्थानों के अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं—

आठ समय काल वाले स्थान सब से अल्प हैं। क्योंकि बहुकाल पर्यन्त बंधयोग्य स्थान तथास्वभाव से अल्प और अल्प-अल्प काल वाले अनुक्रम से अधिक-अधिक होते हैं। यवमध्य स्थानों से उसके

दोनों बाजुओं में रहे हुए सात समय काल वाले स्थान असंख्यातगुण हैं और परस्पर में तुल्य हैं। उनकी अपेक्षा उसकी दोनों बाजुओं में रहे हुए छह समय काल वाले स्थान असंख्यातगुण हैं और स्वस्थान में परस्पर दोनों तुल्य हैं। उसकी अपेक्षा दोनों बाजुओं के पाँच समय काल वाले स्थान असंख्यगुण हैं और स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं। उससे उनकी दोनों बाजु के चार समय काल वाले असंख्यगुण हैं और स्व-स्थान में परस्पर तुल्य हैं, उससे तीन समय काल वाले असंख्यगुण हैं और उनसे दो समय वाले असंख्यगुण हैं।

इस प्रकार यवमध्य प्ररूपणा के स्थानों का अल्पबहुत्व जानना चाहिए।

अब इन समस्त रसबंध स्थानों की समुदायापेक्षा विशिष्ट संख्या का निरूपण करते हैं—

रसबंध स्थानों की कुल संख्या

सुहुमगणि पविसंता चिट्ठंता तेसिं कायठिइकालो।

कमसो असंखगुणिया तत्तो अणुभागठाणाइं ॥५७॥

शब्दार्थ—**सुहुमगणिं**—सूक्ष्म अग्निकाय, **पविसंता**—प्रवेश करते हैं, **चिट्ठंता**—विद्यमान, **तेसिं**—उनकी, **कायठिइकालो**—स्वकायस्थितिकाल, **कमसो**—क्रम से, **असंखगुणिया**—असंख्यातगुण, **तत्तो**—उनसे, **अणुभागठाणाइं**—अनुभाग (रस) बंध के स्थान।

गाथार्थ—जो जीव सूक्ष्म अग्निकाय में प्रवेश करते हैं, तथा जो उसमें विद्यमान हैं और उनका जो अपना कायस्थिति काल है, वह अनुक्रम से असंख्यातगुण है, उससे भी रसबंध के स्थान असंख्यात-गुणे हैं।

विशेषार्थ—गाथा में रसबंध के स्थानों की कुल संख्या का प्रमाण बतलाया है कि जो जीव एक समय में सूक्ष्म अग्निकाय में प्रवेश करते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं, वे अल्प हैं, फिर भी उनकी संख्या

असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है। उनकी अपेक्षा जो जीव सूक्ष्म अग्निकाय रूप से रहे हुए हैं, वे असंख्यात गुणे हैं और उनसे भी उनका काय-स्थिति काल असंख्यातगुणा है और उनसे भी रसबंध के स्थान असंख्यात गुणे अधिक हैं।

वे रसबंध के स्थान असंख्यातगुणे हैं, इस विशिष्ट संख्या को बताने के लिये जब ओजोयुग्म प्ररूपणा करते हैं।

ओजोयुग्म प्ररूपणा

कलिबारतेयकडजुम्मसन्निया होंति रासिणी कमसो।
एगाइ सेसगा चउहियंमि कडजुम्म इह सव्वे ॥५८॥

शब्दार्थ—**कलिबारतेयकडजुम्मसन्निया**—कलि, द्वापर, त्रता कृतयुग्म संज्ञा वाली, **होंति**—होती हैं, **रासिणो**—राशियां, **कमसो**—अनुक्रम से, **एगाइ सेसगा**—एक आदि शेष वाली, **चउहियंमि**—चार से भाग देने पर, **कडजुम्म**—कृतयुग्म, **इह**—यहाँ, **सव्वे**— सभी।

गाथार्थ—किसी संख्या को चार से भाग देने पर एक आदि शेष रहे तो ऐसी संख्या अनुक्रम से कलि, द्वापर, त्रेता और कृत-युग्म संज्ञा वाली कहलाती है। यहाँ सभी राशियां कृतयुग्म संज्ञा वाली हैं।

विशेषार्थ—गाथा में रसबंधस्थानों की संख्या के प्रसंग में ओजो-युग्म प्ररूपणा का कथन किया है कि विषमसंख्या को ओज कहते हैं यथा—एक, तीन, पाँच इत्यादि और समसंख्या को युग्म कहते हैं, जैसे—दो, चार इत्यादि। जिस राशि को चार से भाग देने पर एक, दो, तीन शेष रहे और अंत में कुछ भी शेष न रहे वैसी राशियां अनुक्रम से कलि, द्वापर, त्रेता और कृतयुग्म संज्ञा वाली कहलाती हैं।

उक्त संक्षिप्त कथन का तात्पर्यार्थ यह हुआ कि कोई विवक्षित चार राशि स्थापित करें और उन्हें चार से भाग दे और चार से

भाग देने पर जिसमें एक शेष रहे वह राशि पूर्व पुरुषों की परिभाषा के अनुसार कल्योज कहलाती है, जैसे कि तेरह। यहाँ विषम संख्या में कलि और त्रेता के साथ ओज शब्द और सम संख्या में द्वापर एवं कृत के साथ युग्म शब्द संयुक्त होगा। जिस राशि को चार से भाग देने पर दो शेष रहे वह राशि द्वापर युग्म है, जैसे चौदह। जिसमें तीन शेष रहे वह त्रेतौज यथा—पन्द्रह और चार से भाग देने पर कुछ भी शेष न रहे, वह संख्या कृतयुग्म राशि कहलाती है, यथा—सोलह।

कहा भी है—

चउदस दावर जुम्मा, तेरस कलि ओज तह य कडजुम्मा।
सोलस ते ओजो खलु, पन्नरस्सेवं खु विन्नेया॥

चौदह द्वापर युग्म राशि है, तेरह कल्योज, सोलह कृतयुग्म और पन्द्रह की त्रेतोज राशि जानना चाहिये।

यहाँ उपर्युक्त संज्ञा बताने का कारण यह है, कि रसबंध के स्थान, कंडक आदि किस संज्ञा वाले होते हैं। जैसा कि कहा है—

कडजुम्मा अविभागा ठाणाणि य कंडगाणि अणुभागे।

अर्थात् अनुभाग में यानि अनुभाग-रसबंध के अधिकार में अविभाग, स्थान और कंडक कृतयुग्म राशि रूप जानना चाहिये।

इस प्रकार से ओजोयुग्म प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब पर्यवसान प्ररूपणा करते हैं।

पर्यवसान प्ररूपणा—प्रथम षट्स्थानक में अन्तिम बार अनन्तगुणवृद्ध स्थान होने के अनन्तर अनन्तगुणवृद्ध स्थान नहीं होता है। क्योंकि वहाँ पहला षट्स्थान पूर्ण होता है, इसीलिये वह अन्तिम अनन्तगुणवृद्ध स्थान पहले षट्स्थानक का पर्यवसान है। तत्पश्चात् पहले के क्रम से दूसरा षट्स्थान प्रारम्भ होता है। पहले षट्स्थान में जैसे आदि में अनन्तभागवृद्ध स्थान कंडक प्रमाण होते हैं, तत्पश्चात्

अनन्तभाग से अन्तरित असंख्यातभागवृद्ध स्थान कंडकप्रमाण होते हैं, उसके बाद संख्यातभागादि स्थान होते हैं, उसी प्रकार दूसरे षट्-स्थान के प्रारम्भ में भी अनन्तभागवृद्ध स्थान कंडक प्रमाण होते हैं, उसके बाद असंख्यातभागादि स्थान होकर दूसरा षट्स्थान पूर्ण होता है। इसी क्रम से तीसरा। इस प्रकार असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण षट्स्थान होते हैं।

इस प्रकार से पर्यवसान प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब अल्पबहुत्व प्ररूपणा करते हैं।

अल्पबहुत्व प्ररूपणा

सव्वत्थोवा ठाणा अणंतगुणणाए जे उ गच्छंति।

तत्तो असंखगुणिया णंतरवुड्ढीए जहा हेट्ठा ॥५९॥

शब्दार्थ—**सव्वत्थोवा**—सर्व स्तोक (सबसे अल्प), **ठाणा**—स्थान, **अणंत-गुणणाए**—अंनन्तगुणता से, **जे उ**—जो, **गच्छंति**—प्राप्त होते हैं, **तत्तो**—उनसे, **असंखगुणिया**—असंख्यात गुणित, **णंतरवुड्ढीए**—अनन्तर वृद्धि से, **जहा**—यथा, **हेट्ठा**—नीचे के।

गाथार्थ—अनन्त गुणता से वृद्धि को प्राप्त होने वाले स्थान अर्थात् अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान सबसे अल्प हैं, उससे नीचे-नीचे स्थित अनन्तर वृद्धि वाले स्थान क्रमशः असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में षट्स्थान की वृद्धियों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा का कथन प्रारम्भ किया गया है। इस प्ररूपणा के दो प्रकार है—अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा। उनमें से यहाँ अनन्तरोप-निधा द्वारा अल्पबहुत्व प्ररूपणा का निर्देश किया है—

जो स्थान अनन्तगुणवृद्धि वाले हैं, वे अल्प हैं—'सव्वत्थोवा' और उसके बाद होने वाली अनन्तर-अनन्तर वृद्धि की अपेक्षा होने वाले नीचे-नीचे के स्थान क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे हैं। इसका तात्पर्यार्थ इस प्रकार है—

अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान मात्र कंडक जितने होने से अल्प हैं, उनसे असंख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान अनन्तगुणवृद्धि के कंडक को कंडक से गुणा करने से और उसमें एक कंडक मिलाने से जितने हों, उतने होने से असंख्यातगुण हैं। यह कैसे ? तो कहते हैं कि प्रत्येक अनन्तगुणवृद्ध स्थान के पूर्व असंख्यातगुणवृद्ध स्थान कंडक प्रमाण होते हैं। अनन्तगुणवृद्धि के स्थान एक कंडक जितने हैं, अतः कंडक को कंडक से गुणा करने और अन्तिम अनन्तगुणवृद्ध स्थान होने के बाद एक कंडक प्रमाण असंख्यगुणवृद्ध स्थान होते हैं। इसलिये उन एक कंडक जितने स्थानों को बढ़ाने पर उपर्युक्त संख्या होती है।

पहली बार के अनन्तगुणवृद्ध स्थान से पहले के असंख्यातगुणवृद्ध स्थानों से संख्यातगुणवृद्ध स्थान पूर्वोक्त रीति से असंख्यातगुणवृद्धि के कंडक को कंडक से कंडक से गुणा करके एक कंडक और मिलाने से जितने हों, उतने होने से असंख्यातगुण हैं।

पहली बार के असंख्यातगुणवृद्ध स्थान पहले के कंडक प्रमाण संख्यातगुणवृद्ध स्थानों से संख्यातभागवृद्ध स्थान संख्यातगुणवृद्ध स्थान के कंडक को कंडक से गुणा कर एक कंडक जोड़ने पर जितने होते हैं, उतने होने से असंख्यातगुण हैं। इसी प्रकार कंडक प्रमाण संख्यात-भागवृद्ध स्थानों से असंख्यातभागवृद्ध स्थान असंख्यातगुण हैं तथा कंडक प्रमाण असंख्यातभागवृद्ध स्थानों से अनन्तभागवृद्ध स्थान असंख्यातगुण हैं। ये सभी स्थान उत्तरोत्तर कंडक और कंडकवर्ग प्रमाण हैं, ऐसा जो पूर्व में कहा गया है, उसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा से अल्पबहुत्व का विचार करने के पश्चात् अब परंपरोपनिधा से विचार करते हैं—

होंति परंपरवुड्ढीए थोवगाणंतभाग वुड्ढा जे।
अस्संखसंखगुणिया एक्कं दो दो असंखगुणा ॥६०॥

शब्दार्थ—**होंति**—होते हैं, **परंपरवुड्ढीए**—परम्परा वृद्धि में, **थोवगाणंतभागवुड्ढा**—अनन्तभागवृद्ध स्थान अल्प; **जे**—जो, **अस्संखसंखगुणिया**—असंख्यात और संख्यात गुण, **एक्कं**—एक, **दो-दो**—दो-दो, **असंखगुणा**—असंख्यात गुण ।

गाथार्थ—परम्परा वृद्धि में जो अनन्तभागवृद्धि के स्थान हैं, वे अल्प हैं, उससे उसके बाद (असंख्यात भाग वृद्ध रूप) एक स्थान असंख्यातगुण है, उससे दो स्थान उत्तरोत्तर संख्यातगुण हैं, और उनसे उनके बाद के दो स्थान उत्तरोत्तर असंख्यातगुण हैं ।

विशेषार्थ—परम्परा से वृद्धि का विचार करने पर जो अनन्तभागवृद्ध स्थान हैं, वे सर्व स्तोक हैं—'थोवगाणंतभाग वुड्ढा' । उसके बाद का असंख्यातभागगुणवृद्ध रूप एक स्थान असंख्यातगुण है यानि अनन्तभागवृद्ध स्थानों से असंख्यातभागवृद्ध स्थान असंख्यातगुण है । उनसे उसके बाद के दो—संख्यातभागवृद्ध और संख्यातगुणवृद्ध स्थान पूर्व-पूर्व से संख्यातगुण हैं, और उनसे भी उसके बाद के दो वृद्धि स्थान—असंख्यातगुणवृद्ध और अनन्तगुणवृद्ध स्थान असंख्यातगुण हैं ।

उक्त संक्षिप्त कथन का तात्पर्य इस प्रकार है—अनन्तभागवृद्ध स्थान अल्प हैं । क्योंकि पहले अनन्तभागवृद्ध स्थान से लेकर वे स्थान एक कंडक जितने ही होते हैं, उससे अधिक नहीं होते हैं । उनसे असंख्यातभागवृद्ध स्थान असंख्यातगुण हैं और ये असंख्यातभागवृद्ध स्थान असंख्यातगुण इस प्रकार जानना चाहिये—अनन्तभागाधिक कंडक के अन्तिम स्थान से, उससे पीछे का स्थान असंख्यातभागाधिक है । अब यदि अनन्तभागवृद्ध कंडक के ऊपर का पहला असंख्यातभागवृद्ध स्थान अनन्तभागवृद्ध कंडक के अन्तिम स्थान की अपेक्षा असंख्यातभाग अधिक है तो उसके पीछे होने वाले अनन्तभागाधिक स्थान भी उस अन्तिम स्थान की अपेक्षा असंख्यातभागाधिक ही हैं । क्योंकि जो अनन्तभागाधिक स्थान है, वह तो पहले असंख्यातभागाधिक स्थान की अपेक्षा से है, अनन्तभागवृद्ध कंडक के अन्तिम स्थान की

अपेक्षा से नहीं। उसकी अपेक्षा से तो असंख्यातभागवृद्ध स्थान और उसके बाद होने वाले सभी स्थान असंख्यातभाग अधिक ही होते हैं। अब जब असंख्यातभागवृद्ध स्थान से पीछे का अनन्तभागवृद्ध स्थान अनन्तभागवृद्ध कंडक के अन्तिम स्थान की अपेक्षा असंख्यात भाग अधिक है, तो उसके बाद के संख्यात भाग अधिक स्थान तक के सभी स्थान विशेष-विशेष असंख्यातभागाधिक हैं और वे कंडकवर्ग और कंडक जितने हैं, जिससे अनन्तभागवृद्ध स्थानों से असंख्यातभागवृद्ध स्थान असंख्यातगुणे जानना चाहिये।

उससे भी संख्यातभागवृद्ध स्थान संख्यातगुण हैं। वे इस प्रकार जानना चाहिये—पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान में अनन्तर पूर्व के स्थान की अपेक्षा संख्यातभागवृद्धि होती है। यदि ऐसा न हो तो वह संख्यातभागाधिक कहा ही नहीं जा सकता है। अब यदि पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान में संख्यातभागवृद्धि हुई है तो उसके पीछे होने वाले अनन्तभागवृद्ध और असंख्यातभागवृद्ध स्थानों में संख्यातभागवृद्धि तो बहुत ही सरलता से होती है। क्योंकि जो अनन्तभागवृद्धि अथवा असंख्यातभागवृद्धि होती है, वह उसके समीपवर्ती पूर्व-पूर्व स्थान की अपेक्षा होती है। यहाँ संख्यातभागवृद्धि का विचार पहली बार जो संख्यातभागवृद्ध स्थान होता है उससे पूर्व के स्थान की अपेक्षा किया जाता है। इसलिये यदि उस पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व के स्थान की अपेक्षा पहला संख्यातभागवृद्ध स्थान संख्यात-भाग अधिक स्पर्धक वाला है तो उसके पीछे के अपने-अपने पूर्व-पूर्व स्थान की ही अपेक्षा से होने वाले अनन्तभागवृद्ध और असंख्यातभाग-वृद्ध स्थान विशेष-विशेष संख्यातभागवृद्ध होंगे ही। यह विशेष-विशेष संख्यातभागवृद्धि वहाँ तक कहना चाहिये यावत् मूल दूसरा संख्यात-भागवृद्ध स्थान प्राप्त हो। दूसरा मुख्य संख्येयभागाधिक स्थान कुछ अधिक दो संख्येयभागाधिक स्पर्धक वाला जानना। इसी प्रकार तीसरा सातिरेक कुछ अधिक तीन संख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला जानना, चौथा सातिरेक चार संख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला जानना चाहिये। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये कि उत्कृष्ट संख्यात भाग प्रमाण

बीच-बीच में होने वाले मुख्य संख्यातभागवृद्ध स्थान हों। इस तरह पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान से लेकर एक कम उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण मुख्य संख्यातभागवृद्ध स्थान तक के सभी स्थान पहले संख्यातभागवृद्ध से पहले के स्थान की अपेक्षा से संख्यातभागवृद्ध हैं। उत्कृष्ट संख्यातवां संख्यातभागवृद्ध स्थान संख्यातगुण यानि कुछ अधिक दुगने स्पर्धक वाला होता है, इसलिये एक न्यून उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण ग्रहण किया है। उससे ही असंख्यातभागवृद्ध स्थानों से संख्यातभागवृद्ध स्थान संख्यातगुण हैं। क्योंकि पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान के पूर्व जितने असंख्यातभागवृद्धादि स्थान होते हैं, उतने एक-एक संख्यातभागवृद्ध स्थान के बीच में होते हैं और वे बीच में होने वाले मुख्य संख्यातभागवृद्ध स्थान प्रस्तुत विचार में उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण ग्रहण करना है, मात्र उत्कृष्ट संख्यातवां स्थान नहीं लेना है, इसी कारण असंख्यातभागवृद्ध स्थानों से संख्यातभागवृद्ध स्थान संख्यातगुण हैं।

संख्यातभागवृद्ध स्थानों से संख्यातगुणवृद्ध स्थान संख्यातगुण हैं। वे स्थान संख्यातगुणवृद्ध इस प्रकार से होते हैं कि पहले संख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व के स्थान की अपेक्षा उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण मुख्य संख्यातभागवृद्ध स्थानों से परे अन्तिम स्थान साधिक दुगने स्पर्धक वाला होता है, पुनः उतने स्थानों को उलांघने के बाद अन्तिम स्थान साधिक तिगुना होता है, फिर उतने स्थानों का अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त अन्तिम स्थान कुछ अधिक चौगुना स्पर्धक वाला होता है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट संख्यातवां स्थान उत्कृष्ट संख्यातगुण हो, पहले संख्यातगुण स्थान से पूर्व के उत्कृष्ट संख्यातप्रमाण मुख्य संख्यातभागवृद्ध स्थान प्रत्येक संख्यातगुणवृद्ध स्थान के बीच में होते हैं और संख्यातगुणवृद्ध स्थान उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण होते हैं, इसलिये संख्यातभागवृद्ध स्थानों से संख्यातगुणवृद्ध स्थान संख्यातगुण ही होते हैं।

संख्यातगुणवृद्ध स्थानों से असंख्यातगुणवृद्ध स्थान असंख्यातगुण हैं

और वे इस प्रकार कि अन्तिम उत्कृष्ट संख्यातगुण स्थान से उत्कृष्ट संख्यात प्रमाण मुख्य संख्यातभागवृद्ध स्थानों को अतिक्रमण करने के बाद जो अन्तिम स्थान आता है वह जघन्य असंख्यातगुण होता है और उसके बाद होने वाले सभी अनन्तभागवृद्ध, असंख्यातभागवृद्ध, संख्यातगुणवृद्ध और असंख्यातगुणवृद्ध स्थान असंख्यातगुणे ही होते हैं। इसीलिये संख्यातगुणवृद्ध स्थानों से असंख्यातगुणवृद्ध स्थान असंख्यातगुण हैं।

उनसे अनन्तगुणवृद्ध स्थान असंख्यातगुण हैं। क्योंकि पहले अनन्तगुणवृद्ध स्थान से लेकर षट्स्थान की समाप्ति पर्यन्त सभी स्थान अनन्तगुणवृद्ध स्पर्धक वाले ही हैं। इसका कारण यह है कि पहला अनन्तगुणवृद्ध स्थान उसके पूर्व में रहे हुए स्थान की अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध है। यदि वह पहला ही स्थान अनन्तगुणवृद्ध है तो उस अनन्तगुणवृद्ध की ही अपेक्षा से होने वाले अनन्तभागवृद्धादि स्थान अनन्तगुण स्पर्धक वाले ही कहलाते हैं। प्रथम अनन्तगुणवृद्धि से पहले के सभी स्थान प्रत्येक अनन्तगुणवृद्धि के बीच में होते हैं, अनन्तगुणवृद्ध स्थान और अन्तर कंडक प्रमाण होते हैं, इसलिये असंख्यातगुणवृद्ध स्थानों से अनन्तगुणवृद्धस्थान असंख्यातगुणा है।

इस प्रकार से अल्पबहुत्व प्ररूपणा करने के साथ रसबंधस्थानों के स्वरूप का कथन पूर्ण हुआ। अब इन अनुभागबंधस्थानों के बंधक त्रस और स्थावर जीवों की प्ररूपणा करते हैं।

अनुभागबंधस्थानों के बंधक जीवों की प्ररूपणा

इसकी प्ररूपणा करने के आठ अनुयोग द्वार हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

एगट्ठाणपमाणं अंतरठाणा निरंतरा ठाणा।
कालो वुड्ढी जवमज्झ फासणा अप्पबहु दारा ॥६१॥

शब्दार्थ—**एगट्ठाणपमाणं**—एकस्थानप्रमाण, **अंतरठाणा**—अंतरस्थान,

निरन्तरा ठाणा—निरंतर स्थान, **कालो**—काल, **वुड्ढी**—वृद्धि, **जवमज्झ**—यवमध्य, **फासणा**—स्पर्शना, **अप्पबहु**—अल्पबहुत्व, **दारा**—द्वार।

गाथार्थ—अनुभागबंधस्थानों के बंधक जीवों के विषय में विचार के एकस्थानप्रमाण, अंतरस्थान, निरंतरस्थान, काल, वृद्धि, यवमध्य, स्पर्शना और अल्पबहुत्व ये आठ द्वार हैं।

विशेषार्थ—अनुभागबंधस्थानों को बांधने वाले जीवों के विषय में आठ अनुयोग द्वार क्रमशः इस प्रकार हैं—१. एकस्थानप्रमाण—एक-एक रसबंधस्थान के बंधक जीवों का प्रमाण, २ अन्तर स्थान—रसबंधस्थानों में बांधने वाले जीवों की अपेक्षा कितने स्थानों का कम से कम और अधिक से अधिक अंतर पड़ता है, ३. निरंतर स्थान—कितने स्थानों को बिना अंतर के बांधते हैं, ४. काल-प्रमाण—नाना जीवों की अपेक्षा कोई भी एक अनुभागस्थान कितने काल तक बंधता है, ५. वृद्धि—किस क्रम से अनुभाग-स्थानों को बांधने वाले जीवों की वृद्धि होती है, ६. यवमध्य—अधिक-से-अधिक कालमान वाले स्थानों को बताना, ७. स्पर्शना—उन-उन कालमान वाले स्थानों को अनेक जीव कितने काल तक स्पर्श करते हैं, ८. अल्पबहुत्वप्ररूपणा—आगे-पीछे के कालमान वाले स्थानों को स्पर्श करने वाले जीवों के अल्पाधिक्य का विचार करना। इस प्रकार से अनुभागबंधस्थानों के बंधक जीवों की प्ररूपणा करने के ये आठ द्वार हैं।

यथाक्रम कथन करने के न्यायानुसार सर्वप्रथम एकस्थानप्रमाण का निर्देश करते हैं।

एकस्थानप्रमाण

एक्केक्कंमि असंखा तसेयराणंतया सपाउग्गे।
एगाइ जाव आवलि असंखभागो तसा ठाणे ॥६२॥

शब्दार्थ—**एक्केक्कंमि**—एक-एक में, **असंखा**—असंख्यात, **तसेयराणंतया**—त्रस से इतर (स्थावर) अनंत, **सपाउग्गे**—स्वप्रायोग्य, **एगाइ**—एक से लेकर,

जाव—यावत्-पर्यन्त, **आवलि**—आवलिका, **असंखभागो**—असंख्यातवें भाग, **तसा**—त्रस, **ठाणे**—स्थान में।

गाथार्थ—स्वप्रायोग्य एक-एक स्थान में एक से लेकर आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण पर्यन्त त्रस जीव असंख्यात और त्रस से इतर अर्थात् स्थावर अनन्त होते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ एक-एक स्थान में अनुभागबंध के बंधक जीवों का परिमाण बताया है कि त्रस जीवों के बंधयोग्य एक-एक अनुभाग-बंधस्थान में जघन्य एक से लेकर उत्कृष्ट—आवलिका के असंख्यातवें भाग में वर्तमान समय प्रमाण असंख्यात त्रस जीव होते हैं। अर्थात् इतने त्रस जीव उस-उस स्थान के बांधने वाले होते हैं और स्वप्रायोग्य स्थान के बांधने वाले स्थावर जीव अनन्त होते हैं, यानि स्थावरयोग्य प्रत्येक रसस्थान को बांधने वाले स्थावर जीव अनन्त होते हैं।

इस प्रकार से रसबंधस्थान के बंधक जीवों का प्रमाण जानना चाहिए। अब अन्तरस्थानों का कथन करते हैं।

अन्तरस्थान प्ररूपणा

तसजुत्तठाणविवरेसु सुन्नया होंति एक्कमाईया।
जाव असंखा लोगा निरन्तरा थावरा ठाणा ॥६३॥

शब्दार्थ—**तसजुत्तठाणविवरेसु**—त्रसयोग्य स्थानों के बीच में, **सुन्नया**—शून्य (रहित), **होंति**—होते हैं, **एक्कमाईया**—एक से लेकर, **जाव**—तक, **असंखालोगा**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **निरन्तरा**—निरन्तर, **थावरा ठाणा**—स्थावर योग्य स्थान।

गाथार्थ—त्रसयोग्य स्थानों के बीच में एक से लेकर असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों का अंतर पड़ता है और स्थावर-योग्य स्थानों में अंतर नहीं होता है।

विशेषार्थ—त्रसयोग्य जो रसबंध स्थान त्रसों को बंध में प्राप्त नहीं होते हैं वे जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट असंख्यात लोकाकाश

प्रदेश प्रमाण होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि त्रस जीवों से उनके बंधयोग्य रसबंधस्थान असंख्यातगुणे हैं। जिससे यह संभव नहीं है कि वे सभी स्थान प्रति समय बंध को प्राप्त हों ही, कितने ही बंधते हैं और कितनेक नहीं बंधते हैं। विवक्षित समय में जो न बंधें वे जघन्य से एक दो और उत्कृष्ट से असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। इसीलिये यह कहा है कि बीच-बीच में असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों का अंतर पड़ता है।

स्थावरयोग्य जो स्थान हैं, वे सभी निरन्तर बंधते हैं। त्रस जीवों जैसे बीच-बीच में बंधशून्य स्थान नहीं होते हैं। क्योंकि स्थावर जीव अनन्त हैं और उनके योग्य बंधस्थान असंख्यात ही हैं।

इस प्रकार अंतरस्थानों के प्रमाण की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब निरन्तर कितने स्थान बंधते हैं, और उनके काल का विचार करते हैं।

निरंतरस्थानबंध प्ररूपणा

दोआइ जाव आवलिअसंखभागो निरंतर तसेहिं।
नाणाजीएहिं ठाणं असुन्नयं आवलि असंखं ॥६४॥

शब्दार्थ—**दोआइ**—दो से लेकर, **जाव**—तक, **आवलिअसंखभागो**—आवलिका के असंख्यातवें भाग, **निरंतर**—निरन्तर, **तसेहिं**—त्रस जीवों द्वारा, **नाणाजीएहिं**—अनेक जीवों द्वारा, **ठाणं**—स्थान, **असुन्नयं**—अशून्य, **आवलि असंखं**—आवलिका के असंख्यातवें भाग।

गाथार्थ—दो से लेकर आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थान त्रस जीवों द्वारा निरंतर बंधते हैं और अनेक जीवों द्वारा बांधे जा रहे रसबंधस्थान आवलिका के असंख्यातवें भाग जितने काल अशून्य रहते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में यह स्पष्ट किया है कि कितने स्थान निरंतर बंधते हैं और अनेक जीवों की अपेक्षा कोई एक स्थान कितने काल

तक निरंतर बंधता है। सर्वप्रथम त्रस जीवों की अपेक्षा इसका विचार करते हैं—

त्रस जीवों द्वारा जो स्थान निरंतर बंधते हैं, वे कम-से-कम दो, तीन आदि और अधिक-से-अधिक आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण होते हैं। इसका कारण यह है कि त्रस जीव थोड़े हैं और रसबंध के स्थान उनसे असंख्यातगुणे अधिक हैं, जिससे सभी स्थान त्रस जीवों द्वारा निरंतर नहीं बांधे जा सकते हैं किन्तु कितने ही स्थान निरंतर बंधते हैं तथा अंतर भी पड़ता है। वह इस प्रकार कि कुछ स्थान नहीं बंधते हैं और कुछ एक स्थान बंधते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय होता है। अर्थात् निरंतर कितने स्थान बंधते हैं, इसका यहाँ विचार किया और अन्तर पड़ता है—नहीं बंधते हैं तो कितने नहीं बंधते हैं, इसका विचार पूर्व गाथा में किया जा चुका है।

काल प्रमाण प्ररूपणा

इस प्रकार से निरंतर बंधने वाले स्थानों का विचार करने के बाद अब यह बताते हैं कि अनेक जीवों की अपेक्षा कोई भी एक स्थान निरन्तर कितने काल तक बंधता है और कितने काल तक बंधशून्य नहीं रहता है—

त्रसप्रायोग्य कोई भी एक स्थान अन्य-अन्य जीवों द्वारा निरंतर बंधे तो उत्कृष्ट से आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण ही बंधता है और उसके बाद अवश्य ही बंधशून्य हो जाता है, यानि उसे एक भी त्रस जीव नहीं बांधता है। किसी भी स्थान का जघन्य निरंतर बंधकाल एक, दो समय है, अर्थात् कम-से-कम एक या दो समय बंधने के बाद वह स्थान बंधशून्य हो जाता है। परन्तु स्थावर जीवों के योग्य प्रत्येक अनुभागबंधस्थान अन्य-अन्य स्थावर जीवों द्वारा निरन्तर बंधते ही रहते हैं, किन्तु किसी भी काल में बंधशून्य नहीं होते हैं। क्योंकि स्थावर जीव अनन्त हैं।

इस प्रकार अनन्त जीवों की अपेक्षा बंधकाल का कथन जानना

चाहिये। अब यह स्पष्ट करते हैं कि अनुभाग स्थान में किस क्रम से बांधने वालों की अपेक्षा जीव बढ़ते हैं। इसका निरूपण करने की दो विधायें हैं—१. अनन्तरोपनिधा और २. परंपरोपनिधा। दोनों उपनिधाओं की अपेक्षा उनका निरूपण इस प्रकार जानना चाहिए—

जवमज्झंमि बहवो विसेसहीणाउ उभयओ कमसो ।
गंतुमसंखा लोगा अद्धद्धा उभयओ जीवा ॥६५॥

शब्दार्थ—**जवमज्झंमि**—यवमध्य में, **बहवो**—बहुत, **विसेसहीणा**—विशेषहीन, **उ**—और, **उभयओ**—दोनों बाजुओं से, **कमसो**—अनुक्रम से, **गंतुमसंखालोगा**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान जाने पर, **अद्धद्धा**—अर्ध-अर्ध, **उभयओ**—दोनों ओर से, **जीवा**—जीव।

गाथार्थ—यवमध्य में बहुत जीव हैं और अनुक्रम से दोनों बाजुओं में विशेषहीन, विशेषहीन हैं तथा दोनों ओर से असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान जाने पर जीव अर्ध-अर्ध होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में अनन्तरोपनिधा के द्वारा और उत्तरार्ध में परंपरोपनिधा द्वारा अनुभागबंधस्थानों में जीवों का प्रमाण बतलाया है। इन दोनों में से पहले अनन्तरोपनिधा की दृष्टि का विचार करते हैं—

'जवमज्झंमि' अर्थात् आठ समय काल वाले यवमध्य रूप रसबंध के स्थानों को बांधने वाले जीव बहुत हैं, और उसकी दोनों बाजुओं के स्थानों को बांधने वाले अनुक्रम से विशेषहीन-विशेषहीन हैं—'विसेसहीणाउ उभयओ कमसो'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सर्व जघन्य रसबंधस्थान को बांधने वाले जीव अल्प हैं, दूसरे स्थान को बांधने वाले जीव विशेषाधिक हैं, इस प्रकार विशेषाधिक-विशेषाधिक आठ समय काल वाले स्थान पर्यन्त जानना चाहिये। तत्पश्चात् सात समय काल वाले स्थान से लेकर दो समय काल वाले स्थान पर्यन्त विशेषहीन-विशेषहीन कहना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि आठ समय काल वाले अंतिम स्थान से सात समय काल वाले पहले स्थान को बांधने

वाले जीव अल्प हैं। उससे तथा उसके पीछे के स्थान को बांधने वाले जीव अल्प हैं। इस प्रकार अल्प-अल्प उत्कृष्ट दो समय काल वाले अंतिम स्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा का आशय है। अब परं-परोपनिधा द्वारा विचार करते हैं—

यवमध्य सरीखे आठ समय काल वाले अनुभागबंध स्थानों को बांधने वाले जीवों से उसकी दोनों बाजु असंख्यात-असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों को उलांघने के बाद जो-जो अनुभागबंधस्थान प्राप्त होता है उसमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अर्ध-अर्ध जीव होते हैं। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये जब एक बाजू तो चार समय और दूसरी बाजू में दो समय काल वाला स्थान प्राप्त हो।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है—जघन्य अनुभागबंधस्थान को जितने जीव बांधते हैं उनसे जघन्य अनुभागबंधस्थान से लेकर असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों को उलांघने के बाद जो स्थान आता है, उसको बांधने वाले जीव दुगुने होते हैं। पुनः वहां से भी उतने स्थानों को उलांघने के बाद जो स्थान आता है उसको बांधने वाले जीव दुगुने होते हैं। इस प्रकार दुगुने-दुगुने यवमध्य पर्यन्त कहना चाहिये। यवमध्य के अंतिम स्थान के अनन्तर असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों का अतिक्रमण करने पर जो स्थान प्राप्त होता है, उसमें अंतिम द्विगुण वृद्धस्थान के जीवों से द्विगुणहीन अर्थात् आधे जीव होते हैं। पुनः उतने ही स्थानों का अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त स्थान में आधे जीव होते हैं। इस प्रकार आधे-आधे जीव वहाँ तक कहना चाहिये जब सर्वोत्कृष्ट दो समय काल वाला रसबंधस्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार परंपरोपनिधा से बंधकाल प्रमाण का विचार करने के बाद अब हानि के प्रमाण का विचार करते हैं।

आवलिअसंखभागं तसेसु हाणीण होइ परिमाणं।
हाणि दुगंतरठाणा थावरहाणी असंखगुणा ॥६६॥

शब्दार्थ—**आवलिअसंखभागं**—आवलिका के असंख्यतावें भाग, **तसेसु**—त्रस जीवों में, **हाणीण**—हानि का, **होइ**—होता है, **परिमाणं**—प्रमाण, **हाणि**—हानि, **दुगंतरठाणा**—दो हानि के मध्य के स्थान, **थावरहाणी**—स्थावर जीवों की हानियां, **असंखगुणा**—असंख्यातगुण।

गाथार्थ—त्रस जीवों में हानि का प्रमाण आवलिका का असंख्यातवां भाग प्रमाण है एवं दो हानियों के बीच के स्थान तथा स्थावर जीवों की हानियां असंख्यातगुण हैं।

विशेषार्थ—त्रस जीवों के विषय में यवमध्य की अपेक्षा उससे पहले और बाद में जो द्विगुणहानि होती है, वह कुल मिलाकर 'आवलि असंखभागं'—आवलिका के असंख्यातवें भाग समय प्रमाण होती है और आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने कुल मिलाकर द्विगुणहानि के स्थान होते हैं।

प्रश्न—पूर्व में कहा गया है कि त्रस जीवों द्वारा निरंतर अनुभाग-बंधस्थान बंधें तो अधिक से अधिक आवलिका के असंख्यातवें भाग समय प्रमाण बंधते हैं। उसके बाद कितने ही स्थान बंधशून्य होते हैं एवं कितने ही बंधते हैं, फिर कितने ही बंधते हैं और फिर कितने ही बंधशून्य होते हैं। इस प्रकार निरंतर भी बंधते हैं और बीच-बीच में बंधशून्य भी होते हैं। प्रत्येक स्थान निरंतर बधते नहीं हैं। जब इस प्रकार है तो जघन्य स्थान से लेकर यवमध्य रसस्थान तक जीवों की वृद्धि कही और फिर जीवों की हानि कही एवं यवमध्य के पहले और बाद में कुल मिलाकर आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण द्विगुण हानि के स्थान कहे तो वे किस प्रकार घटित होते हैं? यथार्थ में देखा जाये तो इस प्रकार से एक भी द्विगुणहानिस्थान घटित नहीं हो सकता है।

उत्तर—यह कथन सत्य है कि विवक्षित किसी भी एक समय की अपेक्षा विचार किया जाये तो बीच में बंधशून्य स्थान होने से द्विगुणहानिस्थान घटित नहीं हो सकते हैं। परन्तु त्रिकालवर्ती जीवों की अपेक्षा विचार किया जाये तो कोई भी स्थान बंधशून्य नहीं हो सकता है। क्योंकि भूतकाल में प्रत्येक स्थान जीव ने स्पर्श किया है और भविष्यकाल में स्पर्श करेगा, जिससे उसकी अपेक्षा से चार समय वाले स्थान से यवमध्य पर्यन्त प्रत्येक स्थान में जीवों की जो वृद्धि तथा उसके बाद क्रमशः जीवों की जो हानि कही है, एवं आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण द्विगुण हानि वाले जो स्थान कहे हैं, वे बराबर घटित हो सकते हैं। यहाँ त्रिकालवर्ती जीवों की अपेक्षा विचार किया गया है, कि आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण अनुभागबंधस्थान निरंतर बंधते हैं और उसके बाद कितने ही स्थान अवश्य बंधशून्य होते हैं—यह विचार विवक्षित किसी भी एक समय की अपेक्षा है, जिससे यहाँ किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

त्रसों की पहली और दूसरी द्विगुण हानि के बीच में जो स्थान हैं, उनकी अपेक्षा स्थावर जीवों के यवमध्य के पहले के और पीछे के कुल मिलाकर जो द्विगुणहीन अनुभागस्थान होते हैं, वे असंख्यात-गुण हैं। यहाँ त्रसों के समस्त द्विगुणहीन स्थान अल्प हैं, उससे एक और दूसरी द्विगुण हानि के बीच के रसबंधस्थान असंख्यातगुण हैं। स्थावरों के सम्बन्ध में इस प्रकार है—त्रसों के द्विगुणहानि के बीच के स्थान अल्प हैं, उससे उनके—स्थावरों के द्विगुणहीन स्थान असंख्यातगुण हैं।

इस प्रकार जिस क्रम से अनुभागबंधस्थान में बंधक की अपेक्षा जीवों की हानि होती है उसका विचार करने के बाद अब यवमध्य प्ररूपणा करते हैं।

यवमध्य प्ररूपणा

जवमज्झे ठाणाइं असंखभागो उ सेसठाणाणँ।
हेट्ठंमि हौंति थोवा उवरिम्मि असँखगुणियाणि ॥६७॥

शब्दार्थ - **जवमज्झे**—यवमध्य के, **ठाणाइं**—स्थान, **असंखभागो**—असंख्यातवें भाग, **उ**—और, **सेसठाणाणं**—शेष स्थानों के, **हेट्ठंमि**—नीचे के, **होंति**—होते हैं, **थोवा**—स्तोक अल्प, **उवरिम्मि**—ऊपर के, **असंखगुणियाणि**—असंख्यातगुणे।

गाथार्थ—यवमध्य के स्थान शेष स्थानों के असंख्यातवें भाग हैं तथा नीचे के स्थान अल्प और ऊपर के स्थान असंख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ—गाथा में यवमध्य रूप अनुभाग स्थानों का प्रमाण बतलाया है कि वे कितने हैं।

आठ समय वाले स्थानों को यवमध्य कहते हैं। अतएव यव के मध्य सदृश होने से वे यवमध्य रूप आठ समय वाले स्थान अन्य स्थानों की अपेक्षा असंख्यातवें भाग मात्र होते हैं—'असंखभागो उ सेस ठाणाणं'। किन्तु यवमध्य से नीचे के चार से सात समय तक के काल वाले स्थान अल्प हैं—'हेट्ठंमि होंति थोवा' और उनकी अपेक्षा यवमध्य से ऊपर के सात से लेकर दो समय तक के काल वाले स्थान असंख्यातगुणे हैं—'उवरिम्मि असंखगुणियाणि'।

इस प्रकार से यवमध्य प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा करते हैं।

स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा

दुगचउरट्ठतिसमइग सेसा य असंखगुणणया कमसो।
काले ईए पुट्ठा जिएण ठाणा भमंतेणं ॥६८॥
तत्तो विसेसअहियं जवमज्झा उवरिमाइं ठाणाइं।
तत्तो कंडगहेट्ठा तत्तोवि हु सव्वठाणाइं ॥६९॥

शब्दार्थ—**दुगचउरट्ठतिसमइग**—दो, चार, आठ, तीन समय काल वाले, **सेसा**—शेष, **य**—और, **असंखगुणणया**—असंख्यातगुणे से, **कमसो**—

अनुक्रम से, **काले ईए**—अतीत काल में, **पुट्ठा**—स्पर्श किये हैं, **जिएण**—जीव ने, **ठाणा**—स्थान, **भमंतेणं**—भ्रमण करते हुए।

तत्तो—उससे, **विसेसअहियं**—विशेषाधिक, **जवमज्झाउवरिमाइं**—यवमध्य से ऊपर के, **ठाणाइं**—स्थान, **तत्तो**—उससे, **कंडगहेट्ठा**—कंडक से नीचे के, **तत्तोवि**—उससे भी, **हु**—निश्चय ही, **सव्वठाणाइं**—सर्वस्थान।

गाथार्थ—अतीतकाल में भ्रमण करते हुए जीव ने दो, चार, आठ और तीन समय काल वाले तथा शेष स्थानों को अनुक्रम से असंख्यातगुणे काल तक स्पर्श किया है।

उससे यवमध्य से ऊपर के स्थानों का, उससे कंडक के नीचे के स्थानों का और उससे सर्वस्थानों का अनुक्रम से विशेषाधिक स्पर्शना काल है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में अतीत काल में भ्रमण करते हुए जीव द्वारा किया गया स्पर्शना काल और उन रसस्थानों की स्पर्शना का अर्थात् बंधकाल का अल्पबहुत्व बतलाया है।

सर्वप्रथम स्पर्शनाकाल को बतलाते हैं कि अतीत काल में भ्रमण करते हुए जीव ने दो समय काल वाले रसबंधस्थानों को अल्प काल ही स्पर्श किया है अर्थात् उन स्थानों को अल्प काल पर्यन्त ही बांधा है। उससे नीचे के चार समय काल वाले स्थानों को असंख्यातगुण काल स्पर्श किया और उतने ही काल ऊपर के चार समय काल वाले स्थानों का स्पर्श किया है। उससे आठ समय काल वाले यवमध्य स्थानों को असंख्यातगुणे काल स्पर्श किया है। उससे यवमध्य से नीचे के पाँच, छह और सात समय काल वाले अनुभाग स्थानों का समुदित स्पर्शना काल असंख्यातगुण है और इतना ही यवमध्य से ऊपर के सात, छह और पांच समय काल वाले स्थानों का (तीनों का) मिलाकर स्पर्शना काल है।

इसका तात्पर्य यह है कि संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव

ने उतने-उतने काल उस-उस समयप्रमाण वाले अनुभागस्थानों का बंध किया है।

अब इन अनुभागस्थानों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

पांच, छह, सात समय काल वाले रसस्थानों का समुदित जो स्पर्शना काल है, उसकी अपेक्षा यवमध्य से ऊपर के सात से लेकर दो समय काल पर्यन्त के सभी स्थानों का समुदित स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है। उसकी अपेक्षा कंडक यानि यवमध्य से ऊपर के चार समय काल वाले स्थानों से लेकर जघन्य चार समय काल वाले स्थानों तक के सभी स्थानों का समुदित स्पर्शना काल विशेषाधिक है। उसकी अपेक्षा सभी स्थानों का समुदित स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है।

इस प्रकार से रसबंध में स्पर्शना यानि बंधकाल का अल्पबहुत्व जानना चाहिये। अब उन रसस्थानों के बांधने वाले जीवों का अल्पबहुत्व कहते हैं—

फासण कालप्पबहू जह तह जीवाण भणसु ठाणेसु।
अणुभागबंधठाणा अज्झवसाया व एगट्ठा ॥७०॥

शब्दार्थ—**फासण कालप्पबहू**—स्पर्शनाकाल का अल्पबहुत्व, **जह**—जिस प्रकार से, **तह**—उसी प्रकार से, **जीवाण**—जीवों का, **भणसु**—कहना चाहिये, **ठाणेसु**—स्थानों में, **अणुभागबंधठाणा**—अणुभागबंधस्थान, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **व**—अथवा, **एगट्ठा**—एकार्थक।

गाथार्थ—जिस प्रकार से स्थानों में स्पर्शनाकाल का अल्पबहुत्व कहा है उसी प्रकार जीवों का भी अल्पबहुत्व कहना चाहिये। अनुभागबंधस्थान अथवा अध्यवसाय ये दोनों एकार्थक हैं।

विशेषार्थ—रसबंधस्थानों में जिस प्रकार से स्पर्शनाकाल का अल्पबहुत्व कहा है, उसी प्रकार जीवों का भी अल्पबहुत्व कहना चाहिये कि दो समय काल वाले रसबंधस्थानों को बाँधने वाले जीव

अल्प हैं। उसकी अपेक्षा यवमध्य पूर्व के जघन्य चार समय काल के स्थानों को बाँधने वाले जीव असंख्यातगुणे हैं, यवमध्य से ऊपर चार समय काल वाले स्थानों को बाँधने वाले जीव भी उतने ही हैं। उनसे आठ समय काल वाले स्थानों को बाँधने वाले असंख्यातगुणे हैं, उनसे तीन समय काल वाले स्थानों को बाँधने वाले असंख्यातगुणे हैं। उनसे प्रारम्भ के पाँच, छह और सात समय काल वाले स्थानों को बाँधने वाले असंख्यातगुणे हैं, यवमध्य से ऊपर के सात, छह और पांच समय काल वाले स्थानों को बाँधने वाले जीव उतने ही हैं। उससे यवमध्य के ऊपर के सभी स्थानों को बाँधने वाले विशेषाधिक हैं। उनसे प्रारम्भ के जघन्य चार समय काल वाले स्थान से लेकर यवमध्य से ऊपर के पांच समय काल वाले तक के समस्त स्थानों को बाँधने वाले जीव विशेषाधिक हैं। उनसे भी समस्त रसबंधस्थानों को बाँधने वाले जीव विशेषाधिक हैं।

प्रश्न—इसी विषय में कर्मप्रकृति में अध्यवसायस्थानों में उपर्युक्त जीवों का अल्पबहुत्व इस प्रकार कहा है—

जीवप्पा बहुभेयं अज्झवसाणेसु जाणेज्जा।

अध्यवसायों में इस प्रकार से जीवों का अल्पबहुत्व जानना चाहिये—जिस प्रकार से स्पर्शना काल में कहा है और इस (पंचसंग्रह) में रसबंध के बाँधने वाले जीवों का अल्पबहुत्व कहा है, तो परस्पर विरोध क्यों नहीं होगा ?

उत्तर—अध्यवसाय और अनुभाग-स्थान ये दोनों एकार्थक हैं। यहाँ (पंचसंग्रह में) रसबंधस्थानों के बाँधने वाले जीवों का अल्पबहुत्व कहा है और कर्मप्रकृति में रसस्थान के बंध में निमित्तभूत अध्यवसायों का कारण में कार्य का आरोप करके अल्पबहुत्व कहा है। इसीलिये यथार्थ रूप से दोनों में कोई अर्थभेद नहीं है। क्योंकि जितने रसबंध के कारणभूत अध्यवसायस्थान हैं उतने ही रसबंध के स्थान हैं। अतएव दोनों के कथन में कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार से रसबंधस्थानों के बाँधने वाले जीवों का अल्प-बहुत्व जानना चाहिये। अब यह स्पष्ट करते हैं कि एक स्थितिस्थान के बंध के कारण कितने अध्यवसाय हैं और स्थितिस्थान के हेतुभूत प्रत्येक अध्यवसाय में अनेक जीवों की अपेक्षा रसबंध के निमित्तभूत कितने अध्यवसाय होते हैं।

स्थिति एवं रसबंध के निमित्तभूत अध्यवसाय

ठिइठाणे ठिइठाणे कसायउदया असंखलोगसमा।
एक्केक्कसायउदये एवं अणुभागठाणाइं ॥७१॥

शब्दार्थ—**ठिइठाणे ठिइठाणे**—स्थितिस्थान-स्थितिस्थान में, **कसाय-उदया**—कषायोदय के स्थान, **असंखलोगसमा**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **एक्केक्कसायउदये**—एक-एक कषायोदय (अध्यवसाय) में, **एवं**—इसी प्रकार, **अणुभागठाणाइं**—अनुभागबंध के निमित्तभूत स्थान।

गाथार्थ—स्थितिस्थान-स्थितिस्थान में अर्थात् प्रत्येक स्थिति-स्थान में उसके कारणभूत असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय के स्थान होते हैं और एक-एक कषायोदय में असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अनुभागबंध के निमित्तभूत अध्यवसाय-स्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में दो बातों को स्पष्ट किया है कि प्रत्येक स्थितिस्थान के बंध के कारण कितने अध्यवसाय हैं और स्थितिस्थान के हेतुभूत प्रत्येक अध्यवसाय में नाना जीवों की अपेक्षा रसबंध के निमित्तभूत कितने अध्यवसाय होते हैं। उनमें से पहले प्रत्येक स्थितिस्थान के बंध के कारणभूत अध्यवसायों को बतलाते हैं।

एक समय में एक साथ जितनी स्थिति बंधती है उसे स्थिति-स्थान कहते हैं। उसके जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त जितने समय हैं, उतने स्थितिस्थान होते हैं। जैसे कि जघन्य स्थिति यह पहला स्थितिस्थान, समयाधिक जघन्य स्थिति ये दूसरा स्थितिस्थान, दो समयाधिक जघन्य स्थिति तीसरा स्थितिस्थान इस प्रकार समय-समय की वृद्धि करते हुए सर्वोत्कृष्ट स्थिति ये अंतिम

स्थान कहलाता है। इनमें का कोई भी एक स्थितिस्थान एक समय में एक साथ बंधता है। इस प्रकार असंख्यात स्थितिस्थान होते हैं।

इन स्थितिस्थानों के बंध में हेतुभूत तीव्र, मंद आदि भेद वाले कषायोदय के स्थान हैं और वे जघन्य कषायोदय से लेकर क्रमशः बढ़ते हुए उत्कृष्ट कषायोदय पर्यन्त असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। अर्थात् एक-एक स्थितिस्थान के बंध में हेतुभूत नाना जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय के स्थान होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्थिति समान बंधती है, लेकिन कषायोदय भिन्न-भिन्न होते हैं और भिन्न-भिन्न कषायोदय रूप कारणों द्वारा एक ही स्थितिस्थान का बंध रूप कार्य होता है।

यहाँ यह शंका होती है कि कारणों के अनेक होने पर भी कार्य एक ही कैसे होता है ? तो इसके उत्तर में यह समझना चाहिये कि कषायोदय रूप कारण अनेक होने पर भी सामान्यतः एक ही स्थिति-स्थान का बंध रूप कार्य यद्यपि एक ही होता है, लेकिन जो स्थिति-स्थान बंधता है, वह एक ही सदृश रूप में भोगा जाये वैसा नहीं बंधता है, परन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव आदि अनेक प्रकार की विचित्रताओं से युक्त बंधता है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों रूप निमित्त के द्वारा भिन्न-भिन्न क्षेत्र में, भिन्न-भिन्न काल में और पृथक्-पृथक् भवों में जो एक ही स्थितिस्थान अनुभव किया जाता है, यदि उसके बंध में अनेक कषायोदय रूप अनेक कारण न हों तो वह अनुभव नहीं किया जा सकता है। बंध में एक ही कारण हो तो बांधने वाले सभी एक ही तरह से अनुभव करें, लेकिन एक ही स्थितिस्थान भिन्न-भिन्न जीव द्रव्यादि भिन्न-भिन्न सामग्री को प्राप्त करके अनुभव करते हैं। वह अलग-अलग कषायोदय रूप भिन्न-भिन्न कारणों के द्वारा ही संभव है।

अब रसबंध के हेतुभूत अध्यवसायों के संबंध में कहते हैं—एक-एक कषायोदय में असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अनुभाग बंध के स्थान हैं। रसबंध में शुद्ध कषायोदय ही कारण नहीं है, किन्तु

लेश्याजन्य असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण परिणाम भी कारण हैं। इसलिये लेश्याजन्य परिणामयुक्त कषायोदय स्थान द्वारा रसबंध होता है। उदाहरणार्थ—एक हजार जीवों का कषायोदय रूप कारण एक सरीखा ही हो और उससे स्थितिबंध एक ही तरह से भोगा जाये, वैसा हो फिर भी रसबंध समान रीति से भोगा जाये ऐसा नहीं भी होता है। लेश्या के भिन्न-भिन्न परिणाम रूप निमित्त द्वारा अलग-अलग रीति से भोगा जाये वैसा भी रसबंध हो। इस प्रकार कषायोदययुक्त लेश्या के परिणाम रसबंध में हेतु हैं। एक-एक कषायोदय में रसबंध के हेतुभूत असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण लेश्याजन्य परिणाम होते हैं, जिससे स्थिति एक जैसी बांधने पर भी रस अल्पाधिक बंधता है।

जघन्य स्थिति बांधते हुए जघन्य कषाय से लेकर असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय कारण हैं, समयाधिक बांधते हुए उसके बाद के उतने ही कषायोदय कारण हैं, इस प्रकार जैसे विभाग हैं, उसी तरह अमुक प्रकार का कषायोदय हो तब अमुक लेश्या के परिणाम हों और उस समय अमुक रसस्थान बंधे, ऐसा विभाग होता है, जो आगे अनुकृष्टि के वर्णन में स्पष्ट किया जा रहा है। इसलिये एक-एक कषायोदय अनेक जीवों की अपेक्षा से तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर आदि लेश्याजन्य अनेक परिणाम होने से असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबंध के अध्यवसाय मानना विरुद्ध नहीं है।

अब प्रत्येक कषायोदय में रसबंध के अध्यवसाय क्रमशः किस रीति से बढ़ते हैं, इसका विचार करते हैं। उस विचार के दो प्रकार हैं-अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा। इनमें से पहले अनन्तरोपनिधा द्वारा विचार करते हैं।

थोवाणुभागठाणा जहन्नठिइपढमबंधहेउम्मि।
तत्तो विसेसअहिया जा चरमाए चरमहेउ ॥७२॥

शब्दार्थ—थोवाणुभागठाणा—अनुभाग बंध के स्थान स्तोक, **जहन्नठिइ-**

पढमबंधहेउम्मि—जघन्य स्थिति के प्रथम बंध हेतु में, **तत्तो**—उसके बाद, **विसेसअहिया**—विशेषाधिक, **जा**—तक, **चरमाए**—चरमस्थिति के, **चरम-हेउ**—चरम हेतु में।

गाथार्थ—जघन्य स्थिति के प्रथम बंधहेतु में अनुभागबंध के अध्यवसाय स्तोक—अल्प होते हैं, उसके बाद क्रमशः चरमस्थिति के चरम बंधहेतु तक में विशेषाधिक-विशेषाधिक होते हैं।

विशेषार्थ—जघन्य स्थितिबंध में भी कम से कम कषायोदय से लेकर असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण असंख्याते कषायोदय हेतुभूत हैं। उनमें के सबसे जघन्य पहले कषायोदय में रसबंध के हेतुभूत लेश्याजन्य परिणामों की संख्या असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है, जिसका आगे कथन करेंगे, उनकी अपेक्षा अल्प हैं, उससे दूसरे कषायोदय में विशेषाधिक हैं, उसकी अपेक्षा तीसरे कषायोदय में विशेषाधिक हैं, उससे चौथे में विशेषाधिक हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कषायोदय से उत्तरोत्तर कषायोदय में बढ़ाते-बढ़ाते वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् अंतिम उत्कृष्ट स्थितिबंध में हेतुभूत असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय का अंतिम सर्वोत्कृष्ट कषायोदय स्थान प्राप्त हो। अंतिम कषायोदयस्थान में रसबंध के हेतुभूत लेश्याजन्य परिणामों की संख्या सबसे अधिक होती है।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा से वृद्धि का विचार जानना चाहिये। अब परंपरोपनिधा से वृद्धि का विचार करते हैं।

गंतुमसंखालोगा पढमाहिंतो भवंति दुगुणाणि।
आवलि असंखभागो दुगुणठाणाण संवग्गो ॥७३॥

शब्दार्थ—**गंतुमसंखालोगा**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों के जाने पर, **पढमाहिंतो**—पहले स्थान से, **भवंति**—होते हैं, **दुगुणाणि**—दुगुने, **आवलिअसंखभागो**—आवलिका का असंख्यातवां भाग, **दुगुणठाणाण**—द्विगुण स्थानों का, **संवग्गो**—संवर्ग-कुल योग।

गाथार्थ—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानों के जाने पर पहले स्थान से दुगुने स्थान होते हैं। इन द्विगुण स्थानों का कुल योग आवलिका के असंख्यातवें भाग समय प्रमाण है।

विशेषार्थ—जघन्य स्थितिबंध में हेतुभूत असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदयों में के जघन्य कषायोदय स्थान से लेकर असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय स्थानों का अतिक्रमण करने के बाद जो कषायोदयस्थान आता है, उसमें रसबंध के हेतुभूत लेश्याजन्य अध्यवसाय पहले कषायोदय स्थान की अपेक्षा दुगुने होते हैं। उसके बाद उतने कषायोदय स्थानों का उल्लंघन करने के बाद जो कषायोदयस्थान आता है, उसमें दुगुने होते हैं, तत्पश्चात् पुनः उतने कषायोदयस्थानों का उल्लंघन करने के बाद प्राप्त कषायोदय स्थान में दुगुने होते हैं। इस प्रकार दुगुने-दुगुने वहाँ तक जानना चाहिये यावत् सर्वोत्कृष्ट कषायोदयस्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार ये दुगुने-दुगुने रसबंध के हेतुभूत अध्यवसाय वाले कषायोदय के स्थान कुल मिलाकर आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण होते हैं।

अब पूर्वोक्त कथन को अशुभ और शुभ प्रकृतियों में घटित करते हैं।

असुभपगईणमेवं इयराणुक्कोसगम्मि ठिइबंधे।
सव्वुक्कोसगहेऊ उ होइ एवं चिय असेसं ॥७४॥

शब्दार्थ—**असुभपगईणं**—अशुभ प्रकृतियों का, **एवं**—पूर्वोक्त प्रकार से, **इयराणुक्को सगम्मि ठिइबंधे**—इतर (शुभ प्रकृतियों) के उत्कृष्ट स्थितिबंध में, **सव्वुक्कोसगहेऊ**—सर्वोत्कृष्ट कषायोदयस्थान से प्रारम्भ कर, **उ**—और, **होइ**—होता है, **एवं चिय**—इसी प्रकार ही, **असेसं**—समस्त।

गाथार्थ—अशुभ प्रकृतियों को पूर्वोक्त प्रकार से समझना चाहिये और इतर शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध में

हेतुभूत सर्वोत्कृष्ट कषायोदयस्थान से प्रारम्भ कर पूर्व में कहे अनुसार समस्त वर्णन करना चाहिये।

विशेषार्थ—जघन्य स्थितिबंध में हेतुभूत असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय में के जघन्य कषायोदय से लेकर सर्वोत्कृष्ट कषायोदय पर्यन्त उत्तरोत्तर कषायोदय में अधिक-अधिक रसबंध के हेतुभूत अध्यवसाय होते हैं, यह जो पूर्व में कहा है, वह ज्ञानावरण-पंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, कषाय-षोडशक, नोकषायनवक, नरकायु, आदि की जातिचतुष्क, समचतुरस्र को छोड़कर शेष पांच संस्थान, प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन, अशुभ वर्णादि नवक, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, स्थावरदशक, नीचगोत्र और अंतरायपंचक इन सतासी अशुभ प्रकृतियों के लिये समझना चाहिये।

इतर—शुभ प्रकृतियों के लिये अर्थात् सातावेदनीय, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, शरीरपंचक, संघातनपंचक, बंधनपंचदशक, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराच-संहनन, अंगोपांगत्रिक, शुभ वर्णादि एकादश, पराघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, निर्माण, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र इन उनहत्तर शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध में हेतुभूत जो सर्वोत्कृष्ट कषायोदयस्थान हैं वहाँ से आरम्भ करके पूर्वोक्त प्रकार से समस्त विपरीत समझना चाहिये।

वह इस प्रकार—पुण्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में हेतुभूत अंतिम सर्वोत्कृष्ट कषायोदयस्थान में रसबंध के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प हैं, उनसे द्विचरम कषायोदयस्थान में अधिक, उनसे त्रिचरम-समय कषायोदयस्थान में अधिक, उनसे चतुःचरम कषायोदयस्थान में अधिक इस प्रकार अधिक-अधिक वहाँ तक कहना चाहिये यावत् सर्वजघन्य स्थितिबंध में हेतुभूत कषायोदयस्थानों में का सर्वजघन्य कषायोदयस्थान प्राप्त होता है।

इस प्रकार से पुण्य प्रकृतियों में अनन्तरोपनिधा से वृद्धि का विचार जानना चाहिये। अब परंपरोपनिधा से इसका विचार करते हैं—

उत्कृष्ट कषायोदयस्थान से लेकर अधोभाग में असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदयस्थान उल्लंघन करने पर नीचे जो कषायोदयस्थान आता है, उसमें उत्कृष्ट कषायोदय के समय पुण्य प्रकृतियों के रसबंध के निमित्तभूत जो अध्यवसाय थे, उनसे द्विगुण होते हैं। पुनः वहाँ से उतने ही कषायोदयस्थान अधोभाग में उल्लंघन करने के अनन्तर जो कषायोदयस्थान आता है, उसमें द्विगुण होते हैं। इस प्रकार बारंबार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् जघन्य कषायोदयस्थान प्राप्त हो।

बीच में जो द्विगुणवृद्धिस्थान होते हैं, वे कुल मिलाकर आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय जितने होते हैं। ये आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण शुभ-अशुभ प्रकृतियों के प्रत्येक के द्विगुणवृद्धिस्थान अल्प हैं, उनसे द्विगुणवृद्धि के एक अंतर में कषायोदयस्थान असंख्यात गुणे हैं।

इस प्रकार स्थितिबंध के हेतुभूत अध्यवसायों में रसबंध के हेतुभूत अध्यवसायों का विचार जानना चाहिये। अब स्थितिबंधस्थानों में अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों का विचार करते हैं। इस विचार की दो विधायें हैं—अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा। इन दोनों में से पहले अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा करते हैं।

थोवाणुभागठाणा जहन्नठिइबंध असुभपगईणं।
समयवुड्ढीए किंचाहियाइं सुहियाण विवरीयं ॥७५॥

शब्दार्थ—**थोवाणुभागठाणा**—अनुभागबंधाध्यवसायस्थान अल्प, **जहन्नठिइबंध**—जघन्यस्थितिबंध में, **असुभपगईणं**—अशुभ प्रकृतियों के, **समयवुड्ढीए**—समय की वृद्धि होने पर, **किंचाहियाइं**—किंचित् अधिक-अधिक, **सुहियाण**—शुभप्रकृतियों के, **विवरीयं**—विपरीत।

गाथार्थ—अशुभ प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध में अनुभागबंधाध्यवसायस्थान अल्प हैं। किन्तु जैसे-जैसे समय की वृद्धि होने पर वैसे-वैसे किंचित् अधिक-अधिक बढ़ते जाते हैं और शुभ प्रकृतियों के लिये विपरीत क्रम जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व में जिन अशुभ प्रकृतियों का नामोल्लेख किया गया है उनमें से आयु को छोड़कर शेष पाप प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध करते—बांधते रसबंध के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प हैं और वे भी असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। समयाधिक स्थितिबंध करने पर अधिक रसबंधाध्यवसाय होते हैं, दो समयाधिक जघन्य स्थितिबंध करने पर पूर्व से कुछ अधिक रसबंधाध्यवसाय होते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे समय-समय स्थितिबंध बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त रसबंध के हेतुभूत अध्यवसाय बढ़ते जाते हैं। उत्कृष्ट स्थितिस्थान में अधिक से अधिक रसबंधाध्यवसाय होते हैं।

लेकिन पूर्व में जिनका नामोल्लेख किया है, उन शुभ प्रकृतियों में से आयु को छोड़कर शेष के लिये विपरीत क्रम जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—पुण्य प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति बांधने वाले रसबंध के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प हैं, किन्तु वे भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण तो हैं ही। समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति बांधने पर कुछ अधिक होते हैं, दो समयन्यून स्थिति बांधने पर उससे भी अधिक होते हैं। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् सर्वजघन्य स्थिति प्राप्त हो। जघन्य स्थिति बांधने पर अधिक-से-अधिक रसबंध के हेतुभूत अध्यवसाय होते हैं।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा द्वारा अनुभागबंध के हेतुभूत अध्यवसायों की वृद्धि का निर्देश किया। अब परंपरोपनिधा से विचार करते हैं—

पलियासंखियमेत्ता ठिइठाणा गंतु गंतु दुगुणाइं।
आवलिअसंखमेत्ता गुणा गुणंतरमसंखगुणं ॥७६॥

शब्दार्थ—**पलियासंखियमेत्ता**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र, **ठिइठाणा**—स्थितिस्थान, **गंतुं-गंतुं**—जाने पर, **दुगुणाइं**—दुगुने, **आवलि-असंखमेत्ता**—आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र, **गुणा**—द्विगुणस्थान, **गुणंतरमसंखगुणं**—गुणान्तर असंख्यातगुणे हैं।

गाथार्थ—पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिस्थानों के जाने पर दुगुने होते हैं। ये द्विगुणस्थान आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र होते हैं और द्विगुण स्थानों से गुणान्तर असंख्यात गुण हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथोक्त आयुर्वजित पाप प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को बांधने पर रसबंध के हेतुभूत जो अध्यवसाय हैं उनमें पल्योपम के असंख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण स्थितिस्थानों का उल्लंघन करने के बाद जो स्थितिस्थान आता है, उसमें दुगुने अध्यवसाय होते हैं। उससे पुनः उतने ही स्थितिस्थानों का उल्लंघन करने के बाद जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें दुगुने अध्यवसाय स्थान होते हैं। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग का उल्लंघन करने पर दुगुने-दुगुने रसबंधाध्यवसाय स्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त हो—'ठिइठाणा गंतुं गंतुं दुगुणाइं।'

इस प्रकार पाप प्रकृतियों में जघन्य स्थितिस्थान से उत्कृष्ट स्थिति-स्थान पर्यन्त जानना चाहिये। लेकिन—

पुण्य प्रकृतियों में उत्कृष्ट स्थितिस्थान से लेकर जघन्य स्थिति-स्थान पर्यन्त का वर्णन इस प्रकार है—आयुर्वजित पूर्वोक्त पुण्य प्रकृतियों को बांधते हुए रसबंध के हेतुभूत जो अध्यवसाय होते हैं, उनसे पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण अधोभाग में स्थिति स्थिति-स्थानों को उलांघने के बाद नीचे जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें दुगुने रस बंधाध्यवसायस्थान होते हैं। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग नीचे-नीचे उतरते-उतरते दुगुने-दुगुने रसबंध के निमित्तभूत अध्यवसाय वहाँ तक कहना चाहिये यावत् जघन्य स्थिति प्राप्त हो।

इन शुभ और अशुभ प्रकृतियों के द्विगुणवृद्धिस्थान आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण होते हैं—'आवलि असंखमेत्ता' और उन समस्त द्विगुणवृद्धिस्थानों से द्विगुणवृद्धि के अंतर में रहे हुए स्थान असंख्यातगुणे हैं। वे इस प्रकार जानना चाहिये—शुभ और अशुभ प्रकृतियों के द्विगुणवृद्धिस्थान अल्प हैं। क्योंकि वे आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र हैं। उनसे द्विगुणवृद्धि के बीच में रहे हुए स्थितिस्थान पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होने से असंख्यातगुणे हैं।

पूर्व की दो गाथाओं में कषायोदयस्थान में रसबंध के हेतुभूत अध्यवसायों की संख्या का विचार किया गया था और इस गाथा में स्थितिस्थान में रसबंधाध्यवसायस्थानों का विचार किया गया है। वहाँ असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदयस्थानों को उलांघने के बाद जो कषायोदयस्थान प्राप्त होता है, उसमें दुगुने रसबंधाध्यवसाय होते हैं यह कहा था और यहाँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने स्थितिस्थानों का उल्लंघन करने के बाद जो स्थितिस्थान होता है, उसमें दुगुने रसबंधाध्यवसाय होते हैं, यह बताया है। इन दोनों का समन्वय इस प्रकार करना चाहिये कि असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदयस्थानों का उल्लंघन करने के बाद जो कषायोदयस्थान आता है कि जिसमें दुगुने रसबंधाध्यवसाय होते हैं वे कषायोदयस्थान उस स्थितिस्थान के बंधहेतु के रूप में आते हैं कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों का उल्लंघन करने पर जिस स्थितिस्थान में दुगुने रस बंधाध्यवसाय स्थान होते हैं।

अब चारों आयु के स्थितिस्थानों में रसबंधाध्यवसायों का विचार करते हैं।

सव्वजहन्नठिईए सव्वाण वि आउगाण थोवाणि ।
ठाणाणि उत्तरासु असंखगुणणाए सेढीए ।।७७।।

शब्दार्थ—**सव्वजहन्नठिईए**—सर्व जघन्य स्थिति में, **सव्वाण**—सभी,

वि—भी, **आउगाण**—आयुओं की, **थोवाणि**—स्तोक अल्प, **ठाणाणि**—स्थान, **उत्तरासु**—उत्तर-उत्तर में, **असंखगुणणाए**—असंख्यातगुण, **सेढीए**—श्रेणि से।

गाथार्थ—सभी आयुओं की सर्व जघन्य स्थिति में अल्प स्थान हैं और उत्तर-उत्तर स्थानों में असंख्यात गुणश्रेणि से होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में आयु के स्थितिस्थानों में रसबंधाध्यवसायों का निर्देश करते हुए बताया है कि 'सव्वाण वि आउगाण' अर्थात् सभी चारों आयु के 'सव्वजहन्नठिईए' जघन्य स्थितिस्थान में रसबंधाध्यवसाय थोवाणि-अल्प हैं। लेकिन वे भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण तो हैं ही। इसके पश्चात् समयाधिक स्थितिस्थान में असंख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर के स्थितिस्थान में पूर्व-पूर्व से असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे स्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार से आयु कर्म के स्थितिस्थानों में रसबंधाध्यवसायस्थानों का स्वरूप जानना चाहिये।

अब इन रसबंधाध्यवसायस्थानों की तीव्रता-मंदता का स्पष्ट ज्ञान करने के लिये रसबंध में हेतुभूत अध्यवसायों की अनुकृष्टि का विचार किस स्थितिस्थान से प्रारम्भ किया जाता है, इसको स्पष्ट करते हैं।

अनुकृष्टि प्रारम्भ होने का स्थान

गंठीदेसे सन्नी अभव्वजीवस्स जो ठिईबंधो।
ठिइवुड्ढीए तस्स उ बंधा अणुकड्ढिओ तत्तो ॥७८॥

शब्दार्थ—**गंठीदेसे**—ग्रन्थिदेशस्थान में, **सन्नी**—संज्ञी, **अभव्वजीवस्स**—अभव्य जीव के, **जो**—जो, **ठिईबंधो**—स्थितिबंध, **ठिइवुड्ढीए**—स्थिति की वृद्धि में, **तस्स**—उसकी, **उ**—और, अनुक्त की, **बंधा**—बंध से, **अणुकड्ढिओ**—अनुकृष्टि, **तत्तो**—वहाँ से।

गाथार्थ—ग्रन्थिदेश में जो संज्ञी अभव्य जीव स्थित है, उस अभव्य जीव के जो स्थितिबंध होता है, उस बंध से स्थिति की वृद्धि होने पर अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है।

विशेषार्थ—अनुकृष्टि का विचार किस स्थितिस्थान से प्रारम्भ किया जाता है, इसके लिये नियम बताते हैं कि ग्रन्थिदेश में विद्यमान संज्ञी पंचेन्द्रिय अभव्य जीव को जो जघन्य स्थितिबंध होता है, उस जघन्य स्थितिबंध से लेकर उत्तर-उत्तर के स्थितिस्थानों में रसबंधाध्यवसायों की अनुकृष्टि का विचार प्रारम्भ किया जाता है तथा गाथोक्त 'तु' शब्द अनुक्त अर्थ का समुच्चय करने वाला होने से यह अर्थ हुआ कि कितनी ही प्रकृतियों का अभव्य को जो स्थितिबंध होता है, उससे भी न्यून स्थितिबंध से अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है।

अनुकृष्टि अर्थात् अध्यवसायों का अनुसरण यानि पूर्व-पूर्व के स्थितिस्थान में जो-जो रसबंधाध्यवसाय होते हैं, उनमें के अमुक अध्यवसाय उसके बाद के कितने स्थितिस्थान तक होते हैं, उसका विचार अनुकृष्टि कहलाता है। अनुकृष्टि, अनुकर्षण, अनुवर्तन ये सभी एकार्थक नाम हैं।

अनुकृष्टि का विचार किस प्रकार से प्रारम्भ किया जाता है, अब इसका नियम सूत्र स्पष्ट करते हैं।

अनुकृष्टि विचार का नियम सूत्र

वग्गे-वग्गे अणुकड्ढी तिव्वमंदत्तणाइं तुल्लाइं।
उवघायघाइपगडी कुवन्नवगं असुभवग्गो ॥७९॥

शब्दार्थ—**वग्गे-वग्गे**—वर्ग-वर्ग में, **अणुकड्ढी**—अनुकृष्टि, **तिव्वमंदत्तणाइं**—तीव्रमंदता आदि, **तुल्लाइं**—तुल्य है, **उवघाय**—उपघातनाम, **घाइपगडी**—घाति प्रकृतियाँ, **कुवन्नवगं**—अशुभवर्णादिनवक, **असुभवग्गो**—अशुभवर्ग।

गाथार्थ—वर्ग-वर्ग में अनुकृष्टि और तीव्र-मंदता आदि तुल्य

है। उपघातनाम, घातिकर्म और अशुभवर्णादिनवक यह अशुभ वर्ग है।

विशेषार्थ—वर्ग-वर्ग में अनुकृष्टि और तीव्रता-मंदता का विचार एक जैसा हाने से जिन-जिन कर्मप्रकृतियों में अनुकृष्टि एवं तीव्रता-मंदता प्रायः समान होती है। उन-उनके वर्ग बना लिये जाते हैं। ऐसी प्रकृतियाँ चार वर्गों में विभाजित हैं—

(१) अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग, (२) अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग, (३) परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग, (४) परावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग।

उक्त चार वर्गों में से उपघातनाम तथा ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्वमोहनीय, सोलह कषाय, नव नोकषाय, अंतराय-पंचक रूप पैंतालीस घाति प्रकृति और कृष्ण, नील वर्ण, दुरभिगंध, कटुक, तिक्त रस, गुरु, कर्कश, शीत, रूक्ष स्पर्श ये अशुभ वर्णादि नवक इस तरह कुल मिलाकर पचपन प्रकृतियाँ पहले अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग में ग्रहण की जाती हैं।

अब अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग में ग्रहण की गई प्रकृतियों को बतलाते हैं।

अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग

परघायबंधणतणु अंग सुवन्नाइ तित्थनिम्माणं।
अगुरुलघूसासतिगं संघाय छयाल सुभवग्गो ॥८०॥

शब्दार्थ—**परघाय**—पराघात, **बंधण**—पन्द्रह बंधननामकर्म, **तणु**—पाँच शरीरनामकर्म, **अंग**—तीन अंगोपांगनामकर्म, **सुवन्नाइ**—शुभ वर्ण आदि ग्यारह, **तित्थ**—तीर्थंकरनाम, **निम्माणं**—निर्माणनामकर्म, **अगरुलघु**—अगुरुलघुनामकर्म, **उसासतिगं**—उच्छ्वासनामत्रिक, **संघाय**—पाँच संघातन नाम, **छयाल**—छियालीस, **सुभवग्गो**—शुभ वर्ग।

गाथार्थ—पराघातनाम, पन्द्रहबंधननाम, पाँच शरीरनाम, तीन अंगोपांगनाम, शुभ वर्णादि ग्यारह, निर्माणनाम, तीर्थंकर-

नाम, अगुरुलघुनाम, उच्छ्वासनामत्रिक (उच्छ्वास, आतप, उद्योतनाम), पाँच संघातननाम—कुल मिलाकर छियालीस प्रकृतियाँ अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग में ग्रहण की जाती हैं।

विशेषार्थ—अनुकृष्टि के लिये जो प्रकृतियाँ अपरावर्तमान शुभ प्रकृति वर्ग में ग्रहण की जाती हैं, उनके नाम गाथा में गिनाये हैं। ऐसी प्रकृतियाँ छियालीस हैं एवं ये सभी नामकर्म की हैं।

अब तीसरे परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग में ग्रहण की गई प्रकृतियों के नाम गिनाते हैं।

परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग

सायं थिराइ उच्चं सुरमणु दो-दो पणिंदि चउरंसं।
रिसह पसत्थविहगई सोलस परियत्तसुभवग्गो ॥८१॥

शब्दार्थ—**सायं**—सातावेदनीय, **थिराइ**—स्थिरादि षट्क, **उच्चं**—उच्चगोत्र, **सुरमणु दो-दो**—देवद्विक, मनुष्यद्विक, **पणिंदि**—पंचेन्द्रिय जाति, **चउरंसं**—समचतुरस्रसंस्थान, **रिसह**—वज्रऋषभनाराचसंहनन, **पसत्थविहगई**—शुभ विहायोगति, **सोलस**—सोलह, **परियत्तसुभवग्गो**—परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग।

गाथार्थ—सातावेदनीय, स्थिरादि षट्क (स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), उच्चगोत्र, देवद्विक, (देवगति, देवानुपूर्वी), मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी), पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, शुभ विहायोगति ये सोलह प्रकृतियाँ परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग की हैं।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृति वर्ग नामक तीसरे वर्ग में जो प्रकृतियाँ ग्रहण की गई हैं, उनके नाम गाथा में बतलाये हैं। ये शुभ प्रकृतियाँ अघातिकर्मों की हैं।

अब चौथे परावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग की प्रकृतियों को बतलाते हैं।

परावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग

अस्सायथावरदसगनरयदुगं विहगगई य अपसत्था ।
पंचिदिरिसहचउरंसगेयरा असुभघोलणिया ॥८२॥

शब्दार्थ—**अस्साय**—असातावेदनीय, **थावरदसग**—स्थावरदशक, **नरयदुगं**—नरकद्विक, **विहगगई**—विहायोगति, **य**—और, **अपसत्था**—अशुभ, **पंचिदिरिसहचउरंसगेयरा**—पंचेन्द्रिय, वज्रऋषभनाराचसंहनन और समचतुरस्रसंस्थान से इतर, **असुभघोलणिया**—परावर्तमान अशुभ प्रकृतियां हैं ।

गाथार्थ—असातावेदनीय, स्थावरदशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), नरकद्विक (नरकगति, नरकानुपूर्वी), अशुभ विहायोगति, पंचेन्द्रिय से इतर आदि की चार जातियां, वज्रऋषभनाराचसंहनन से इतर शेष पाँच संहनन, समचतुरस्रसंस्थान से इतर शेष पांच संस्थान ये परावर्तमान अशुभ प्रकृतियाँ हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में उन प्रकृतियों का संकेत किया गया है जिनका परावर्तमान अशुभ प्रकृति वर्ग में समावेश होता है । ऐसी प्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं ।

पूर्वाचार्यों ने परावर्तमान प्रकृतियों का घोलनिका यह नामकरण किया है । इसका कारण यह है कि ये प्रकृतियाँ परावर्तनभाव को प्राप्त करके घोलन परिणाम से बंधती हैं ।

इन चार वर्गों में की प्रकृतियों की परस्पर अनुकृष्टि और तीव्र-मंदता समान है । इसीलिये इनके चार वर्ग बनाये हैं ।

इस प्रकार वर्ग प्ररूपणा करके अब उनमें अनुकृष्टि का विचार प्रारम्भ करते हैं । उनमें से पहले अशुभ अपरावर्तमान प्रकृतियों की अनुकृष्टि का कथन करते हैं ।

अशुभ अपरावर्तमान प्रकृतियों की अनुकृष्टि

मोत्तुमसंखंभागं जहन्न ठिइठाणगाण सेसाणि ।
गच्छंति उवरिमाए तदेकदेसेण अन्नाणि ॥८३॥

एवं उवरि हुत्ता गंतुणं कंडमेत्त ठिइबंधा ।
पढमठिइठाणाणं अणुकड्ढी जाइ परिणिट्ठं ॥८४॥
तदुवरिमआइयासु कमसो बीयाईयाण निट्ठाइ ।
ठिइठाणाणणुकड्ढी आउक्कस्सं ठिई जाव ॥८५॥

शब्दार्थ—**मोत्तुमसंखभागं**—असंख्यातवें भाग को छोड़कर, **जहन्न**—जघन्य, **ठिइठाणगाण**—स्थितिस्थानों की, **सेसाणि**—शेष, **गच्छंति**—होती है, **उवरिमाए**—ऊपर में, **तदेकदेसेण**—तदेकदेश, **अन्नाणि**—अन्य ।

एवं—इसी प्रकार, **उवरि हुत्ता**—ऊपर की ओर, **गंतुणं**—जाकर, **कंडमेत्त**—कंड़कमात्र, **ठिइबंधा**—स्थितिबंधस्थान, **पढमठिइठाणाणं**—प्रथम स्थितिस्थानों की, **अणुकड्ढी**—अणुकृष्टि, **जाइ**—होती है, **परिणिट्ठं**—पूर्ण ।

तदुवरिमआइयासु—उससे ऊपर के स्थानों आदि में, **कमसो**—क्रमशः, **बीयाइयाण**—द्वितीय आदि की, **निट्ठाइ**—पूर्ण होती है, **ठिइठाणाणणुकड्ढी**—स्थितिस्थानों की अनुकृष्टि, **आउक्कस्सं**—उत्कृष्ट स्थिति, **जाव**—यावत्-तक ।

गाथार्थ—जघन्य स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबंधाध्यवसायों के असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष सब ऊपर की स्थिति में जाते हैं तथा उनका एकदेश और अन्य होता है ।

इस प्रकार ऊपर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों के जाने पर प्रथम स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबंधाध्यवसायों की अनुकृष्टि पूर्ण होती है ।

तत्पश्चात् उसके ऊपर ऊपर के स्थितिस्थानों में अनुक्रम से द्वितीयादि स्थितिस्थानों की अनुकृष्टि पूर्ण होती है । इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विचार किया गया है कि '**मोत्तुमसंखभागं**' अर्थात् उपघातनाम आदि पचपन अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बाँधते हुए रसबंध के निमित्तभूत जो अध्यवसाय हैं, उनके प्रारम्भ का असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी रसबंधाध्यवसाय दूसरे स्थितिस्थान में होते हैं । यानि प्रारम्भ से असंख्यातवां भाग

छोड़कर शेष रहे जिन अध्यवसायों से जैसा रस जघन्य स्थिति को बांधते हुए बंधता था, वैसा रस समयाधिक द्वितीय स्थिति को बांधते हुए भी बंधता है। अन्यत्र भी इसी प्रकार से समझना चाहिये। पहले स्थितिस्थान में जो रसबंधाध्यवसाय होते हैं, उनसे दूसरे स्थितिस्थान में विशेषाधिक होते हैं। उनसे तीसरे में विशेषाधिक होते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक स्थितिस्थान में रसबंधाध्यवसाय बढ़ते जाते हैं।

यहाँ अनुकृष्टि में पहले स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबंधाध्यवसायों का असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष स्थान ऊपर की ओर बढ़े और वे पहले से अधिक हैं, उनकी पूर्ति नवीन अध्यवसायों से होती है। यानि पहले स्थितिस्थान में जो रसबंधाध्यवसाय हैं उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी तथा उनके ही एक देश में जितने आते हैं, उतने दूसरे नये रसबंधाध्यवसाय दूसरे स्थितिस्थान में होते हैं। नये इतने बढ़ना चाहिये कि वे पहले स्थितिस्थानगत रसबंधाध्यवसायों से कुल मिलाकर दूसरे स्थितिस्थान में अधिक हों।

इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—मानलो कि पहले स्थान में सौ रसबंधाध्यवसाय हैं, दूसरे में एक सौ पाँच तो पहले में के आदि के पाँच को छोड़कर पंचानवें की दूसरे स्थान में अनुकृष्टि हुई परन्तु उसमें एक सौ पाँच हैं, यानि कि दस नये होते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

दूसरा स्थितिस्थान बाँधते हुए जो अनुभाग बंधाध्यवसाय हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी तीसरा स्थितिस्थान बांधते होते हैं और दूसरे नये होते हैं। तीसरा स्थितिस्थान बांधते जो रसबंधाध्यवसाय होते हैं, उनके आदि का असंख्यातवां भाग छोड़कर बाकी के सभी चौथा स्थितिस्थान बांधते होते हैं और दूसरे नये होते हैं। इस प्रकार वहां तक कहना चाहिये यावत् पल्योपम के असंख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण स्थितिस्थान होते हैं।

जघन्य स्थिति को बांधते जो रसबंध के अध्यवसाय थे, यहाँ उनकी अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। अर्थात् जघन्य स्थितिबंध करने

पर जो रसबंधाध्यवसाय थे, वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थानों तक पहुँचे। उसके बाद के स्थितिस्थान में जघन्य स्थिति सम्बन्धी रसबंधाध्यवसायों में का एक भी स्थान नहीं होता है। इसी प्रकार से प्रत्येक स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबंधाध्यवसाय का अनुसरण पल्योपम के असंख्यातवें भाग के स्थितिस्थानों पर्यन्त ही होता है।

उक्त प्रकार से प्रत्येक स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबंधाध्यवसायों का असंख्यातवां-असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी ऊपर-ऊपर के स्थितिस्थान में जाते हैं और प्रत्येक स्थान की अनुकृष्टि के पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय पर्यन्त ही होती है।

इस प्रकार जघन्य स्थितिबंधभावी रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थानों तक हुई। पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों में के अंतिम स्थान में पहले स्थान के कितनेक रसबंधाध्यवसाय आये, किन्तु उससे ऊपर के स्थान में नहीं आते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पहला स्थितिस्थान बांधते हुए रसबंध के योग्य जिन-जिन अध्यवसायों से जैसा-जैसा रस बंधता था वे-वे अध्यवसाय जहाँ तक पहुँचे उनसे वहाँ-वहाँ वैसा-वैसा रसबंध होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

जघन्य स्थितिस्थान के रसबंधाध्यवसायों की अनुकृष्टि कंडक अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने स्थान पर्यन्त होती है। दूसरे, तीसरे, आदि स्थितिस्थान संबंधी रसबंध के अध्यवसायों की अनुकृष्टि कंडक के ऊपर-ऊपर के समय पर्यन्त जाती है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जघन्यबंध करने पर रसबंध के हेतुभूत जो अध्यवसाय थे उनका प्रत्येक स्थितिस्थान में प्रारम्भ से ही असंख्यातवां भाग छूटते-छूटते उनकी अनुकृष्टि कंडक—पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थान पर्यन्त हुई। इसी प्रकार

जघन्य स्थितिस्थान के बाद का दूसरा स्थितिस्थान बाँधने पर जितने रसबंधाध्यवसाय होते हैं, उनमें का असंख्यातवां भाग प्रत्येक स्थितिस्थान में छूटते-छूटते उनकी अनुकृष्टि कंडक प्रमाण स्थान से ऊपर के स्थान में समाप्त होती है। इसी प्रकार तृतीय स्थितिबंध के आरम्भ में रहे हुए रसबंधाध्यवसायों की अनुकृष्टि कंडक के बाद के दूसरे समय में समाप्त होती है। इस तरह अनुकृष्टि और उसकी समाप्ति वहां तक कहना चाहिये यावत् पूर्व में कही गई अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति हो।

किसी भी स्थितिस्थान में विद्यमान रसबंधाध्यवसायों की अनुकृष्टि उस स्थान से लेकर कंडक यानि पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त ही होती है और क्रमशः कम-कम होते-होते वहाँ तक वे अध्यवसाय अनुसरण करते हैं। किसी भी स्थितिस्थान में के रसबंधाध्यवसाय को जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त स्थापित करना, उनमें प्रारम्भ से ही पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण न्यून शेष रसबंधाध्यवसाय ऊपर के स्थान में जाते हैं, यह समझना चाहिये। जैसे कि असत्कल्पना से पहले स्थान में एक हजार अध्यवसाय हैं, उनमें का असंख्यातवां भाग प्रमाण यानि एक से दस तक कम होकर ग्यारह से हजार तक के अध्यवसाय ऊपर के स्थान में जाते हैं।

इस प्रकार से अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विचार जानना चाहिये। अब अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का कथन करते हैं।

अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि

उवघायाईणेवं एसा परघायमाइसु विसेसो।
उक्कोसठिईहिंतो हेट्ठमुहं कीरइ असेसं ॥८६॥

शब्दार्थ—**उवघायाईणेवं**—उपघात आदि की इसी प्रकार, **एसा**—यह पूर्व में कही गई, वह, **परघायमाइसु**—पराघात आदि में, **विसेसो**—**विशेष है,**

उक्कोसठिइहिंतो—उत्कृष्ट स्थिति से, **हेट्ठमुहं**—अधोमुख, **कीरइ**—किया जाता है, **असेसं**—समस्त सब ।

गाथार्थ—उपघातनामकर्म आदि की अनुकृष्टि इस प्रकार है, किन्तु पराघात आदि में विशेष है। उनकी अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ होकर अधोमुख पूर्व की तरह किया जाता है।

विशेषार्थ—पूर्व में जिस प्रकार से अनुकृष्टि का निर्देश किया है, वह उपघातनाम आदि पचपन अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के लिये समझना चाहिये—'उवघायाईणेवं एसा'। किन्तु—

पराघातनाम आदि छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों के बारे में संभव विशेष स्पष्ट करते हैं—'परघायमाइसु विसेसो' कि उनकी अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबंध से प्रारम्भ कर जघन्य स्थितिबंध पर्यन्त अधोमुखेन पूर्वोक्त क्रम से की जाती है। वह इस प्रकार—

उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में जो रसबंध के अध्यवसाय होते हैं, उनके असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष सब समय न्यूनउत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में होते हैं तथा अन्य नवीन होते हैं। ऐसा कहने का कारण यह है कि अन्तिम स्थितिस्थान से उपान्त्यादि स्थानों में रसबंधाध्यवसाय अधिक-अधिक होते हैं। ऊपर के स्थान में से असंख्यातवाँ भाग कम होकर शेष नीचे आता है, इसलिये जितना अधिक होता है उतना वह नवीन होता है।[1] समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में जो अनुभाग बंधाध्यवसाय होते हैं, उनके असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष सभी दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति के आरम्भ में होते हैं तथा दूसरे नवीन होते हैं। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थान होते हैं।

---

१ पुण्य प्रकृतियों में उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ कर और पाप प्रकृतियों में जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर यह समझना चाहिये।

यहाँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग के अंतिम समय में उत्कृष्ट स्थितिबंध के आरम्भ में रहे हुए रसबंधाध्यवसायों की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। फिर उससे नीचे के स्थितिस्थान में समयोन उत्कृष्ट स्थितिबंधारंभभावी रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है, उसके नीचे के स्थितिस्थान में दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिबंधारंभभावी रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार अनुकृष्टि और समाप्ति वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् पराघात आदि छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अपनी-अपनी जघन्य स्थिति प्राप्त होती है। अथवा इस प्रकार से पराघात आदि छियालीस प्रकृतियों की अनुकृष्टि और समाप्ति अपनी-अपनी जघन्य स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये।

इस प्रकार से अपरावर्तमान अशुभ और शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विचार करने के पश्चात् अब परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का कथन करते हैं।

परावर्तमान शुभ-अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि—

सप्पडिवक्खाणं पुण असायसायाइयाण पगईणं।
ठावेसु ठिइठाणा अंतोकोडाइ नियनियगा ॥८७॥
जा पडिवक्खक्कंता ठिईओ ताणं कमो इमो होइ।
ताणन्नाणिय ठाणा सुद्धठिईणं तु पुव्वकमो ॥८८॥
मोत्तूण नीयमियरासुभाणं जो जो जहन्नठिइबंधो।
नियपडिवक्खसुभाणं ठावेयव्वो जहन्नयरो ॥८९॥

शब्दार्थ—**सप्पडिवक्खाणं**—सप्रतिपक्षा, **पुण**—फिर, **असायसायाइयाण**—असाता और साता वेदनीय आदि, **पगईणं**—प्रकृतियों के, **ठावेसु**—स्थापित करना, **ठिइठाणा**—स्थितिस्थान, **अंतोकोडाइ**—अन्तःकोडाकोडी आदि, **नियनियगा**—अपने-अपने।

जा—जो, **पडिवक्खक्कंता**—प्रतिपक्ष से आक्रान्त हैं, **ठिईओ**—स्थितियां, **ताणं**—उनका, **कमो**—क्रम, **इमो**—यह, **होइ**—होता है, **ताणन्नाणिय**—वही और अन्य, **ठाणा**—स्थान, **सुद्धठिईणं**—शुद्ध स्थितियों का, **तु**—और, **पुव्वकमो**—पूर्वोक्त क्रम।

मोत्तूण—छोड़कर, **नीयं**—नीच गोत्र के, **इयरासुभाणं**—इतर अशुभ प्रकृतियों का, **जो-जो**—जो-जो, **जहन्नठिइबंधो**—जघन्य स्थितिबंध, **नियपडिवक्खसुभाणं**—अपनी प्रतिपक्ष शुभ प्रकृतियों का, **ठावेयव्वो**—स्थापित करना चाहिये, **जहन्नयरो**—जघन्यतर।

गाथार्थ—सप्रतिपक्ष असाता और साता वेदनीय आदि प्रकृतियों के अन्तःकोडाकोडी आदि अपने-अपने स्थितिस्थान स्थापित कर फिर उनकी अनुकृष्टि का कथन करना चाहिये।

जो स्थितियां प्रतिपक्ष से आक्रांत हैं, उनमें वही और अन्य यह क्रम है और शुद्ध स्थितियों का पूर्वोक्त क्रम है।

नीच गोत्र को छोड़कर इतर अशुभ प्रकृतियों का जो-जो जघन्य स्थितिबंध होता है, उनसे भी जघन्यतर स्थितिबंध उनकी अपनी प्रतिपक्षभूत शुभ प्रकृतियों का स्थापित करना चाहिये।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में परावर्तमान प्रकृतियों की अनुकृष्टि की प्रक्रिया का निर्देश किया है।

परावर्तमान प्रकृतियों की और पूर्वोक्त अपरावर्तमान प्रकृतियों की अनुकृष्टि में कुछ अन्तर है और वह इस प्रकार कि–प्रतिपक्ष वाली जो प्रकृतियाँ होती हैं वे सप्रतिपक्षा कहलाती हैं, जैसे कि साता-असाता आदि। उन परस्पर विरोधी साता-असाता वेदनीय आदि प्रकृतियों के अन्तःकोडाकोडी से लेकर स्थितिस्थान स्थापित करना चाहिये। इसका कारण यह है कि अभव्य का जघन्य स्थितिबंध अन्तःकोडाकोडी प्रमाण है और अभव्य के जघन्य स्थितिबंध से लेकर प्रायः अनुकृष्टि प्रारंभ होती है। इसीलिये यहाँ स्थापना में अन्तःकोडाकोडी आदि स्थान स्थापित करने का संकेत किया है।

इस प्रकार स्थापित करके सातावेदनीय के उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारंभ कर अधोमुखी क्रम से और असातावेदनीय की अंतःकोडाकोडी प्रमाण स्थान से प्रारंभ कर ऊर्ध्वमुखी क्रम से अनेक सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान परस्पर आक्रांत होते हैं। क्योंकि इतने स्थितिस्थान परावर्तमान परिणामों से बंधते हैं, यानि इतने स्थानों में साता-असाता वेदनीय एक के बाद एक इस क्रम से अदल-बदल कर बंधती हैं। बाकी के सातावेदनीय के नीचे अधोमुख से और असाता के ऊपर ऊर्ध्वमुख से अपनी-अपनी चरम स्थिति पर्यन्त स्थितिस्थान स्थापित करना चाहिये। ये सभी स्थान बांधते हुए प्रतिपक्ष प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से विशुद्धि और संक्लेश के वश वे अकेले ही बंधते रहते हैं, इसीलिये वे शुद्ध कहलाते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि छठवें गुणस्थान में असातावेदनीय की कम से कम जो अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति बंधती है, वहां से लेकर उत्कृष्ट पन्द्रह कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थितिबंध पर्यन्त के स्थितिस्थानों में साता-असाता वेदनीय अदल-बदल कर बंधती रहती है। उतने स्थानों में साता भी बंध सकती है और असाता भी बंध सकती है। इसीलिये वे परस्पर आक्रांत स्थिति कहलाती हैं। साता को दबाकर असाता बंध सकती है और असाता को दबाकर साता बंध सकती है। समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी से लेकर तीस कोडाकोडी प्रमाण के स्थितिबंध पर्यन्त अकेली असाता ही बंधती है, यानि वह शुद्ध कहलाती है। उन स्थानों का बंध होने पर सातावेदनीय नहीं बंधती है। छठवें गुणस्थान में असातावेदनीय की अंतःकोडाकोडी प्रमाण जो जघन्य स्थिति बंधती है, समयन्यून उस अंतःकोडाकोडी से लेकर साता के जघन्य स्थितिबंध पर्यन्त अकेली साता ही बंधती है। उन स्थानों में असातावेदनीय बंधती ही नहीं है, इसीलिये उसे शुद्ध कहते हैं।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि जितनी स्थितियां परस्पर आक्रांत हैं,

तथा जितनी स्थिति शुद्ध बंधती है, उनकी अनुकृष्टि में क्या तारतम्य है ?

छठे गुणस्थान में असातावेदनीय की जो अंतःकोडाकोडी प्रमाण जघन्य स्थिति बंधती है, वहां से लेकर पन्द्रह कोडाकोडी पर्यन्त साता और असाता वेदनीय की सभी स्थितियां परस्पर आक्रांत हैं। उतने स्थितिस्थानों की अनुकृष्टि आगे कहे जा रहे क्रमानुसार जानना चाहिये तथा जो शुद्ध विरोधी प्रकृतियों से अनाक्रांत-स्थितियां हैं उनमें पराघात तथा उपघात आदि में जो क्रम बतलाया है, तदनुसार जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति को बांधने पर रसबंध के जो अध्यवसाय होते हैं, वे सभी समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति का बंध करते हुए भी होते हैं तथा और दूसरे नवीन होते हैं। दूसरे नवीन होने का कारण यह कि प्रति स्थितिस्थान में रसबंधाध्यवसाय बढ़ते जाते हैं। समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति के बांधने पर जो रस-बंधाध्यवसाय होते हैं वे सभी दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति बांधते हुए भी होते हैं तथा अन्य दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान में जो-जो अध्यवसाय होते हैं, वे सभी उत्तरोत्तर स्थान में वहां तक अनुसरण करते हैं कि छठे गुणस्थान में असाता की जितनी जघन्य स्थिति बंधती है, वह स्थितिस्थान प्राप्त हो। इसका कारण यह है कि स्थापना में वहां तक की स्थितियां परस्पर आक्रांत कही गई हैं। क्योंकि वे परावर्तमान परिणाम से बंधती हैं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जघन्य रसबंध के योग्य जितनी असाता की स्थितियां साता के साथ परावर्तन को प्राप्त करके बंधती हैं, उतनी आक्रांत स्थितियों में 'वे और अन्य' अर्थात् पूर्व स्थितिस्थान में जो रसबंधाध्यवसाय हैं वे और दूसरे नये का क्रम प्रवर्तित होता है।

इसके बाद के शुद्ध स्थानों में जो क्रम प्रवर्तित होता है, अब उसको स्पष्ट करते हैं कि असाता की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के तुल्य साता को स्थिति बाँधते हुए जो रसबंधाध्यवसाय होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सब साता के जघन्य बंधस्थान से नीचे के कि जहां केवल सातावेदनीय का ही बंध होता है, उस स्थितिस्थान में होते हैं और दूसरे नवीन होते हैं। उस स्थान में जो रसबंधाध्यवसाय हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सब उससे नीचे के स्थान में होते हैं और दूसरे नवीन होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान में जो-जो रस बंधाध्यवसाय होते हैं, उनका असंख्यातवां-असंख्यातवां भाग प्रति स्थितिस्थान में कम-कम करते हुए वहां तक कहना चाहिये कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां जायें।

पल्योपम के असंख्यातवें भाग के अंतिम समय में असाता के जघन्य स्थितिबंध जितने साता के जघन्य स्थितिबंध में के रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है, उससे नीचे के स्थान में असाता के जघन्य स्थितिबंध तुल्य स्थितिस्थान से नीचे के स्थान के रसबंधाध्य-वसाय की यानि जिस स्थितिस्थान में शुद्ध साता ही बंधती है, उस स्थान के रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार अनुकृष्टि और समाप्ति वहां तक कहना चाहिये कि साता की जघन्य स्थिति प्राप्त हो।

इसी क्रम से स्थिरनामकर्म आदि परावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि जानना चाहिये।

अब असातावेदनीय की अनुकृष्टि कहते हैं। साता के साथ परा-वर्तमान परिणाम से छठे गुणस्थान में असाता की जो जघन्य स्थिति बंधती है, उसको बांधते हुए जो रसबंधाध्यवसाय होते हैं, वे सभी समयाधिक स्थिति बांधते हुए होते हैं तथा अन्य नवीन भी होते हैं। समयाधिक स्थिति बांधते हुए जो अध्यवसाय होते हैं, वे सभी दो समयाधिक स्थिति बांधते हुए होते हैं तथा अन्य दूसरे नवीन भी होते

हैं। इस प्रकार से पूर्व-पूर्व स्थान में जिस-जिस स्वरूप वाले रसबंधाध्यवसाय होते हैं, वे ही उत्तरोत्तर स्थान में अनुसरित होते जाते हैं, और दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार वहां तक कहना चाहिये यावत् बहुत से सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे और अन्य इस क्रम से छठे गुणस्थान में बंधती जघन्य स्थिति से लेकर पन्द्रह कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये। क्योंकि उतनी स्थितियां आक्रांत हैं। सातावेदनीय के साथ परावर्तमान परिणाम से बंधती हैं।

समयाधिक पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम से लेकर सिर्फ अकेली असाता ही बंधती है, इसलिये उसका क्रम उपघातादि के लिये जैसा कहा है, वह है। अन्तःकोडाकोडी से लेकर पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान सर्वजघन्य रसबन्ध के भी योग्य होते हैं। क्योंकि साता के साथ परावर्तमान को प्राप्त करके बँधते हैं। परावर्तमान परिणामी आत्मा मन्द परिणामी होती है जिससे उपर्युक्त स्थितियों में वर्तमान आत्मा मन्द रस बांध सकती है।

जघन्य रसबंध के योग्य स्थितियों का चरम स्थितिबंध में यानि पन्द्रहवीं कोडाकोडी के चरम समय में रसबन्ध के हेतुभूत जो अध्यवसाय होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सब ऊपर के समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थितिस्थान बाँधते हुए होते हैं और अन्य नवीन भी होते हैं। समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम स्थिति बाँधते हुए जो रसबन्धाध्यवसाय हैं उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सब दो समयाधिक प्रमाण स्थितिस्थान बांधते हुए होते हैं और दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थितिस्थान सम्बन्धी रस बन्धाध्यवसायों का असंख्यातवां-असंख्यातवां भाग छोड़ते-छोड़ते वहाँ तक कहना चाहिये कि कंडक—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थान जायें। यहाँ जघन्य रसबंध योग्य चरम स्थिति—पन्द्रहवीं कोडाकोडी प्रमाण स्थितिस्थान के रसबन्धाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त हुई। इस प्रकार अनुकृष्टि

और समाप्ति असाता की उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये।

स्थावरदशक नरकद्विक आदि कुल मिलाकर परावर्तमान सत्ताईस अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि इसी प्रकार से कहना चाहिये।

स्थापना में अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध पर्यन्त अनुकृष्टि का विचार करने के लिए संकेत किया है। उसके अन्दर जो विशेष है, अब उसको स्पष्ट करते हैं कि—

'मोत्तूण नीयमियरासुभाणं' इस गाथांश में ग्रहण किया गया नीचगोत्र यह अन्य प्रकृतियों का उपलक्षण सूचक होने से तिर्यंचद्विक का भी ग्रहण करना चाहिये। अतएव तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र को छोड़कर शेष असातावेदनीय आदि परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का जो अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध स्थापना में स्थापित किया है, उससे भी अल्प स्थितिबन्ध उनकी अपनी-अपनी प्रतिपक्ष सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से अल्प स्थितिबन्ध तक जाती है। क्योंकि छठे गुणस्थान में असातावेदनीय का जो जघन्य स्थितिबन्ध होता है उस जघन्य स्थितिबन्ध से तो साता के साथ परावर्तमान भाव प्राप्त करता है वहाँ से तो 'वह और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है परन्तु जिस परिणाम से छठे गुणस्थान में असाता का जघन्य स्थितिबन्ध होता है, उससे भी शुभ परिणाम में जब अकेली साता का ही बन्ध होता है, वहाँ 'तदेकदेश और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है। अतः अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से भी कम स्थितिबन्ध स्थापना में स्थापित करना चाहिए, यह कहा है।

इस प्रकार अपरावर्तमान अशुभ-शुभ परावर्तमान शुभ-अशुभ इन चारों वर्गों की अनुकृष्टि की प्ररूपणा जानना चाहिये।[1] अब तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का विचार करते हैं।

---

१ इन चारों वर्गों की अनुकृष्टि को असत्कल्पना द्वारा स्पष्ट करने के प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

क्योंकि इन प्रकृतियों का चारों वर्गों में से किसी भी वर्ग में समावेश नहीं किया गया है तथा उक्त वर्गों की अनुकृष्टि से इन प्रकृतियों की अनुकृष्टि में तारतम्य है।

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि—

पडिवक्खजहन्नयरो तिरिदुगनीयाण सत्तममहीए।
सम्मत्तादीए तओ अणुकड्ढी उभयवग्गेसु ॥६०॥

शब्दार्थ—पडिवक्खजहन्नयरो—प्रतिपक्ष प्रकृतियों से भी जघन्यतर, **तिरिदुगनीयाण**—तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की, **सत्तममहीए**—सातवीं नरक-पृथ्वी में, **सम्मत्तादीए**—सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पहले समय में, **तओ**—उससे, **अणुकड्ढी**—अनुकृष्टि, **उभयवग्गेसु**—दोनों वर्ग की।

गाथार्थ—सातवीं नरकपृथ्वी में सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पहले समय में जो जघन्य स्थितिबन्ध होता है, वहाँ से तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि प्रारम्भ करना चाहिये और स्थापना में प्रतिपक्ष प्रकृतियों से भी जघन्यतर स्थितिबन्ध स्थापित करना चाहिये, तत्पश्चात् उभय वर्ग की अनुकृष्टि परावर्तमान शुभाशुभ प्रकृतियों के अनुरूप कहना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि की विधि का निर्देश किया है कि अभव्यप्रायोग्य जो जघन्य स्थितिबन्ध होता है, उससे भी तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र का अल्प स्थितिबन्ध सातवीं नरकपृथ्वी के नारक को सम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए अनिवृत्तिकरण के चरम समय में होता है। सातवीं नरक-पृथ्वी के नारकों को जब तक पहला गुणस्थान होता है, तब तक भव-स्वभाव से तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र ही बंधता रहता है, जबकि दूसरे सभी जीव सम्यक्त्व प्राप्त करते हुए शुभ परिणामों से परावर्तमान शुभ प्रकृतियों को ही बाँधते हैं। इसलिए इन तीन प्रकृतियों की अनुकृष्टि की शुरुआत जिस समय उनको सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उससे पहले के समय में जो जघन्य स्थितिबन्ध होता है वहाँ से आरम्भ कर अभव्य-

प्रायोग्य जो जघन्य स्थिति बँधती है, वहाँ तक 'तदेकदेश और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि का कथन करना चाहिये, उसके बाद से आरम्भ कर मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र ये शुभ प्रकृति तथा तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र ये अशुभ प्रकृति इन दोनों वर्गों की अनुकृष्टि शुभाशुभ परावर्तमान प्रकृतियों के वर्ग की तरह कहना चाहिये।

विशदता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मनुष्यगति आदि शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का कथन तो पूर्व में किया जा चुका है। यहाँ तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र की अनुकृष्टि को कहते हैं—सातवीं नरकपृथ्वी में वर्तमान नारक के जिस समय सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उससे पहले के समय में तिर्यंचगति की जघन्य स्थिति बाँधते जो रसबन्ध के हेतुभूत अध्यवसाय हैं उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सब समयाधिक जघन्य स्थिति बाँधते भी होते हैं तथा अन्य दूसरे नवीन भी होते हैं। समयाधिक जघन्य स्थिति बाँधते जो रसबन्धाध्यवसाय होते हैं, उनका असंख्यातवाँ भाग छोड़कर शेष सब दो समयाधिक जघन्य स्थिति बाँधते हुए होते हैं तथा अन्य दूसरे भी नवीन होते हैं। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थान हों।

पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों में के अंतिम स्थितिस्थान में जघन्य स्थितिबंध सम्बन्धी रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उसके बाद के स्थितिस्थान में समयाधिक जघन्य स्थितिबंध संबंधी अध्यवसायों की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उसके अनन्तरवर्ती स्थान में दो समयाधिक जघन्य स्थितिबंध सम्बन्धी अध्यवसायों की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध प्राप्त हो।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध करने पर जो रसबंध के अध्यवसाय होते हैं, वे सभी समयाधिक अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध करने पर होते हैं तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। समयाधिक

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध में जो अध्यवसाय हैं, वे सभी दो समयाधिक जघन्य स्थिति बाँधते हुए होते हैं तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान में जो-जो रस रसबंधाध्यवसाय हैं—वे-वे सभी और दूसरे नवीन ऊपर-ऊपर के स्थितिबंध में होते हैं, इस तरह सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितिबंध पर्यन्त कहना चाहिये। यानि जितने स्थितिस्थान प्रतिपक्ष प्रकृतियों के साथ परावर्तमान परिणाम से बंधते हैं, उतने स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

जैसे कि नीचगोत्र दस कोडाकोडी सागर पर्यन्त उच्चगोत्र के साथ परावर्तमान परिणाम से बंधता है और तिर्यंचद्विक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त मनुष्यद्विक के साथ परावर्तमान परिणाम से बंधता है, जिससे वहाँ तक 'वह और अन्य' इस क्रम से अध्यवसायों की अनुकृष्टि कहना चाहिये। तत्पश्चात् यानि शतपृथक्त्व—अनेक सैकड़ों सागरोपम की चरम स्थिति में जो रसबंध के अध्यवसाय हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी समयाधिक ऊपर के स्थितिस्थान में जाते हैं तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। उस स्थितिस्थान में जो रसबंधाध्यवसाय होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी उससे ऊपर के स्थितिस्थान में होते हैं तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

उस स्थितिस्थान में शतपृथक्त्व सागरोपम की चरम स्थिति संबंधी अध्यवसायों की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उसके बाद के स्थितिस्थान में समयाधिक शतपृथक्त्व सागरोपम सम्बन्धी अध्यवसायों की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये कि उन-उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिस्थान प्राप्त हो।

इसी प्रकार तिर्यंचानुपूर्वी और नीचगोत्र की भी अनुकृष्टि समझना चाहिये।[1]

---

१ नीचगोत्रादि की अनुकृष्टि का आशय सुगमता से जानने के लिये स्पष्टीकरण और प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

अब त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का कथन करते हैं।

त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि एवं कंडक स्वरूप

अट्ठारस कोडीओ परघायकमेण तसचउक्केवि।
कंडं निव्वत्तणकंडकं च पल्लस्ससंखंसो ॥६१॥

शब्दार्थ—**अट्ठारस कोडीओ**—अठारह कोडाकोडी तक **परघायकमेण**—पराघात के क्रम से, **तसचउक्केवि**—त्रसचतुष्क की भी, **कंडं**—कंडक, **निव्वत्तणं कंडकं**—निर्वर्तन कंडक, **च**—और, **पल्लस्ससंखंसो**—पल्य का असंख्यातवां भाग।

गाथार्थ—अठारह कोडाकोडी तक पराघात के क्रम से त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि कहना चाहिये। पल्य के असंख्यातवें भाग गत समयप्रमाण संख्या का कंडक अथवा निर्वर्तन कंडक नाम है।

विशेषार्थ—गाथा में त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि प्ररूपणा करते हुए कंडक—निर्वर्तन कंडक का स्वरूप बतलाया है। पहले त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का निर्देश करते हैं—

त्रसचतुष्क में बीस कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिस्थान से लेकर नीचे अठारह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिस्थान तक अनुकृष्टि पराघात के समान कहना चाहिये और स्थावर के साथ परावर्तन परिणाम से जिस स्थितिस्थान से बन्ध प्रारम्भ होता है, उस स्थितिस्थान से साता की तरह अनुकृष्टि कहना चाहिये। अर्थात् अठारहवीं कोडाकोडी के अन्तिम समय से साता की तरह अनुकृष्टि कहना चाहिये। जिसका आशय यह है कि त्रसचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है और उसके प्रतिपक्षभूत सूक्ष्मत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है, जिससे बीस से अठारह कोडाकोडी तक के बादरत्रिक के स्थितिस्थान शुद्ध हैं। क्योंकि वे प्रतिपक्ष प्रकृति के साथ परावृत्ति से बंधते नहीं हैं और त्रस की प्रतिपक्षी स्थावर नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति त्रस के समान बीस कोडाकोड़ी होने पर भी त्रसनामकर्म की बीस से अठारह

कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति ईशान तक के देवों को छोड़कर शेष चार गति के जीव यथासंभव बाँधते हैं तब स्थावर की अठारह कोडाकोडी से बीस कोडाकोडी तक की स्थिति मात्र ईशान तक के देव ही बांधते हैं, इसलिए त्रस और स्थावर दोनों के बीस से अठारह कोडाकोडी तक के स्थितिस्थान अनाक्रांत (शुद्ध) होते हैं और अठारह कोडाकोडी सागरोपम से नीचे के स्थावर नामकर्म की अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थिति तक के स्थितिस्थान नारक के सिवाय तीन गति के जीव परावर्तन परिणाम से बाँधते हैं। जिससे इतने ही स्थिति-स्थान आक्रांत होते हैं।

अब उक्त कथन के आधार से त्रसनामकर्म की अनुकृष्टि कहते हैं कि त्रसनामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बाँधते जो अनुभाग बन्ध के अध्यवसायस्थान होते हैं उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी समयोन उत्कृष्ट स्थिति बाँधते होते हैं तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। समयोन उत्कृष्ट स्थिति बाँधते जो रसबन्ध के अध्यवसाय होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी दो समय न्यून उत्कृष्ट स्थिति बाँधते होते हैं तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार पल्यो-पम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों में के इस अन्तिम स्थितिस्थान में उत्कृष्ट स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबंधाध्य-वसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उसके बाद के स्थितिस्थान में समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार नीचे-नीचे अनुकृष्टि और समाप्ति वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अठारह कोडाकोडी सागरोपम स्थिति शेष रहे। यानि बीसवीं कोडाकोडी के अन्तिम समय से आरम्भ कर अठारहवीं कोडाकोडी सागरोपम के अन्तिम समय पर्यन्त कहना चाहिये।

अठारहवीं कोडाकोडी सागरोपम की चरमस्थिति में जो रस-बन्धाध्यवसाय होते हैं, वे सभी अठारहवीं कोडाकोडी सागरोपम की

द्विचरम स्थिति में होते हैं तथा अन्य नवीन होते हैं। द्विचरम स्थिति में जो रसबन्धाध्यवसाय होते हैं, वे सभी त्रिचरम स्थितिस्थान बाँधते होते हैं तथा अन्य नवीन भी होते हैं। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग बन्ध के विषय-भूत स्थावर नाम-कर्म की स्थिति प्रमाण स्थिति प्राप्त हो। अर्थात् जिस जघन्य स्थितिस्थान पर्यन्त त्रसनामकर्मस्थावरनामकर्म के साथ परावर्तमान भाव से बन्धता है, वह स्थिति आये वहाँ तक 'वह और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिये।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति बाँधते जो रसबन्ध के अध्यवसाय होते हैं, उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सभी उससे नीचे की स्थिति बाँधते कि जहाँ शुद्ध त्रसनामकर्म ही बँधता है वहाँ होते हैं तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। उस पूर्वोक्त स्थिति बाँधते जो रस-बंधाध्यवसाय होते हैं उनका असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सब उससे नीचे के स्थितिस्थान में होते हैं एवं दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् पल्योपम के असंख्यातवें भाग गत समय प्रमाण स्थिति स्थान जायें।

यहाँ अन्तिम स्थितिस्थान में अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति-स्थान के यानि जिस स्थितिस्थान से शुद्ध त्रसनामकर्म ही बंधता है उससे पहले के स्थान के रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उससे नीचे के स्थितिस्थान में जिस स्थितिस्थान में शुद्ध त्रस-नामकर्म बंधता है, उस स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार अनुकृष्टि और समाप्ति वहाँ तक कहना चाहिये यावत् जघन्य स्थिति प्राप्त हो।

इसी प्रकार बादर-पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्मों की भी अनुकृष्टि जानना चाहिये।[1]

---

१. त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का स्पष्टीकरण और प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार से अनुकृष्टि प्ररूपणा करने के पश्चात् अब पूर्व में प्रयुक्त कंडक शब्द और आगे प्रयोग किये जाने वाले निर्वर्तन कंडक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हैं—

कंडक और निर्वर्तन कंडक इन दोनों शब्दों का प्रयोग पल्योपम के असंख्यातवें भाग में वर्तमान समय प्रमाण संख्या के लिये किया जाता है। अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग में रही हुई समय संख्या का अपर नाम कंडक अथवा निर्वर्तन कंडक है।

इस प्रकार से अनुकृष्टि सम्बन्धी समस्त वक्तव्यता जानना चाहिये। अब इसी से सम्बन्धित तीव्र-मन्दता का विचार करते हैं। अर्थात् अनुकृष्टि का अनुसरण करके किस स्थान में कितने प्रमाण में तीव्र और मन्द रस बंधता है, उसका कथन करते हैं। उसका सामान्य लक्षण इस प्रकार है कि सभी अशुभ प्रकृतियों में जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर स्थिति में अनुक्रम से अनन्तगुण रस एवं शुभ प्रकृतियों में उत्कृष्ट स्थिति से आरम्भ कर अनुक्रम से नीचे-नीचे के स्थान में अनन्तगुण रस जानना चाहिये। इस प्रकार से तीव्र-मन्दता के सामान्य स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् अब उसके विशेष स्वरूप का कथन करते हैं।

अपरावर्तमान अशुभ शुभ प्रकृतियों की तीव्रमन्दता—

जा निव्वत्तणकंडं जहन्नठिइपढमठाणगाहिंतो।
गच्छंति उवरिहुत्तं अणंतगुणणाए सेढीए ॥६२॥
तत्तो पढमठिईए उक्कोसं ठाणगं अणंतगुणं।
तत्तो कंडग-उवरिं आ-उक्कस्सं नए एवं ॥६३॥
उक्कोसाणं कंडं अणंतगुणणाए तन्नए पच्छा।
उवघायमाइयाणं इयराणुक्कोसगाहिंतो ॥६४॥

शब्दार्थ—जा निव्वत्तणकंडं—निर्वर्तन कंडक पर्यन्त, **जहन्नठिइपढमठाणगाहिंतो**—जघन्य स्थिति के प्रथम स्थान से, **गच्छंति**—जाता है, **उवरिहुत्तं**—

ऊपर की ओर, **अणंतगुणणाए सेढीए**—अनन्तगुण श्रेणि से।

तत्तो—उससे, **पढमठिईए**—प्रथम स्थितिस्थान से, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **ठाणगं**—स्थान, **अणंतगुणं**—अनन्तगुण, **तत्तो**—उससे, **कंडग-उवरिं**—कंडक से ऊपर, **आ-उक्कस्सं**—उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त, **नए**—जानना चाहिये, **एवं**—इसी प्रकार।

उक्कोसाणं—उत्कृष्ट स्थितिस्थानों का, **कंडं**—कंडक प्रमाण, **अणंतगुणणाए**—अनन्तगुण रूप से, **तन्नए**—वह जानना चाहिये, **पच्छा**—उत्तरोत्तर, **उवघायमाइयाणं**—उपघात आदि की, **इयराणुक्कोसगाहिंतो**—इतर पराघातादि की उत्कृष्ट स्थितिस्थान से।

गाथार्थ—जघन्य स्थिति के प्रथम अनुभागस्थान से लेकर निर्वर्तन कंडक पर्यन्त ऊपर-ऊपर के स्थान में जघन्य रस अनन्तगुणश्रेणि से जाता है।

उससे प्रथम स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रसस्थान अनन्तगुण होता है, उससे निर्वर्तन कंडक के ऊपर के स्थितिस्थान में जघन्य रसबंध अनन्तगुण होता है, इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त जानना चाहिये।

अंतिम कंडक प्रमाण स्थानों का उत्कृष्ट रस अनुक्त है, उनमें उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस अंतिम उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त जानना चाहिये। उपघातादि में उपर्युक्त प्रमाण और इतर पराघातादि में उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारंभ करके (अधोमुख) ऊपर कहे गये अनुसार कथन करना चाहिये।

विशेषार्थ—उक्त गाथा त्रय में अपरावर्तमान अशुभ और शुभ वर्ग की प्रकृतियों की तीव्रमदंता जानने का विधिसूत्र कहा है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उपघातनाम आदि पचपन अशुभ प्रकृतियों में जघन्य स्थितिस्थान बांधने पर जो जघन्य रसस्थान बंधता है, उससे अनन्तगुण-अनन्तगुण जघन्य रस अनुक्रम से ऊपर-ऊपर के स्थितिस्थान बांधते

बंधता है। वह इस प्रकार कि जघन्य स्थितिस्थान बांधने पर जो जघन्य रस बंधता है वह अल्प है, उससे दूसरा स्थितिस्थान बांधने पर जो जघन्य रस बंधता है वह अनन्तगुण है, उससे भी तीसरा स्थान बाँधते जो जघन्य रस बंधता है, वह अनन्तगुण है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थितिस्थान बांधते जो जघन्य रस बंधता है, उससे उत्तरोत्तर स्थितिस्थान में अनन्तगुण जघन्य रस वहां तक कहना चाहिये यावत् निर्वर्तन कंडक पूर्ण हो।

निर्वर्तन कंडक यानि जहाँ जघन्य स्थितिबंधभावी रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। जघन्य स्थितिबंध से लेकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त जघन्य स्थिति के रसबंधाध्यवसाय की अनुकृष्टि होती है, अतएव मूल से लेकर वहां तक के स्थान निर्वर्तन कंडक कहलाते हैं। अथवा पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थानों की संख्या निर्वर्तन कंडक कहलाती है।

निर्वर्तन कंडक के अंतिम स्थितिस्थान में जो जघन्य रस बंधता है, उससे पहली स्थिति में उत्कृष्ट रसबंध अनन्तगुण होता है, उससे निर्वर्तन कंडक की ऊपर की पहली स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण बंधता है, उससे भी दूसरी स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बंधता है। उससे कंडक के ऊपर की दूसरी स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण बंधता है, उससे तीसरी स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बंधता है। इस प्रकार नीचे-नीचे के एक-एक स्थान में उत्कृष्ट अनन्तगुण रस और कंडक के ऊपर-ऊपर के एक-एक स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण वहां तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान आये। अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य रसबंध अनन्तगुण हो वहां तक उक्त प्रकार से जानना चाहिये।

अंतिम कंडक प्रमाण स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग अभी अनुक्त है, जिसे उत्तरोत्तर अनन्तगुण-अनन्तगुण कहना चाहिये। वह इस प्रकार—

उत्कृष्टस्थिति के जघन्यरस से अंतिम कंडक की पहली स्थिति में

उत्कृष्ट रस अनन्तगुण है, उससे उसके बाद की दूसरी स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण है, उससे भी उसके बाद की तीसरी स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त अनन्त-गुण रस कहना चाहिये।

इसी प्रकार उपघातादि पचपन अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग की प्रकृतियों के लिये जानना चाहिये।

पराघात आदि छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग की तीव्र-मंदता का विधान इस प्रकार है—

पराघात आदि छियालीस प्रकृतियों में उत्कृष्ट स्थितिस्थान से आरम्भ कर अधोमुख पूर्वोक्त क्रम से अनन्तगुणश्रेणि से रस कहना चाहिये। वह इस प्रकार कि उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग अल्प होता है, समयोन उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे दो समय न्यून उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण, इस तरह निर्वर्तन कंडक पर्यन्त जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये।

कंडक के अंतिम स्थान के जघन्य रस से उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। उससे कंडक के नीचे के पहले स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण होता है, उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्त गुण होता है, उससे कंडक से नीचे के दूसरे स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण होता है। उससे दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। इस प्रकार ऊपर के एक-एक स्थान में उत्कृष्ट और कंडक से नीचे के एक-एक स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण वहां तक कहना चाहिये यावत् जघन्य स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण हो।

अंतिम कंडक मात्र स्थितियों में उत्कृष्ट रस अभी अनुक्त है उसे भी अनन्तगुण क्रम से कहना चाहिये। वह इस प्रकार—जघन्य स्थिति के जघन्य रस से अंतिम कंडक मात्र स्थिति में की पहली स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे उसके बाद की स्थिति में उत्कृष्ट रस

अनन्तगुण, इस प्रकार अनन्त-अनन्त गुण करते हुए कंडक की अंतिम जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्त गुण कहना चाहिये।

अपरावर्तमान शुभाशुभ प्रकृतियों में इस प्रकार से तीव्रमंदता जानना चाहिये[1]। अब परावर्तमान अशुभ-शुभ प्रकृतिवर्ग आदि की तीव्रमंदता का विचार कहते हैं।

परावर्तमान अशुभ शुभ प्रकृतियों आदि की तीव्रमंदता:—

अस्सायजहन्नठिईठाणेहिं तुल्लयाइं सव्वाणं।
आपडिवक्खक्कंतग ठिईणठाणाइं हीणाइं ॥६५॥
तत्तो अणंतगुणणाए जंति कंडस्स संखियाभागा।
तत्तो अणंतगुणियं जहन्नठिई उक्कस्सं ठाणं ॥६६॥
एवं उक्कस्साणं अणंतगुणणाए कंडकं वयइ।
एक्कं जहन्नठाणं जाइ परक्कंतठाणाणं ॥६७॥
उवरिं उवघायसमं सायस्सवि नवरि उक्कसठिइओ।
अंतेसुवघायसमं मज्झे नीयस्ससायसमं ॥६८॥

शब्दार्थ—**अस्साय**—असाता के, **जहन्नठिईठाणेहिं**—जघन्य स्थितिस्थान के, **तुल्लयाइं**—तुल्य, **सव्वाणं**—सबका, **आपडिवक्खक्कंतग**—प्रतिपक्ष से आक्रांत, **ठिईणठाणाइं**—स्थिति के स्थानों का, **हीणाइं**—हीन, जघन्य।

तत्तो—उसके बाद, **अणंतगुणणाए**—अनन्त गुणाकार, **जंति**—होता है, **कंडस्स**—कंडक के, **संखियाभागा**—संख्यात भाग पर्यन्त, **तत्तो**—उसके बाद, **अणंतगुणियं**—अनन्तगुण, **जहन्नठिई**—जघन्यस्थिति, **उक्कस्सं**—उत्कृष्ट, **ठाणं**—स्थान।

एवं—इसी प्रकार, **उक्कस्साणं**—उत्कृष्ट स्थानों का, **अणंतगुणणाए**—

---

1. अपरावर्तमान शुभ-अशुभ प्रकृतिवर्ग की तीव्रमन्दता का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

अनन्त गुणाकार रूप से, **कंडकं**—कंडक, **वयइ**—जाये, **एक्कं** —एक, **जहन्नठाणं**—जघन्य स्थान, **जाइ**—होता है, **परक्कंतठाणाणं**—प्रतिपक्षाक्रांत स्थितिस्थानों का।

उवरिं—ऊपर, **उवघायसमं**—उपघात के समान, **सायस्सवि**—साता की भी, **नवरि**—परन्तु, **उक्कसठिइओ**—उत्कृष्ट स्थिति से, **अंतेसुवघायसमं**—अंत में उपघात के समान, **मज्झे**—मध्य में, **नीयस्ससायसमं**—नीचगोत्र की असाता के समान।

गाथार्थ—प्रतिपक्ष से आक्रांत सभी स्थितिस्थानों का जघन्य रस असाता के जघन्य स्थितिस्थान तुल्य होता है।

उसके बाद कंडक के संख्यात भाग पर्यन्त अनन्त गुणाकार जघन्य रस होता है, उसके बाद कंडक के संख्यात भाग में के अंतिम स्थितिस्थान से जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है।

इसी प्रकार उत्कृष्ट रस वाले स्थानों का अनन्त गुणाकार रूप एक कंडक जाये तब तक एक स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण होता है। प्रतिपक्षाक्रांत स्थितियों में तो इस प्रकार होता है और—

ऊपर उपघात के समान जानना चाहिये। साता की भी इसी प्रकार से तीव्रमंदता कहना चाहिये, परन्तु वह उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ करना चाहिये। नीचगोत्र की आदि और अंत के स्थितिस्थानों में उपघात के सदृश और मध्य के स्थानों में असाता के तुल्य जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इन चार गाथाओं में परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियों आदि की तीव्रमंदता का निर्देश किया है।

पहले असाता और साता वेदनीय की तीव्र-मंदता को स्पष्ट करते हैं।

सातावेदनीय रूप प्रतिपक्ष द्वारा जितने स्थितिस्थान आक्रांत हैं,

उन सबके जघन्य रसबंध स्थान असाता की जघन्य स्थिति बांधते जो जघन्य रसबंध होता है, उनके तुल्य हैं। इसका तात्पर्य इस प्रकार है—असाता की जघन्य स्थिति बांधते जो जघन्यरस होता है वह अल्प है, समयाधिक जघन्य स्थिति बांधते जघन्य रसबंध उतना ही होता है, दो समयाधिक जघन्यस्थिति बांधते भी जघन्यरसबंध उतना ही होता है। इस प्रकार जितनी स्थितियाँ प्रतिपक्ष द्वारा आक्रांत हैं, उतनी स्थितियों में पूर्व-पूर्व स्थितिस्थान में जितना-जितना जघन्य रसबंध होता है उतना-उतना उत्तरोत्तर स्थिति-स्थान में जघन्य रसबंध होता है। छठे गुणस्थान में असाता का जो जघन्य स्थितिबंध होता है, वहाँ से लेकर पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त के स्थान परस्पराक्रांत होने से, वहाँ तक के स्थानों में जघन्य रसबंध समान ही होता है।

तत्पश्चात् 'तदेकदेश और अन्य'' इस क्रम से जिस स्थितिस्थान से अनुकृष्टि शुरू होती है, उस स्थान में पूर्व स्थितिस्थान से जघन्य रसबंध अनन्तगुण होता है। वह इस प्रकार—पूर्ण पन्द्रह कोडाकोडी स्थितिबंध बांधते जो जघन्य रसबंध होता है, उससे समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी बांधने पर अनन्तगुण जघन्य रसबंध होता है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् कंडक के संख्यात भाग प्रमाण स्थिति-स्थान जायें और एक भाग शेष रहे। यहाँ तक तो केवल जघन्य अनु-भाग कहा गया है।

अब उत्कृष्ट अनुभाग भी कहते हैं—कंडक के संख्यात भाग प्रमाण स्थितिस्थान में के अंतिम स्थितिस्थान में जो जघन्य रसबंध होता है, उससे जघन्य स्थितिस्थान से लेकर कंडक जितने स्थानों में उत्कृष्ट रसबंध अनन्तगुणा जानना चाहिये। जो इस प्रकार कि जघन्य स्थिति-स्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। उससे समयाधिक जघन्य स्थिति बांधते उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। उससे दो समयाधिक जघन्य स्थिति बांधते उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थान में अनन्तगुण रस वहां तक कहना चाहिये कि एक कंडक जितने स्थान हों। उससे जिस स्थितिस्थान की

अपेक्षा कंडक प्रमाण स्थानों में उत्कृष्ट रस कहा, उससे ऊपर के यानि कंडक के शेष संख्यातवें भाग के पहले स्थितिस्थान में जघन्य रस अनतगुण होता है। उससे शुरुआत के जो कंडकप्रमाण स्थितिस्थानों का उत्कृष्ट रस कहा, उससे बाद के स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे उसके बाद के स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थितिस्थान से उत्तरोत्तर स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् कंडक प्रमाण स्थिति-स्थान पूर्ण हों। उससे कंडक के शेष संख्यातवें भाग के दूसरे स्थिति-स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण होता है। उससे पूर्व जिन दो कंडक प्रमाण स्थानों में उत्कृष्ट रस कहा, उसके बाद के कंडक प्रमाण स्थानों में पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर अनन्तगुण उत्कृष्ट रस कहना चाहिये।

इस प्रकार कंडक के शेष संख्यातवें भाग के एक-एक स्थितिस्थान में जघन्य रस और नीचे एक-एक कंडक प्रमाण स्थितिस्थानों में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण वहां तक कहना चाहिये यावत् 'वह और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि पूर्ण होने के बाद जहां से 'तदेकदेश और अन्य' यह अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है। उस जघन्य रसबंध के विषयभूत स्थितिस्थान का कंडक पूर्ण होता है और जितनी स्थितियां प्रतिपक्ष से आक्रान्त उत्कृष्ट रस की विषयभूत हैं, उतनी स्थितियां भी पूर्ण हों। यानि जितने स्थितिस्थान प्रतिपक्ष से आक्रान्त हैं, उतने स्थितिस्थानों में उत्कृष्ट रस और जो प्रतिपक्ष से आक्रांत नहीं, उनमें के शुरुआत के एक कंडक प्रमाण स्थानों में जघन्य रस परिपूर्ण हो।

प्रतिपक्ष प्रकृतियों से अनाक्रांत स्थितियों में उपघात की तरह कहना चाहिये। वह इस प्रकार कि शतपृथक्त्व सागरोपम के अंतिम कंडक के उत्कृष्ट अनुभाग से प्रतिपक्ष से अनाक्रांत पूर्वोक्त जघन्य रस के विषयभूत पहले कंडक की ऊपर की पहली स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण, उससे शतपृथक्त्व सागरोपम की ऊपर के पहले कंडक की पहली स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे कंडक से ऊपर

की दूसरी स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण, उससे कंडक की दूसरी स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, इस प्रकार कंडक के अंतर से एक-एक स्थान में उत्कृष्ट और एक-एक स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण क्रम से वहां तक कहना चाहिये यावत् असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण हो। कंडक प्रमाण अंतिम स्थितियों में उत्कृष्ट रस अभी अनुक्त है, वह भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त अनन्तगुण क्रम से कहना चाहिये।

स्थावरदशक और नरकद्विक आदि सत्ताईस प्रकृतियों की तीव्र-मंदता इसी प्रकार समझना चाहिये।

अब सातावेदनीय की तीव्र मंदता का कथन करते हैं।

सातावेदनीय की तीव्रमंदता—

'सायस्सवि' अर्थात् साता की तीव्रमंदता असाता की तीव्रमंदता के अनुरूप कहना चाहिये किन्तु उसकी शुरुआत उत्कृष्ट स्थिति से करना चाहिये—'नवरि उक्कसठिइओ ।' वह इस प्रकार—साता की उत्कृष्ट स्थिति बांधते जघन्य अनुभाग अल्प, समयोन उत्कृष्ट स्थिति बांधते जघन्य अनुभाग उतना ही बंधता है। दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति बांधने पर भी जघन्य अनुभाग उतना ही बंधता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर स्थितिस्थान बांधते उतना ही जघन्य रस का बंध वहां तक कहना चाहिये यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान आये। जितने स्थितिस्थानों में असाता के साथ परावर्त-मान भाव से बंधता है उतने स्थितिस्थानों में पूर्व के स्थान में जितना जघन्य रस बंधता है, उतना ही उत्तर-उत्तर के स्थान में बंधता है। इसका कारण यह है कि रसबंध के हेतुभूत जो अध्यवसाय पूर्व के स्थान में हैं, वही उत्तर के स्थान में भी हैं।

उससे निचले स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण, उससे उसके नीचे के स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण, इस प्रकार

अनन्तगुण रस वहां तक कहना चाहिये यावत् कंडक के संख्यात भाग जायें और एक भाग शेष रहे। संख्यातभागहीन कंडक प्रमाण ये स्थितियां साकार उपयोग से ही बंधने वाली होने से 'साकारोपयोग' संज्ञा वाली कहलाती हैं।

उससे उत्कृष्ट स्थितिस्थान बांधते उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बंधता है, उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति बांधते उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बंधता है, उससे दो समय न्यून उत्कृष्ट स्थिति बांधने पर उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बंधता है। इस प्रकार नीचे-नीचे के स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण वहां तक कहना चाहिये यावत् कंडक प्रमाण स्थितिस्थान व्यतीत हों। इस कंडक के अंतिम स्थितिस्थान के उत्कृष्ट रस से नीचे जिस स्थितिस्थान का जघन्य रस कहकर वापस लौटे थे, उससे नीचे के यानि कंडक के शेष संख्यातवें भाग के पहले स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये। उसकी अपेक्षा ऊपर के कंडक प्रमाण स्थानों से नीचे के कंडक प्रमाण स्थानों में उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस कहना चाहिये। उन कंडक प्रमाण स्थानों में के अंतिम स्थान से जिस स्थितिस्थान से ऊपर के दूसरे कंडक प्रमाण स्थानों में उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस कहा, उससे नीचे के स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे ऊपर के तीसरे कंडक प्रमाण स्थानों में उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस कहना चाहिये। इस प्रकार नीचे-नीचे के एक-एक स्थितिस्थान में जघन्य रस और ऊपर के एक-एक कंडक प्रमाण स्थानों में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण के क्रम से वहां तक कहना चाहिये यावत् साकारोपयोग संज्ञा वाले जघन्य रस के विषयभूत स्थानों का कंडक पूर्ण हो और उत्कृष्ट रस के विषयभूत अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध तक के सभी स्थितिस्थान समाप्त हों। अर्थात् वहां तक के समस्त स्थानों में उत्कृष्ट रस कहा जा चुके।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान बांधते जो उत्कृष्ट रस बंधता है, उससे साकारोपयोग संज्ञा वाले कंडक से नीचे के स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य

स्थिति से नीचे के पहले स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण कहना चाहिये, उससे साकारोपयोग संज्ञा वाले कंडक के नीचे के दूसरे स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति के नीचे के द्वितीय स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण कहना चाहिये। इस प्रकार ऊपर एक स्थान में उत्कृष्ट और नीचे एक स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण क्रम से वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् जघन्य स्थिति प्राप्त हो—साता की जिस कम-से-कम स्थिति पर्यन्त अनुकृष्टि होती हो वह अन्तिम स्थिति प्राप्त हो। कंडक प्रमाण अन्तिम स्थितिस्थानों में उत्कृष्ट रस अभी अनुक्त है वह भी उत्तरोत्तर अंतिम जघन्य स्थितिस्थान पर्यन्त अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये।

स्थिरादिषट्क और उच्चगोत्रादि पन्द्रह प्रकृतियों की तीव्रमंदता इसी प्रकार कहना चाहिये।

अब नीचगोत्र और उपलक्षण से तिर्यंचद्विक तथा त्रसचतुष्क की भी तीव्रमंदता कहते हैं।

नीचगोत्र आदि की तीव्र-मंदता

आदि और अंत में नीचगोत्र, तिर्यंचद्विक और त्रसचतुष्क की तीव्रमन्दता उपघात की तरह और मध्य में असाता की तरह समझना चाहिये—'अंतेसुवघायसमं मज्झे नीयस्ससायसमं।'

उक्त संक्षिप्त कथन का विस्तृत आशय इस प्रकार है—

सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाला अनिवृत्तिकरण के चरम समय में वर्तमान सातवीं नरकपृथ्वी के नारक को सर्व जघन्य स्थितिबंध होता है। उस समय जो सर्वजघन्य रसबंध होता है, वह अल्प उससे समयाधिक दूसरी स्थिति में अनन्तगुण, उससे समयाधिक तीसरी स्थिति में अनन्तगुण, इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् निर्वर्तन कंडक पूर्ण हो। उससे कंडक के अंतिम स्थितिस्थान से जघन्यस्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण उससे निर्वर्तन कंडक की ऊपर की पहली स्थिति में

जघन्य रस अनन्तगुण, उससे समयाधिक जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे निर्वर्तन कंडक की ऊपर की दूसरी स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण, इस प्रकार कंडक से ऊपर की स्थितियों में जघन्य रस और जघन्य स्थिति से ऊपर की स्थितियों में उत्कृष्ट रस अनुक्रम से अनन्तगुण वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के नीचे का स्थितिस्थान प्राप्त हो। अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध की नीचे की कंडक प्रमाण स्थितियों में उत्कृष्ट रस अनुक्त है, जो आगे कहा जायेगा।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य रस के विषयभूत जघन्य स्थिति से नीचे के स्थितिस्थान से अभव्ययोग्य जघन्य रस की विषयभूत पहली स्थिति में—जघन्य स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण होता है। उससे बाद की दूसरी स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही होता है, तीसरी स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। इस प्रकार वहां तक कहना चाहिये यावत् शतपृथक्त्व सागरोपम प्रमाण स्थितियां जायें। जहां तक उच्चगोत्र के साथ परावर्तन भाव से बंधता है तथा 'वह और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है, वहाँ तक पूर्व-पूर्व स्थान में जघन्य रस जितना बंधता है, उतना ही उत्तर-उत्तर स्थान में बंधता है, ऐसा समझना चाहिये।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से लेकर दस कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त उच्च नीच गोत्र परावर्तन भाव से बंधते हैं। इसलिये दस कोडाकोडी सागरोपम रूप अन्तिम स्थितिस्थान पर्यन्त उससे पूर्व-पूर्व के स्थान में जो जघन्य रसबंध होता है, वही उत्तर-उत्तर स्थान में होता है, ऐसा कहना चाहिये। ये सभी स्थितिस्थान परावर्तन परिणाम से बंधने वाले होने से उनका पूर्व पुरुषों ने 'परावर्तमान जघन्यानुभागबंधप्रायोग्य' यह नामकरण किया है।

इससे ऊपर की पहली स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे दूसरी स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, तीसरी स्थिति में

जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् कंडक के संख्यात भाग जायें और एक भाग शेष रहे। उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के नीचे के एक कंडक प्रमाण जिन स्थानों में उत्कृष्ट रस अनुक्त है उन स्थानों में अनुक्रम से उत्कृष्ट रस अनन्तगुण कहना चाहिए। उससे उपर्युक्त अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के नीचे के कंडक में जिस स्थितिस्थान से अनुक्रम से अनन्तगुण उत्कृष्ट रस कहा, उसके बाद के अर्थात् जिस स्थितिस्थान का जघन्य रस कहना रोक दिया था, उसके बाद के यानि कंडक के शेष संख्यातवें भाग के पहले स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से लेकर एक कंडक प्रमाण स्थानों में उत्कृष्ट अनुभाग अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से लेकर कंडक प्रमाण स्थानों में जिस स्थितिस्थान से उत्कृष्ट रस अनुक्रम से अनन्तगुण कहा था, उससे ऊपर के एक स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से लेकर कंडक के ऊपर के कंडक प्रमाण स्थानों में अनुक्रम से उत्कृष्ट रस अनन्तगुण कहना चाहिये।

इस प्रकार एक स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग और कंडक प्रमाण स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग वहाँ तक कहना चाहिए, यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध की विषयभूत अन्तिम स्थिति आये। अर्थात् जिस स्थितिस्थान तक उच्च गोत्र के साथ परावर्तन भाव से बंधता है, वह अन्तिम स्थितिस्थान आये। उससे जिस स्थितिस्थान में अन्तिम जघन्य अनुभाग कहा था, उससे ऊपर के यानि उच्च गोत्र के साथ अनाक्रांत स्थानों में के शुरुआत से कंडक प्रमाण स्थान के ऊपर के पहले स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे अनाक्रांत स्थानों में के पहले स्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे अनाक्रांत स्थानों में के दूसरे कंडक के दूसरे स्थितिस्थान

में जघन्य रस अनन्तगुण, उससे अनाक्रांत स्थानों में के पहले कंडक के दूसरे स्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण इस प्रकार एक स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग और एक स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग कहते हुए वहां तक जाना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण हो। कंडकप्रमाण अंतिम स्थितिस्थानों में उत्कृष्ट अनुभाग अनुक्त है उसे भी अनुक्रम से उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त अनन्तगुण कहना चाहिये।

इस प्रकार से तिर्यंचद्विक की तीव्रमंदता जानना चाहिये। अब त्रसनामकर्म की तीव्रमंदता कहते हैं।

त्रसनाम की तीव्रमंदता

त्रसनामकर्म की तीव्रमंदता उसकी उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ कर नीचगोत्र के अनुसार कहना चाहिये। वह इस प्रकार कि त्रसनाम-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बांधने पर जघन्य अनुभागबंध अल्प उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति बांधने पर जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति बांधने पर जघन्य अनुभाग अनन्तगुण इस प्रकार नीचे-नीचे के स्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण वहां तक कहना चाहिये यावत् कंडक प्रमाण स्थितिस्थान जायें। उससे उत्कृष्ट स्थितिस्थान बांधने पर उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, उससे कंडक के नीचे की पहली स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, उससे कंडक की नीचे की दूसरी स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार एक स्थिति में जघन्य और एक स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण वहां तक कहना चाहिये यावत् अठारहवें कोड़ाकोड़ी सागरोपम की ऊपर की स्थिति-उत्कृष्ट स्थिति से नीचे उतरते और उस उत्कृष्ट स्थिति को अंतिम गिनते उन्नीसवीं कोडाकोडी सागरोपम की पहली स्थिति आये। अठारहवीं कोडाकोडी सागरोपम की ऊपर की एक कंडक प्रमाण

स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग अनुक्त है, शेष समस्त स्थानों में जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग कहा जा चुका है। शेष रहे एक कंडक प्रमाण स्थितियों में उत्कृष्ट रस बाद में कहा जायेगा।

उन्नीसवीं कोडाकोडी सागरोपम की पहली स्थिति से अठारहवीं कोडाकोडी की अंतिम उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे समयन्यून स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही, उससे दो समय न्यून स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही, इस प्रकार नीचे-नीचे के स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग उतना ही वहां तक कहना चाहिये यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध प्राप्त हो। जितने स्थिति-स्थान स्थावरनामकर्म के साथ परावर्तमान भाव से बंधते हैं, उनमें का उत्कृष्ट स्थिति से नीचे उतरते अंतिम स्थान आता है।

उससे नीचे की पहली स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे उसकी नीचे की स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार जघन्य अनुभाग अनन्तगुण वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् कंडक के संख्यात भाग प्रमाण स्थितिस्थान जायें और एक भाग शेष रहे।

उससे अठारह कोडाकोडी से ऊपर के उन्नीसवीं कोडाकोडी के अन्तिम कंडक प्रमाण जिन स्थानों में उत्कृष्ट रस अनुक्त है, उनमें अनुक्रम से अनन्तगुण रस कहना चाहिये। यानि अठारहवीं कोडा-कोडी से ऊपर के कंडक प्रमाण स्थितिस्थानों में के अंतिम स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे द्विचरमस्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्त-गुण, इस तरह पीछे-पीछे के स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनन्तगुण रस वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् कंडक प्रमाण स्थान पूर्ण हो। अना-क्रांत एक कंडक प्रमाण स्थानों में जो उत्कृष्ट रस अनुक्त था, वह कह दिया गया है।

उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के नीचे के कंडक के संख्यातभाग प्रमाण जिन स्थानों में जघन्य रस कहा था, उससे नीचे के स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण, उससे अठारहवीं कोडाकोडी

सागरोपम के अंतिम स्थितिस्थान से लेकर एक कंडक प्रमाण स्थानों में उत्कृष्ट रस अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे नीचे जिस स्थितिस्थान में जघन्य रस कहा है, उससे नीचे के स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण; इस प्रकार अनुक्रम से एक कंडक प्रमाण स्थतिस्थानों में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण और एक स्थितिस्थान में जघन्य-रस अनन्तगुण कहते हुए वहाँ तक जाना चाहिये यावत् ऊपर के स्थावरनामकर्म के साथ परावर्तनभाव से बंधते अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध तक के उत्कृष्ट रस के विषयभूत समस्त स्थितिस्थान पूर्ण हों और नीचे जघन्य रस के विषयभूत एक-एक कंडक प्रमाण स्थिति-स्थान पूर्ण हों।

तत्पश्चात् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान से कंडक प्रमाण स्थान के नीचे के दूसरे कंडक के पहले स्थितिस्थान में जघन्य अनन्तगुण रस, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के नीचे के पहले स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे दूसरे कंडक के दूसरे स्थितिस्थान में जघन्य रस अनन्तगुण, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के नीचे के दूसरे स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रसबंध अनन्तगुण कहना चाहिये। इस प्रकार अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति-बंध के नीचे-नीचे के एक-एक स्थान में उत्कृष्ट रस और अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थिति के नीचे के कंडक प्रमाण स्थानों के नीचे-नीचे के एक-एक स्थितिस्थान में अनुक्रम से जघन्य रसबंध अनन्तगुण वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् त्रसनामकर्म का जघन्य स्थितिबंध हो। अंतिम कंडक प्रमाण स्थितिस्थानों में उत्कृष्ट रस अभी अनुक्त है, वह भी अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये।

इसी प्रकार बादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म की तीव्रमंदता भी समझना चाहिये।[1]

---

१ सरलता से इनकी तीव्रमंदता समझने के लिये प्रारूप और स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार अनुभागबंध की सविस्तार प्ररूपणा समाप्त हुई। अब प्रसंग प्राप्त स्थितिबंध का वर्णन करते हैं।

स्थितिबंध प्ररूपणा—

स्थितिबंध प्ररूपणा के चार अधिकार हैं—१. स्थितिस्थान प्ररूपणा, २. निषेक प्ररूपणा, ३. अबाधा कंडक प्ररूपणा और ४. अल्प बहुत्व प्ररूपणा। इन चारों में से एक समय में एक साथ जितनी स्थिति बंधे, उसे स्थितिस्थान कहते हैं। कुल कितने स्थितिस्थान होते हैं और एकेन्द्रियादि को कितने-कितने स्थितिस्थान होते हैं वह पहले बंधविधि नामक पांचवें अध्ययन की गाथा ५६ 'ठिइठाणाइं एगेंदियाण थोवाइं होंति सव्वाणं' में कहा जा चुका है। अतः यहाँ किस जीव को किससे अल्पाधिक स्थितिबंध होता है, उसका अल्पबहुत्व कहते हैं।

स्थितिबंध का अल्पबहुत्व—

संजय बादरसुहुमग पज्जअपज्जाण हीणमुक्कोसो।
एवं विगलासन्निसु संजय उक्कोसगो बंधो ॥९९॥
देस दुग विरय चउरो सन्निपञ्चिन्दियस्स चउरो य।
संखेज्जगुणा कमसो सञ्जाय उक्कोजगाहिंतो ॥१००॥

शब्दार्थ—**संजय**—संयत, **बादरसुहुमग**—बादर, सूक्ष्म, **पज्जअपज्जाण**—पर्याप्त, अपर्याप्त, **हीणमुक्कोसो**—जघन्य और उत्कृष्ट, **एवं**—इसी प्रकार, **विगलासन्निसु**—विकलेन्द्रिय और असंज्ञी का, **संजय**—संयत, **उक्कोसगो**—उत्कृष्ट, **बंधो**—स्थितिबंध।

देस—देसविरत, **दुग**—द्विक, **अविरय**—अविरत, **चउरो**—चार का, **सन्निपञ्चिंदियस्स**—संज्ञी पंचेन्द्रिय का, **चउरो**—चार, **य**—और, **संखेज्जगुणा**—संख्यात गुण, **कमसो**—अनुक्रम से, **सञ्जय**—संयत, **उक्कोजगाहिंतो**—उत्कृष्ट से।

गाथार्थ—(सूक्ष्मसंपराय) संयत का स्थितिबंध सबसे अल्प है, उससे बादर सूक्ष्म के पर्याप्त-अपर्याप्त का जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबंध, इसी प्रकार विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का भी जानना

चाहिये फिर संयत का उत्कृष्ट बंध फिर देशविरत का दोनों, अविरत चारों, संज्ञीपंचेन्द्रिय के चारों का क्रमशः संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से संख्यातगुण जानना चाहिए।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में कौन किससे अधिक स्थितिबंध करता है इसका अल्पबहुत्व बतलाया है—

सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती संयत के अतीव अल्पकषाय होने से तज्जन्य अत्यल्प स्थितिबंध होता है। अतएव उस संयत का स्थितिबंध सबसे अल्प है।

उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध असंख्यातगुण है, उससे सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे बादर अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे सूक्ष्म अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे सूक्ष्म पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे बादर अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे सूक्ष्म पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है और उससे बादर पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।

इसी प्रकार पर्याप्त-अपर्याप्त विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध अनुक्रम से अधिक-अधिक जानना चाहिये। वह इस प्रकार—बादर पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से पर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण है, उससे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे पर्याप्त द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।

उससे पर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे पर्याप्त त्रीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।

उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।

उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण है, उससे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषधिक है, उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।

उससे छठे गुणस्थान में संक्लिष्ट परिणामों से उत्कृष्ट स्थिति बांधने वाले साधु का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुण है, उससे देशविरतिगुणस्थान वाले का जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण है, उससे उसी का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुण है, उससे चतुर्थ गुणस्थान वाले पर्याप्तकों का जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण, उनसे उन्हीं के अपर्याप्तकों का जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण, उनसे उन्हीं के अपर्याप्तकों का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुण, उनसे उन्हीं के पर्याप्तकों का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुण है।

उनसे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों का जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण, उनसे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकों का जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण और उनसे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकों का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुण है।

अपर्याप्त संज्ञी के उत्कृष्ट स्थितिबंध से पर्याप्त संज्ञी का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुण है और वह बीस, तीस या सत्तर आदि कोडाकोडी सागरोपम रूप समझना चाहिये।

संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर अपर्याप्त संज्ञी के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक के समस्त स्थितिबंध अन्त:कोडाकोडी के अन्तर्गत ही हैं और संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से न्यून स्थितिबंध अन्त:कोडा-

कोडी के अन्तर्गत है और नहीं भी है। इसका कारण यह है कि आठवें गुणस्थान तक का बंध अंतःकोडाकोडी के अंतर्गत है और नौवें गुणस्थान के पहले ही समय में एक करोड़ सागरोपम प्रमाण बंध होने से वह बंध अंतःकोडाकोडी के अन्तर्गत नहीं है।

सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती संयत के अत्यन्त अल्पकषायजन्य बारह मुहूर्त, आठ मुहूर्त या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिबंध होने से उसे सबसे अल्प बंध बतलाया है।

इस प्रकार से स्थितिबंध के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगमता से बोध कराने के लिये उक्त कथन का दर्शक प्रारूप पृष्ठ २१४-२१५ पर देखिये।

निषेक प्ररूपणा तथा अबाधा कंडक प्ररूपणा क्रमशः पांचवें बंधविधिद्वार की 'मोत्तुमवाहा समया........' गाथा ५० द्वारा तथा 'उक्कोसगठिइ बंधा........' गाथा ५३ द्वारा की जा चुकी है। अतः वहां से देख लेना चाहिये। अब अल्प-बहुत्व प्ररूपणा करते हैं।

अल्प-बहुत्व प्ररूपणा—

> **थोवा जहन्नबाहा उक्कोसाबाहठाणकंडाणि।**
> **उक्कोसिया अबाहा नाणापएसंतरा तत्तो ॥१०१॥**
>
> **एगं पएसविवरं अबाहाकंडगस्स ठाणाणि।**
> **हीणठिइ ठिइट्ठाणा उक्कोसट्ठिइ तओ अहिया ॥१०२॥**

शब्दार्थ—**थोवा**—स्तोक, अल्प, **जहन्नबाहा**—जघन्य अबाधा, **उक्कोसाबाहठाणकंडाणि**—उत्कृष्ट अबाधास्थान, कंडकस्थान, **उक्कोसिया**—उत्कृष्ट, अबाहा—अबाधा, **नाणापएसंतरा**—नाना प्रदेशान्तर, **तत्तो**—उससे; **एगं पएसविवरं**—एक प्रदेश का अंतर, **अबाहाकंडगस्स**—अबाधा कंडक के, **ठाणाणि**—स्थान, **हीणठिइ**—जघन्यस्थिति, **ठिइट्ठाणा**—स्थितिस्थान, **उक्कोसट्ठिइ**—उत्कृष्टस्थिति, **तओ**—उससे, **अहिया**—अधिक।

गाथार्थ—जघन्य अबाधा सबसे अल्प है, उससे उत्कृष्ट अबाधास्थान, कंडकस्थान, उत्कृष्ट अबाधा नाना प्रदेशान्तर, एक

क्रम	किसका	कौनसा	कितना
१.	सूक्ष्मसंपराय यति	जघन्य	अल्प
२.	पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	,,	असंख्यातगुण
३.	पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	,,	विशेषाधिक
४.	अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	,,	,,
५.	अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	,,	,,
६.	अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
७.	अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	,,	,,
८.	पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	,,	,,
९.	पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	,,	,,
१०.	पर्याप्त द्वीन्द्रिय	जघन्य	संख्यातगुण
११.	अपर्याप्त द्वीन्द्रिय	,,	विशेषाधिक
१२.	अपर्याप्त द्वीन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
१३.	पर्याप्त द्वीन्द्रिय	,,	,,
१४.	पर्याप्त त्रीन्द्रिय	जघन्य	,,
१५.	अपर्याप्त त्रीन्द्रिय	,,	,,
१६.	अपर्याप्त त्रीन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
१७.	पर्याप्त त्रीन्द्रिय	,,	,,
१८.	पर्याप्त चतुरिन्द्रिय	जघन्य	,,

क्रम	किसका	कौनसा	कितना
१९.	अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय	जघन्य	विशेषाधिक
२०.	अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
२१.	पर्याप्त चतुरिन्द्रिय	,,	,,
२२.	पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय	जघन्य	संख्यातगुण
२३.	अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	विशेषाधिक
२४.	अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
२५.	पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,
२६.	(संयत) मुनि	,,	संख्यातगुण
२७.	देशविरत	जघन्य	,,
२८.	देशविरत	उत्कृष्ट	,,
२९.	चतुर्थगुणस्थानवर्ती पर्याप्त	जघन्य	,,
३०.	चतुर्थगुणस्थानवर्ती अपर्याप्त	,,	,,
३१.	चतुर्थगुणस्थानवर्ती अपर्याप्त	उत्कृष्ट	,,
३२.	चतुर्थगुणस्थानवर्ती पर्याप्त	,,	,,
३३.	पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय	जघन्य	,,
३४.	अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,
३५.	अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
३६.	पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,

प्रदेशान्तर अबाधा कंडकस्थान, जघन्यस्थिति, स्थितिस्थान और उत्कृष्ट स्थिति अधिक है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में जघन्य अबाधा से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक के अल्पबहुत्व का कथन किया है। जिसका विशदता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में आयुर्वजित शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मों की जघन्य अबाधा स्तोक अल्प है—'थोवा-जहन्नबाहा', क्योंकि वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, उससे अबाधास्थान और कंडकस्थान असंख्यातगुण हैं, किन्तु परस्पर दोनों समान—तुल्य हैं। दोनों के समान होने का कारण यह है जघन्य अबाधा से लेकर उत्कृष्ट अबाधा के चरम समय पर्यन्त जितने समय हैं, उतने अबाधा के स्थान हैं। वे इस प्रकार—एक समय में एक साथ जितनी स्थिति बंधे और जितनी अबाधा हो, उसे अबाधास्थान कहते हैं जैसे कि जघन्य स्थितिबंध हो तब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य अबाधा होती है, यह पहला अबाधास्थान है, समयाधिक जघन्य अबाधा यह दूसरा अबाधास्थान, दो समयाधिक जघन्य अबाधा यह तीसरा अबाधास्थान इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिबंध में उत्कृष्ट तीन हजार या सात हजार आदि वर्ष प्रमाण अंतिम अबाधास्थान है। अन्तर्मुहूर्तन्यून सात हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतने अधिक से अधिक अबाधा-स्थान होते हैं।

कंडक भी उतने ही होते हैं। क्योंकि उत्कृष्ट अबाधा में से जैसे-जैसे समय कम होता जाता है, वैसे-वैसे उत्कृष्ट स्थितिबंध में से पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितना स्थितिबंध भी कम होता जाता है। इस प्रकार कम होते-होते एक बाजू जघन्य स्थितिबंध आता है, और दूसरी बाजू जघन्य अबाधास्थान होता है। इसीलिये जितने अबाधास्थान हैं, उतने कंडकस्थान भी हैं।

उनसे उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है। क्योंकि जघन्य अबाधा का भी उसमें समावेश हो जाता है।

उससे दलिकों की निषेकरचना में द्विगुणहानि रूप जो अन्तर हैं वे असंख्यातगुण हैं। इसका कारण यह है कि वे पल्योपम के पहले वर्गमूल के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण हैं।

उनसे निषेकरचना में जो द्विगुणहानि होती है, उसके एक अंतर के जो निषेकस्थान हैं, वे असंख्यातगुण हैं, क्योंकि वे पल्योपम के असंख्यातवर्गमूल के जितने समय होते हैं, उतने हैं।

उनसे अबाधास्थान और कंडकस्थान का जोड़ असंख्यातगुण है। क्योंकि उनमें अबाधास्थान तो पहले कहे जा चुके हैं और कंडकस्थान भी उतने ही हैं यह भी पहले कहा जा चुका है। इन दोनों के समुदित स्थान एक अंतर के निषेकस्थानों से असंख्यातगुणे हैं।[1]

---

१. स्वोपज्ञ वृत्ति में भी इसी प्रकार कहा है—'**अबाधा च कण्डकानि च अबाधा कंडकं समाहारो द्वन्द्वः तस्य स्थानानितयोर्द्वयोरपि स्थान संख्येति भावः** अर्थात् अबाधा और कंडक इन दोनों की स्थान संख्या असंख्यातगुण है। परन्तु यहां प्रश्न होता है कि अबाधास्थान और कंडकस्थान ये प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तन्यून सात हजार वर्ष के समय प्रमाण हैं और इन दोनों का योग करने पर दुगने होते हैं। परन्तु यहाँ उन एक-एक स्थानों से उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक कही है और उसके बाद कुल द्विगुण हानिस्थान और एक द्विगुण हानि के अन्तर के निषेकस्थान एक-एक से असंख्यातगुण बताकर इन दोनों स्थानों के समूह को असंख्यागुण कहा है, वह कैसे घटित हो, यह समझ में नहीं आया है। इसी स्थान में कर्मप्रकृति बंधनकरण गाथा ८६ में '**अर्धेन कंडक**' कहा है और दोनों टीकाकार आचार्यों ने उसका अर्थ—'जघन्य अबाधाहीन उत्कृष्ट अबाधा द्वारा जघन्य स्थिति हीन उत्कृष्ट स्थिति को भाग देने पर जो आये अर्थात् एक समय रूप अबाधा की हानि-वृद्धि में जो पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिबंध की हानिवृद्धि होती है, उतना पल्योपम का असंख्यातवां भाग इस प्रकार कहा है और वह 'अर्धेन कंडक' इससे पूर्व कहे द्विगुण हानि के एक अंतर के निषेकस्थानों की अपेक्षा असंख्यातगुण सम्भव हो सकते हैं। विशेष स्पष्टीकरण करने का विद्वज्जनों से निवेदन है।

उनसे जघन्य स्थितिबंध असंख्यातगुण है। क्योंकि वह अंतःकोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण है। श्रेणि पर नहीं चढ़े संज्ञी पंचेन्द्रिय जघन्य भी अतःकोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण ही स्थितिबंध करते हैं।

उससे स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं। उसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म के कुछ अधिक उनतीसगुने हैं। मिथ्यात्वमोहनीय के कुछ अधिक उनहत्तरगुने हैं और नाम व गोत्र कर्म के कुछ अधिक उन्नीस गुने हैं।

उनसे उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है। क्योंकि जघन्य स्थिति और अबाधा का भी उसके अंदर समावेश हो जाता है।

सात कर्मों सम्बन्धी उक्त अल्पबहुत्व का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप पृष्ठ २१९ पर देखिये।

अब आयुकर्म संबंधी अल्पबहुत्व कहते हैं—

आउसु जहन्नबाहा जहन्नबंधो अबाहठाणाणि।
उक्कोसबाह नाणंतराणि एगंतरं तत्तो ॥१०३॥
ठिइबंधट्ठाणाइ उक्कोसठिई तओ वि अब्भहिया।
सन्निसु अप्पाबहुयं दसट्ठभेयं इमं भणियं ॥१०४॥

शब्दार्थ—**आउसु**—आयुकर्म में, **जहन्नबाहा**—जघन्य अबाधा, **जहन्न बंधो**—जघन्य स्थितिबंध, **अबाहठाणाणि**—अबाधास्थान, **उक्कोसबाह**—उत्कृष्ट अबाधा, **नाणंतराणि**—नाना अंतर, **एगंतरं**—एक अंतर, **तत्तो**—उसके बाद, **ठिइबंधट्ठाणाइ**—स्थितिबंधस्थान, **उक्कोसठिई**—उत्कृष्ट स्थिति, **तओवि**—उससे भी, **अब्भहिया**—अधिक, **सन्निसु**—संज्ञी जीवों में, **अप्पाबहुयं**—अल्प-बहुत्व, **दसट्ठभेयं**—दस और आठ भेद, **इमं**—यह, **भणियं**—कहे हैं।

गाथार्थ—आयुकर्म में जघन्य अबाधा, उससे जघन्य स्थितिबंध, अबाधास्थान, उत्कृष्ट अबाधा, नाना अंतर, एक अंतर, स्थितिबंधस्थान और उससे भी उत्कृष्ट स्थिति विशेषाधिक है।

पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी का सात कर्म संबंधी अल्प-बहुत्व

१.	जघन्य अबाधा	अल्प	अन्तर्मुहूर्त
२.	अबाधास्थान	असंख्यातगुण	जघन्य अबाधारहित उत्कृष्ट अबाधा के समय प्रमाण
३.	कंडक स्थान	परस्पर तुल्य	जघन्य अबाधारूप
४.	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	अंतर्मुहूर्त के समय से अधिक तीन हजार आदि वर्ष के समय प्रमाण
५.	निषेक के द्विगुण हानि के स्थान	असंख्यातगुण	पल्य के प्रथम वर्ग-मूल के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण
६.	द्विगुण हानि के एक अंतर के स्थान	असंख्यातगुण	पल्यो. के असंख्याते वर्गमूल के समय प्रमाण
७.	अबाधास्थान कंडकस्थान[1]		
८.	जघन्य स्थितिबंध	असंख्यातगुण	अंत:कोडाकोडी साग-रोपम प्रमाण (श्रेणी बिना के जीव की अपेक्षा)
९.	सर्वस्थितिस्थान	संख्यातगुण	जघन्य स्थितिबंध न्यून उत्कृष्ट स्थिति-बंध के समय प्रमाण
१०.	उत्कृष्ट स्थितिबंध	विशेषाधिक	अपने-अपने संपूर्ण उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रमाण

१. टिप्पण को पढ़कर स्वयं विचार कर लेना चाहिये ।

इस प्रकार से संज्ञी जीवों में यह दस और आठ भेद का अल्प-बहुत्व कहा है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में पर्याप्त-अपर्याप्त, संज्ञी-असंज्ञी, पंचेन्द्रियों के आयुकर्म संबन्धी आठ प्रकारों के अल्प-बहुत्व का निरूपण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय इन दोनों के आयु की जघन्य अबाधा अल्प है। क्योंकि वह क्षुल्लक भव के तीसरे भाग से अत्यन्त छोटे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

उससे क्षुल्लक भव रूप होने से जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण है।

उससे अबाधास्थान संख्यातगुण हैं क्योंकि वे जघन्य अबाधा-रहित पूर्व कोटि के तीसरे भाग प्रमाण हैं।

उनसे उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है। क्योंकि उसमें जघन्य अबाधा का भी समावेश हो जाने से उत्कृष्ट अबाधा को विशेषाधिक जानना चाहिये।

उससे दलिकों की निषेक रचना में द्विगुण हानि के स्थान असंख्यात-गुणे हैं। क्योंकि वे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण हैं।

उनसे द्विगुण हानि के एक अंतर के स्थितिस्थान असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि वे पल्योपम के असंख्याते वर्गमूल में रहे हुए समय प्रमाण हैं।

उनसे कुल स्थितिबंधस्थान असंख्यात गुणे हैं।

उनसे उत्कृष्ट स्थिति विशेषाधिक है। क्योंकि उसमें जघन्यस्थिति और अबाधा का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार से पर्याप्त संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय में आयु-कर्म के आठ भेदों का अल्प-बहुत्व है तथा 'सन्निसु' यह पद बहुवचनात्मक होने से आयुकर्म के अल्प-बहुत्व में असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

उक्त कथन का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप इस प्रकार है—

पर्याप्त संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय का आयुकर्म में अल्प-बहुत्व

क्रम	नाम	प्रकार	विशेष
१.	जघन्य अबाधा	अल्प	अन्तर्मुहूर्त
२.	जघन्य स्थितिबंध	संख्यातगुण	जघन्य अबाधासहित क्षुल्लकभव प्रमाण
३.	अबाधास्थान	,,	जघन्य अबाधारहित पूर्वकोटि के तीसरे भाग के समय प्रमाण
४.	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	पूर्वकोटि के तीसरे भाग प्रमाण
५.	निषेक के द्विगुण हानि स्थान	असंख्यातगुण	पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्य भाग के समय प्रमाण
६.	द्विगुण हानि के एक अंतर के स्थान	,,	पल्योपम के असंख्याता वर्गमूल के समय प्रमाण
७.	सर्वस्थितिस्थान	,,	अबाधारूप अन्तर्मुहूर्त अधिक क्षुल्लकभवन्यून पूर्वकोटि के तीसरे भाग अधिक असंज्ञी के पल्य का असंख्यातवां भाग और संज्ञी के तेतीस सागरोपम के समय प्रमाण
८.	उत्कृष्ट स्थितिबंध	विशेषाधिक	पूर्वकोटि के १/३ भाग अधिक ३३ सागर संज्ञी का तथा पूर्व-कोटि का १/३ भाग अधिक पल्य का असंख्यात भाग असंज्ञी का

इस अल्प-बहुत्व के अनुसार दूसरे जीव-भेदों में भी आगमानुसार अल्प-बहुत्व जान लेना चाहिये। वह इस प्रकार—

अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त अपर्याप्त बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन प्रत्येक में आयुकर्म की जघन्य अबाधा अल्प है।

उससे जघन्य स्थितिबंध क्षुल्लक भवरूप होते से संख्यातगुण है।

उससे अबाधास्थान संख्यातगुण है।

उससे उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है।

उससे भी स्थितिबंधस्थान संख्यातगुण हैं। क्योंकि वे जघन्य स्थिति न्यून पूर्व कोटि प्रमाण हैं।

उनसे उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है। उसमें जघन्य स्थिति और अबाधा का भी समावेश हो जाता है।

उक्त कथन का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

पर्याप्त संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय के सिवाय शेष जीव-भेदों में आयुकर्म का अल्प-बहुत्व

क्रम	नाम	अल्प-बहुत्व	विशेष
१.	जघन्य अबाधा	अल्प	अन्तर्मुहूर्त
२.	जघन्य स्थितिबंध	संख्यातगुण	जघन्य अबाधासहित क्षुल्लक भव
३.	अबाधा स्थान	,,	जघन्य अबाधान्यून स्वआयु के तीसरे भाग प्रमाण
४.	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	स्वआयु के तीसरे भाग प्रमाण
५.	स्थितिबंधस्थान	संख्यातगुण	स्वआयु के तीसरे भाग अधिक जघन्य स्थिति न्यून पूर्वकोटि के समय प्रमाण
६.	उत्कृष्ट स्थितिबंध	विशेषाधिक	स्वआयु के तीसरे भाग अधिक पूर्वकोटि वर्ष

आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों में पर्याप्त-अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय में प्रत्येक के अबाधास्थान और कंडक अल्प हैं किन्तु परस्पर दोनों समान हैं क्योंकि वे आवलिका के असंख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण हैं। उनसे जघन्य अबाधा असंख्यातगुण है। क्योंक वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उससे उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है। क्योंकि उसमें जघन्य अबाधा का भी समावेश हो जाता है। उससे दलिकों की निषेक रचना में द्विगुणहानि स्थान असंख्यातगुण हैं। उनसे द्विगुणहानि के एक अंतर के स्थितिस्थान असंख्यातगुण हैं। उनसे अबाधास्थान+कंडकस्थान का कुल योग असंख्यातगुण है। उनसे स्थितिस्थान असंख्यातगुण है। क्योंकि वे एकेन्द्रिय और शेष द्वीन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा अनुक्रम से पल्योपम के असंख्यातवें तथा पल्योपम के संख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण हैं। उनसे जघन्य स्थितिबंध असंख्यातगुण है। क्योंकि वे एकेन्द्रिय में पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून सागरोपमादि प्रमाण हैं और द्वीन्द्रियादि जीवों में पल्योपम के संख्यातवें भाग न्यून पच्चीस, पचास आदि सागरोपमादि प्रमाण हैं। उनसे उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक हैं। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रियों के अपने जघन्य स्थितिबंध से पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक और शेष जीवों के पल्योपम के संख्यातवें भाग अधिक है उक्त कथन का दर्शक प्रारूप पृष्ठ २२४ पर देखिये।

इस प्रकार अल्पबहुत्व का प्रमाण जानना चाहिये।

अब स्थितिबंध के हेतुभूत अध्यवसाय स्थानों का विचार करते हैं। उनके विचार के तीन द्वार हैं—

१. स्थितिसमुदाहार, २. प्रकृतिसमुदाहार,
३. जीवसमुदाहार।

समुदाहार का तात्पर्य है, प्रतिपादन करना। अतएव प्रत्येक स्थितिस्थान में उसके बंध में हेतुभूत अध्यवसायों का जो प्रतिपादन

पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी सिवाय १२ जीवभेदों में ७ कर्मों का अल्पबहुत्व

क्रम	नाम	अल्पबहुत्व	विशेष
१.	अबाधास्थान	अल्प (परस्पर-तुल्य)	आवलिका के असंख्यातवें भाग में रहे समय प्रमाण
२.	कंडकस्थान		
३.	जघन्य अबाधा	असंख्यातगुण	अन्तर्मुहूर्त
४.	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	जघन्य अबाधा रूप अन्तर्मुहूर्त से बृहत्तर अन्तर्मुहूर्त
५.	निषेक के द्विगुण हानि के स्थान	असंख्यातगुण	पल्योपम प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण
६.	एक द्विगुण हानि के अंतर के स्थान	,,	पल्योपम के असंख्याता वर्गमूल के समय प्रमाण
७.	अबाधास्थान+कंडक-स्थान	,,	
८.	स्थितिस्थान		एके. में पल्यो. के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण, शेष में पल्य के संख्यातवें भाग के समय प्रमाण
९.	जघन्य स्थितिबंध	,,	एके. में पल्य. के असंख्या. भाग न्यून $\frac{1}{7}$ आदि सागरोपम प्रमाण, शेष में पल्य. के संख्यातवें भाग न्यून $\frac{25}{7}$, $\frac{50}{7}$, $\frac{100}{7}$, $\frac{1000}{7}$ आदि सागरोपम प्रमाण
१०.	उत्कृष्ट स्थितिबंध	विशेषाधिक	एके. में $\frac{1}{7}$ सागरोपमादि प्रमाण, शेष में $\frac{25}{7}$, $\frac{50}{7}$ $\frac{100}{7}$, $\frac{1000}{7}$ सागरोपम आदि।

उसे स्थितिसमुदाहार कहते हैं। उसके भी तीन अनुयोग द्वार इस प्रकार हैं—१. प्रगणना—अध्यवसायों की गणना करना, २. अनुकृष्टि, ३. तीव्रमंदता। उसमें से पहले प्रगणना प्ररूपणा का विचार करते हैं।

प्रगणना प्ररूपणा

ठिइठाणे ठिइठाणे अज्झवसाया असंखलोगसमा।
कमसो विसेसअहिया सत्तण्हाउस्ससंखगुणा ॥१०५॥

पल्लासंखसमाओ गंतूण ठिईओ होंति ते दुगुणा।
सत्तण्हज्झवसाया गुणगारा ते असंखेज्जा ॥१०६॥

शब्दार्थ—**ठिइठाणे ठिइठाणे**—स्थितिस्थान-स्थितिस्थान में, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **असंखलोगसमा**—असंख्यात लोकाकाश प्रमाण, **कमसो**—अनुक्रम से, **विसेसअहिया**—विशेषाधिक, **सत्तण्हाउस्ससंखगुणा**—सात कर्मों के तथा आयु के असंख्यातगुणे।

पल्लासंखसमाओ—पल्योपम के असंख्यातवें भाग के बराबर, **गंतूण**—जाने पर, **ठिइओ**—स्थितिस्थान, **होंति**—होते हैं, **ते**—वे, **दुगुणा**—दुगुने, **सत्तण्हज्झवसाया**—सात कर्मों के अध्यवसाय, **गुणागारा**—गुणाकार, **ते**—वे, **असंखेज्जा**—असंख्यात।

गाथार्थ—स्थितिस्थान-स्थितिस्थान में (प्रत्येक स्थितिस्थान में) उनके बंध के हेतुभूत अध्यवसाय असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। सात कर्मों के वे अनुक्रम से विशेषाधिक हैं और आयु कर्म के असंख्यातगुणे हैं।

सात कर्मों में पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने स्थितिस्थान उलांघने पर वे दुगुने होते हैं। ऐसे द्विगुण वृद्धिस्थान असंख्यात हैं।

विशेषार्थ—एक समय में एक साथ जितनी स्थिति बंधे, उसे स्थितिस्थान कहते हैं। जैसे कि जघन्य स्थिति यह पहला स्थितिस्थान, समयाधिक जघन्य स्थिति यह दूसरा स्थितिस्थान, इस प्रकार

जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक के जितने समय हों, उसमें जघन्य स्थिति का एक स्थितिस्थान मिलाने पर उतने प्रत्येक कर्म के स्थितिस्थान होते हैं। एक-एक स्थितिस्थान बांधने पर उसके बंध में हेतुभूत कषायोदयजन्य अध्यवसाय अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। पूर्व में भी **'ठिइठाणे-ठिइठाणे कसाय-उदया असंखलोगसमा'** इस गाथा में भी इसी बात का संकेत किया है। परन्तु वहां कषायोदय स्थान में रसबंध के हेतुभूत अध्यवसायों का विचार किया है और यहां स्थितिस्थान के ही हेतुभूत अध्यवसायों का मुख्यतया विचार किया है।

इन अध्यवसायों का अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा इस प्रकार दो रीति से विचार हो सकता है। अतएव पहले अनन्तरोपनिधा से उनका विचार करते हैं—

आयु के सिवाय सात कर्मों के दूसरे आदि स्थितिस्थान बांधने पर उनके बंध में हेतुभूत अध्यवसाय अनुक्रम से अधिक-अधिक होते हैं और आयु में अनुक्रम से असंख्यात-असंख्यात गुणे होते हैं। वे इस प्रकार—ज्ञानावरणकर्म की जघन्य स्थिति बांधने पर उस स्थितिबंध में हेतुभूत कषायोदयजन्य आत्म-परिणामों की संख्या अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होती है और वह उसके बाद के स्थितिस्थान की अपेक्षा अल्प है। उतने अध्यवसायों से एक ही स्थितिस्थान बंधता है। उससे समयाधिक दूसरे स्थितिस्थान को बांधने पर विशेषाधिक अध्यवसाय होते हैं। उससे तीसरा स्थिति-स्थान बांधने पर विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थिति-स्थान में उनके बंध में हेतुभूत जो अध्यवसाय हैं उनसे उत्तर-उत्तर के स्थिति-स्थान में विशेषाधिक-विशेषाधिक उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

इसी प्रकार दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अंतराय कर्म के संबंध में भी जानना चाहिये।

आयुकर्म की जघन्य स्थिति बांधने पर अनेक जीवों की अपेक्षा

उसके बंध में हेतुभूत असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदयजन्य अध्यवसाय होते हैं। जो उत्तरवर्ती स्थितिबंध की अपेक्षा अल्प हैं। उससे दूसरी समयाधिक जघन्य स्थिति बांधने पर असंख्यातगुण हैं, उससे तीसरी स्थितिस्थान बांधने पर असंख्यातगुण हैं। इस प्रकार वहां तक कहना चाहिये, यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान प्राप्त हो।

आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों में पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर के स्थान में थोड़े-थोड़े बढ़ते हैं और आयुकर्म में पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर के स्थान में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण वृद्धि होती है।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से अध्यवसायों की वृद्धि की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब परंपरोपनिधा से विचार करते हैं—

आयु के सिवाय शेष सात कर्मों की जघन्य स्थिति बांधने पर स्थितिबंध में हेतुभूत जो कषायोदयजन्य अध्यवसाय हैं, उनकी अपेक्षा जघन्य स्थिति से आरंभ कर पल्योपम के असंख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण स्थितिस्थानों को उलांघने के बाद जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें दुगुने अध्यवसाय होते हैं, वहां से पुनः उतने ही स्थितिस्थानों को उलांघने के बाद जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें दुगुने अध्यवसाय होते हैं। इस प्रकार द्विगुणवृद्धि वहां तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त हो।

इस प्रकार जो द्विगुणवृद्धि स्थान होते हैं, वे असंख्यात हैं। उनके असंख्यात होने का स्पष्टीकरण यह है कि एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र में रहे हुए आकाश प्रदेशों के पहले वर्गमूल के कुल मिलाकर जितने छेदनक (अर्ध-अर्धभाग) हैं, उन छेदनकों के असंख्यातवें भाग में जितने छेदनक होते हैं उनकी जितने आकाश प्रदेश प्रमाण संख्या हो, उतने द्विगुणवृद्धिस्थान होते हैं। द्विगुणवृद्धिस्थान अल्प हैं और द्विगुण-वृद्धिस्थान के बीच के एक-एक अंतर के स्थितिस्थान असंख्यात-गुण हैं।

इस प्रकार प्रगणना का आशय जानना चाहिये।

अब अनुकृष्टि कहते हैं। किन्तु स्थितिबंध में हेतुभूत अध्यवसायों की अनुकृष्टि नहीं होती है। क्योंकि प्रत्येक स्थितिस्थान में उसके बंध में हेतुभूत नवीन ही अध्यवसाय होते हैं। जैसे कि ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति बांधने के जो अध्यवसाय है, उनमें का एक भी अध्यवसाय समयाधिक जघन्य स्थिति बांधने पर नहीं होता है। किन्तु सभी नवीन ही, दूसरे ही होते हैं। दो समयाधिक जघन्य स्थिति बांधने पर भी अन्य ही होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये। इसी प्रकार सभी कर्मों के संबंध में जानना चाहिये।

अब तीव्रमंदता के कथन करने का अवसर है। परन्तु उसे आगे कहेंगे।

इस प्रकार स्थितिसमुदाहार—स्थितिस्थानों में अध्यवसायों का प्रतिपादन किया। अब प्रकृतिसमुदाहार का कथन करते हैं।

प्रकृतिसमुदाहार—प्रत्येक कर्म के बंध में हेतुभूत कितने अध्यवसाय हैं ? इस कथन को प्रकृति समुदाहार कहते हैं। उसके विचार के दो द्वार हैं—१. प्रमाणानुगम—संख्या का विचार और २. अल्पबहुत्व। इनमें से पहले प्रमाणानुगम का विचार करते हैं कि ज्ञानावरण आदि सभी कर्मों के समस्त स्थितिस्थानकों के अध्यवसायों की कुल संख्या असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है।

अब अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

ठिइदीहाए कमसो असंखगुणणाए होंति पगईणं।
अज्झवसाया आउगनामट्ठमदुविहमोहाणं ॥१०७॥

शब्दार्थ—**ठिइदीहाए**—स्थिति की दीर्घता के अनुसार, **कमसो**—क्रमशः, **असंखगुणणाए**—असंख्यातगुणे, **होंति**—होते हैं, **पगईणं**—प्रकृतियों के, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **आउगनामट्ठम**—आयु, नाम और आठवें अंतराय, **दुविहमोहाण**—दोनों प्रकार मोहनीय के।

गाथार्थ—कर्म प्रकृतियों की दीर्घ स्थिति के अनुसार असंख्यात-

गुणे अध्यवसाय होते हैं। आयु, नाम, अंतराय, दोनों प्रकार के मोहनीय—चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीय के क्रमशः असंख्यातगुणे अध्यवसाय होते हैं।

विशेषार्थ—जिस कर्मप्रकृति की जिस अनुक्रम से दीर्घ स्थिति है, उसी क्रम से उनके असंख्यातगुणे अध्यवसाय होते हैं। वे इस प्रकार—आयु कर्म के बंध में हेतुभूत स्थितिबंध के अध्यवसाय अल्प हैं। उससे नाम कर्म के और उसके तुल्य स्थिति होने से गोत्र कर्म के असंख्यातगुणे हैं।[1]

शंका—आयु कर्म में पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर प्रत्येक स्थितिस्थान में तद्बंध हेतुभूत असंख्यात-असंख्यातगुणे अध्यवसाय होते जाते हैं और नाम तथा गोत्र कर्म के प्रत्येक स्थितिस्थान में विशेषाधिक-विशेषाधिक होते हैं, तो फिर आयुकर्म के अध्यवसायों से नाम और गोत्र कर्म के अध्यवसाय असंख्यातगुणे कैसे होते हैं? आयु कर्म के स्थितिस्थानों से नाम और गोत्र कर्म के स्थितिस्थान अधिक होने से कदाचित् विशेषाधिक हो सकते हैं।

समाधान—आयुकर्म की जघन्य स्थिति बांधने पर तद्बंध हेतुभूत अध्यवसाय अल्पल्प है और नाम तथा गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति बांधने पर तद्बंध हेतुभूत अध्यवसाय अत्यधिक हैं एवं आयुकर्म से नाम और गोत्र कर्म के स्थितिस्थान भी बहुत अधिक हैं। अतएव आयुकर्म के प्रत्येक स्थितिस्थान में असंख्यातगुण के क्रम से अध्यवसायों के बढ़ने पर भी और नाम व गोत्र कर्म में प्रत्येक स्थितिस्थान में विशेषाधिक-विशेषाधिक होने पर भी कुल मिलाकर आयु कर्म के स्थितिबंधाध्यवसायों से नाम और गोत्र कर्म के स्थितिबंधाध्यवसाय असंख्यातगुणे ही होते हैं। इसलिये कोई दोष नहीं है।

---

१. यद्यपि गाथा में गोत्र कर्म का उल्लेख नहीं है। किन्तु नाम कर्म के ग्रहण से ही समान स्थिति होने से गोत्र कर्म का ग्रहण किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समान स्थिति वाले कर्मों का ग्रहण कर लेना चाहिये।

नाम और गोत्र कर्म के स्थितिबंधाध्यवसायों से आठवें अन्तराय कर्म के और उसके समान स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा वेदनीय कर्म के स्थितिबंधाध्यवसाय असंख्यातगुणे हैं।

शंका—नाम और गोत्र कर्म की स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा ज्ञानावरणादि चार कर्मों की तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। अतएव नाम और गोत्र कर्म से दस कोडाकोडी सागरोपम मात्र अधिक है, जिससे नाम और गोत्र कर्म के स्थितिबंधाध्यवसायों से ज्ञानावरणादि के स्थितिबंधाध्यवसाय असंख्यातगुणे कैसे होते हैं ?

समाधान—यद्यपि नाम और गोत्र से ज्ञानावरणादि चार कर्मों की स्थिति डेढी है फिर भी स्थितिबंध के हेतुभूत अध्यवसाय असंख्यातगुणे ही होते हैं। क्योंकि यह पहले कहा जा चुका है कि पूर्व-पूर्व स्थितिस्थानों से उत्तरोत्तर स्थितिस्थानों में इस क्रम से अध्यवसाय बढ़ते हैं कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग स्थितिस्थानों का अतिक्रमण करने के बाद दुगुने होते हैं, पुनः उतने स्थानों का अतिक्रमण करने पर दुगुने होते हैं। इस प्रकार होने से जब मात्र एक पल्योपम प्रमाण स्थितिस्थानों को उलांघने से ही असंख्यातगुणे होते हैं, क्योंकि एक पल्योपम में पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने खंड असंख्यात होते हैं तो फिर दस कोडाकोडी सागरोपम के अंत में क्यों असंख्यातगुणे नहीं होंगे ? अर्थात् होंगे ही।

ज्ञानावरणादि के स्थितिबंधाध्यवसायों से कषायमोहनीय के असंख्यातगुणे हैं और उससे दर्शनमोहनीय के स्थितिबंधाध्यवसाय असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि उनकी स्थिति अनुक्रम से चालीस कोडाकोडी सागरोपम और सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है।

इस प्रकार से प्रकृतिसमुदाहार का आशय जानना चाहिये। पूर्व में जो यह कहा था कि स्थिति समुदाहार के विषय में तीव्रमंदता आगे कहेंगे। अतः अब उस तीव्रमंदता का कथन करते हैं।

स्थिति-समुदाहार की तीव्रमंदता

सव्वजहन्नस्स रसादणंतगुणिओ य तस्स उक्कोसो ।
ठिइबंधे ठिइबंधे अज्झवसाओ जहाकमसो ॥१०८॥

शब्दार्थ—**सव्वजहन्नस्स**—सर्व जघन्य के, **रसाद्**—रस से, **अणंतगुणिओ**—अनन्त गुणित, **य**—और, **तस्स**—उसी का, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट, **ठिइबंधे-ठिइबंधे**—स्थितिबंध-स्थितिबंध में (प्रत्येक स्थितिबंध में), **अज्झवसाओ**—अध्यवसाय, **जहाकमसो**—अनुक्रम से ।

गाथार्थ—सर्वजघन्य स्थितिबंध के सर्व जघन्य रस से उसी का उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है । इस प्रकार प्रत्येक स्थितिस्थान में अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये ।

विशेषार्थ—सबसे अल्प स्थितिबंध करने पर स्थितिबंध के हेतुभूत जो जघन्य अध्यवसाय हैं, उनका संक्लेश रूप अथवा विशुद्धि रूप रस—स्वभाव, सामर्थ्य—अल्प है । उससे उसी स्थितिबंध के हेतुभूत उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाले होते हैं । तात्पर्य यह है कि जघन्य अध्यवसाय से उत्कृष्ट अध्यवसाय उतना तीव्र है । इस प्रकार प्रत्येक स्थितिबंध में स्थितिबंध के हेतुभूत जघन्य उत्कृष्ट अध्यवसाय उक्त प्रकार से अनन्तगुण तीव्र कहना चाहिये ।

वह इस प्रकार—ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति बांधने पर स्थितिबंध का हेतुभूत जघन्य अध्यवसाय मंद प्रभाव वाला है, उसी से उसी जघन्य स्थिति को बाँधने पर स्थितिबंध में हेतुभूत उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाला है, उससे समयाधिक जघन्य स्थिति बांधने पर स्थितिबंध में हेतुभूत जघन्य अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाला है, उससे उसी समयाधिक जघन्य स्थितिबंध में हेतुभूत कषायोदयजन्य उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाला है । इस प्रकार प्रत्येक स्थितिस्थान में जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति-बंधाध्यवसायस्थान को अनन्तगुण कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थितिबंध में हेतुभूत अंतिम सर्वोत्कृष्ट कषायोदयजन्य अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाला हो ।

यहां स्थितिबंध के अध्यवसायों की अनुकृष्टि नहीं होती है। क्योंकि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में नवीन ही कषायोदय-जन्य अध्यवसाय होते हैं। इसी से एक ही स्थितिबंध में भी जघन्य से उत्कृष्ट स्थितिबंधाध्यवसायस्थान अनन्तगुण सामर्थ्य वाला कहा जाता है।

इस प्रकार स्थितिसमुदाहार का वर्णन समाप्त हुआ और उसके साथ ही प्रकृतिसमुदाहार का कथन भी किया गया जानना चाहिये।

अब जीवसमुदाहार का वर्णन करते हैं।

जीवसमुदाहार

धुवपगई बंधंता चउठाणाई सुभाण इयराणं।

दो ठाणगाइ तिविहं सट्ठाणजहन्नगाईसु ॥१०९॥

शब्दार्थ—**धुवपगई**—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां, **बंधंता**—बांधते हुए, **चउठाणाई**—चतुःस्थानकादि, **सुभाण**—शुभ, **इयराणं**—इतर (अशुभ), **दो ठाणगाइ**—द्विस्थानकादि, **तिविहं**—तीन प्रकार का, **सट्ठाण**—स्वयोग्य, **जहन्नगाईसु**—जघन्यादि स्थिति में।

गाथार्थ—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां बांधते हुए शुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानकादि तीन प्रकार का और अशुभ प्रकृतियों का द्विस्थानकादि तीन प्रकार का रस बांधता है। इस प्रकार रस का बंध स्वयोग्य जघन्यादि स्थिति बांधने पर होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्वमोहनीय, सोलह कषाय, भय जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और अंतरायपंचक रूप सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को बांधते हुए परावर्तमान सातावेदनीय, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक औदारिकद्विक-आहारकद्विक, समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, पराघात, उच्छवास, आतप, उद्योत, त्रसदशक, प्रशस्तविहायोगति, तीर्थंकरनाम, नरकायु के बिना शेष तीन आयु और उच्चगोत्र रूप

चौंतीस पुण्यप्रकृतियों का चतु:स्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रसबंध करता है।

उन्हीं पूर्वोक्त ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को बांधते हुए यदि परावर्तमान असातावेदनीय, वेदत्रिक, हास्य, रति, शोक, अरति, नरकत्रिक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रियजाति बिना शेष चार जाति, प्रथम संहनन और संस्थान के बिना शेष पांच संस्थान और संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावरदशक और नीचगोत्र रूप उनचालीस पाप प्रकृतियों को बांधे तो उनका द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु:स्थानक रसबंध करता है।

इस प्रकार ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को बांधते हुए परावर्तमान पुण्य और पाप प्रकृतियों का जो रसबंध कहा है, वह स्वयोग्य जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति बांधते हुए होता है, यह समझना चाहिये।

उक्त संक्षिप्त कथन का विशेष विचार इस प्रकार है—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बाँधते हुए जो परावर्तमान शुभ प्रकृतियाँ बंधती हैं उनका चतु:स्थानक रसबंध करता है और जो परावर्तमान अशुभ प्रकृतियां बंधती हैं उनका द्विस्थानक रसबंध करता है। क्योंकि तीन आयु के बिना किन्हीं भी प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध प्रशस्त परिणामों से होता है और प्रशस्त परिणाम होने से पुण्य प्रकृतियों का चतु:स्थानक और पाप प्रकृतियों का द्विस्थानक रसबंध होता है।

जैसे-जैसे परिणामों की मलिनता होती जाती है वैसे-वैसे स्थितिबंध अधिकाधिक होता जाता है, तब पुण्य प्रकृतियों में रसबंध मंद-मंद और पाप प्रकृतियों में रसबंध अधिक-अधिक होता जाता है। जब उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है तब पाप प्रकृतियों का चतु:स्थानक रसबंध और पुण्य प्रकृतियों का तथास्वभाव से द्विस्थानक रसबंध होता है। इस प्रकार स्थितिबंध जैसे-जैसे कम होता है वैसे-वैसे पुण्य प्रकृतियों के रस की वृद्धि और पाप प्रकृतियों के रस की हानि होती जाती है।

इस क्रम से स्थितिबंध के अनुसार रसबंध किस रीति से बढ़ता है, अब इसको बताते हैं—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की अजघन्य स्थिति

बांधते हुए परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का अथवा अशुभ प्रकृतियों का त्रिस्थानक रसबंध करता है। यहां दोनों का समान रसबंध होता है, यह नहीं समझना चाहिये, परन्तु जब अप्रत्याख्यानावरणकषाय मंद हो तब पुण्य का तीव्र त्रिस्थानक और पाप का मंद त्रिस्थानक रसबंध होता है और जैसे-जैसे वह कषाय तीव्र होती जाती है, वैसे-वैसे पुण्य का मंद-मंद त्रिस्थानक और पाप का तीव्र-तीव्र त्रिस्थानक रसबंध होता जाता है। त्रिस्थानक रसबंध के असंख्य प्रकार होने से यह घटित हो सकता है। ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बांधते हुए परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों का द्विस्थानक रसबंध और अशुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानक रसबंध करता है। यहाँ भी जैसे-जैसे कषाय का बल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे स्थितिबंध अधिक, पुण्य का रस मंद और पाप का तीव्र रसबंध होता है। इसी कारण पुण्य प्रकृतियों का चतुःस्थानकादि त्रिविध रसबंध और पाप प्रकृतियों का द्विस्थानकादि त्रिविध रसबंध कहा है।

इसका कारण यह है कि जब पुण्यप्रकृतियों का चतुःस्थानक रसबंध होता हो तब परिणाम अतिशय निर्मल होते हैं, उस समय स्थितिबंध जघन्य होता है और पाप प्रकृतियों का एकस्थानक या द्विस्थानक रसबंध होता है। जब पुण्य प्रकृतियों का त्रिस्थानक रसबंध होता है, तब शुभ परिणामों की मंदता के कारण स्थितिबंध अजघन्य—मध्यम होता है और पाप प्रकृतियों का त्रिस्थानक रसबंध होता है और जब पुण्य प्रकृतियों का द्विस्थानक रसबंध होता है, तब परिणाम की क्लिष्टता होने से स्थितिबंध उत्कृष्ट होता है तथा पाप प्रकृतियों का चतुःस्थान रसबंध होता है।

स्थितिबंध और रसबंध का आधार कषाय है। जैसे-जैसे कषाय तीव्र वैसे-वैसे स्थितिबंध अधिक, पुण्य में रस मंद और पाप में तीव्र रसबंध होता है। इस नियम के अनुसार जब अनन्तानुबंधी कषाय तीव्र रूप में हो तब स्थितिबंध उत्कृष्ट, पाप प्रकृतियों में रस तीव्र चतुःस्थानक और पुण्य में रस मंद तथास्वभाव से द्विस्थानक होता है।

जैसे-जैसे वह कषाय घटती जाती है, वैसे-वैसे पाप में रस मंद, पुण्य में अधिक और स्थितिबंध कम होता जाता है।

अप्रत्याख्यानावरणकषाय तीव्र रूप में हो तब स्थितिबंध मध्यम, पुण्य में त्रिस्थानक और पाप में भी त्रिस्थानक रसबंध होता है, वह कषाय जैसे-जैसे घटती जाती है, वैसे-वैसे पुण्य प्रकृतियों के रस में वृद्धि और पाप के रस में हानि होती जाती है।

प्रत्याख्यानावरणकषाय जब तीव्र रूप में हो तब स्थितिबंध पूर्व की अपेक्षा कम, पुण्य का चतुःस्थानक रसबंध और पाप का द्विस्थानक रसबंध होता है। वह भी कषाय के घटने से कम होता जाता है। संज्वलन कषाय जब तीव्र रूप में हो तब स्थितिबंध पूर्व से भी कम पुण्य का चतुःस्थानक रसबंध परन्तु पूर्व से बहुत अधिक और पाप का द्विस्थानक रसबंध होता है। उसकी शक्ति भी जैसे-जैसे घटती जाती है वैसे-वैसे पुण्य का चतुःस्थानक रस बढ़ता जाता है और पाप का द्विस्थानक या एकस्थानक रसबंध होता है और दसवें गुणस्थान के अंत समय में कषाय अत्यन्त मंद होने से पुण्य का अत्यन्त उत्कृष्ट और पाप का अत्यन्त हीन रसबंध होता है।

इस प्रकार कषाय की तीव्रमंदता पर स्थिति—रसबंध की तीव्र-मंदता निर्भर है।

अब ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बांधते हुए पुण्य प्रकृतियों का चतुःस्थानकादि और पाप प्रकृतियों का द्विस्थानकादि रस बंध करनेवाले जीवों का अनन्तरोपनिधा से अल्पबहुत्व कहते हैं।

चउदुठाणाइ सुभासुभाण बंधे जहन्नध्रुवठिइसु।
थोवा विसेसअहिया पुहुत्तपरओ विसेसूणा ॥११०॥

शब्दार्थ—**चउदुठाणाइ**—चतुःस्थानक, द्विस्थानक, **सुभासुभाण**—शुभ और अशुभ प्रकृतियों के, **बंधे जहन्नध्रुवठिइसु**—ध्रुवप्रकृतियों की जघन्य स्थितिबंध में, **थोवा**—स्तोक, **विसेसअहिया**—विशेषाधिक, **पुहुत्तपरओ**—शत पृथक्त्व सागरोपम से परे, **विसेसूणा**—विशेष न्यून (अल्प-अल्प)।

गाथार्थ—शुभ और अशुभ प्रकृतियों का क्रमशः चतुःस्थानक और द्विस्थानक रसबंध होता हो तब ध्रुवप्रकृतियों की जघन्य स्थिति के बंधक जीव स्तोक-अल्प होते हैं, तत्पश्चात् आगे-आगे की स्थिति बांधने वाले जीव क्रमशः विशेषाधिक-विशेषाधिक होते हैं और फिर शतपृथक्त्व सागरोपम से परे के स्थानों में विशेष हीन-हीन (अल्प-अल्प) होते हैं।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक और परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रस को बांधते हुए जो जीव ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बांधते हैं, वे स्तोक अल्प हैं। इसके बाद की दूसरी स्थिति जो बांधते हैं, विशेषाधिक हैं, तीसरी स्थिति बांधने वाले विशेषाधिक हैं, इस प्रकार उत्तरोत्तर वहाँ तक कहना चाहिये यावत् सैकड़ों सागरोपमपृथक्त्व प्रमाण स्थितियां व्यतीत हों।

यहाँ पृथक्त्व शब्द बहुत्ववाची होने से तात्पर्य इस प्रकार है—

अनेक सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितियां जायें, वहाँ तक अनुक्रम से एक-एक स्थितिस्थान में विशेषाधिक-विशेषाधिक जीव कहना चाहिये, उसके बाद से विशेषहीन-विशेषहीन कहना और वह भी एक-एक स्थितिस्थान में विशेषहीन-विशेषहीन अनेक सैकड़ों सागरोपम तक कहना चाहिये।

परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियों का त्रिस्थानक रस बांधने पर उस समय जितनी स्थिति बंध सके उतनी ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बांधने वाले जीव अल्प हैं, उसके बाद की दूसरी स्थिति बांधने वाले विशेषाधिक हैं, तीसरी स्थिति बांधने वाले विशेषाधिक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशेषाधिक-विशेषाधिक वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् बहुत से सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितियां जायें। इसके अनन्तर एक-एक स्थितिस्थान विशेषहीन-विशेषहीन कहना चाहिये, वह भी सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का द्विस्थानक रस और परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानक रस बाँधते हुए ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की स्वभूमिका के अनुसार जघन्य स्थिति को बांधने वाले यानि उस समय जितनी स्थिति बंध सके उतनी स्थिति बांधने वाले जीव अल्प हैं, उसके बाद की दूसरी स्थिति बांधने वाले विशेषाधिक हैं, उसके बाद की तीसरी स्थिति बांधने वाले विशेषाधिक हैं। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अनेक सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितियां जायें। उसके बाद की स्थिति बांधने वाले जीव उत्तरोत्तर हीन-हीन हैं। वे भी उत्तरोत्तर स्थितियों में विशेषहीन-विशेषहीन सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थानों पर्यन्त कहना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से विचार किया। अब इसी बात का परंपरोपनिधा द्वारा विचार करते हैं—

पल्लासंखियमूला गंतुं दुगुणा हवंति अद्धा य।
नाणा गुणहाणीणं असंखगुणमेगगुणविवरं ॥१११॥

शब्दार्थ—**पल्लासंखियमूला**—पल्योपम के असंख्याते वर्गमूलों, **गंतुं**—उलांघने के बाद, **दुगुणा**—दुगुने, **हवंति**—होते हैं, **अद्धा**—अर्ध, **य**—और, **नाणा**—अनेक, **गुणहाणीणं**—गुणहानि के स्थान, **असंखगुणं**—असंख्यातगुणे, **एगगुणविवरं**—एक गुण वृद्ध या गुणहीन के अन्तर के स्थान।

गाथार्थ—पल्योपम के असंख्याते वर्गमूलों को उलांघने बाद प्राप्त स्थान में दुगुने-दुगुने जीव सागरोपम शतपृथक्त्व पर्यन्त होते हैं। उसके बाद उतने ही स्थानों को उलांघने पर अर्ध होते है। गुण वृद्धि और गुण हानि के स्थान अल्प हैं और गुण वृद्ध या गुणहीन के अंतर के स्थान असंख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानक और अशुभ प्रकृतियों का द्विस्थानक रस बांधते हुए जो जीव ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बांधते हैं, उनकी अपेक्षा उस जघन्य स्थिति से लेकर पल्योपम के असंख्याते वर्गमूल में जितने समय होते

हैं, उतने स्थितिस्थानों को उलांघने के बाद जो स्थितिस्थान आता है उसके बंधक जीव दुगुने होते हैं, फिर वहां से उतने स्थितिस्थानों को उलांघने के बाद जो स्थितिस्थान आता है, उसके बांधने वाले जीव दुगुने होते हैं। इस प्रकार उतने-उतने स्थितिस्थानों को उलांघने के बाद प्राप्त होने वाले स्थानों को बांधने वाले जीव दुगुने-दुगुने वहां तक कहना चाहिये यावत् सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान जायें। उसके बाद के स्थितिस्थान से लेकर पल्योपम के असंख्याते वर्गमूल प्रमाण स्थितिस्थानों को उलांघने के बाद जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमें द्विगुणवृद्धि के अंतिम स्थान की अपेक्षा आधे जीव होते हैं, वहां से फिर उतने स्थितिस्थानों को उलांघने के बाद जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसके बांधने वाले जीव आधे होते हैं। इस प्रकार वहां तक कहना चाहिये यावत् अनेक सैकड़ों सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान जायें।

सब मिलाकर ये द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि के स्थान पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण हैं।

जिन स्थानों में द्विगुणवृद्ध या द्विगुणहीन जीव होते हैं, वे स्थान उसके बाद के स्थान की अपेक्षा अल्प हैं। क्योंकि वे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण हैं, उनसे द्विगुणवृद्ध या द्विगुणहीन एक अंतर में असंख्यातगुणे स्थितिस्थान हैं। क्योंकि वे पल्योपम के असंख्याते वर्गमूल के समय प्रमाण हैं।

इस प्रकार परावर्तमान शुभ या अशुभ प्रकृतियों का त्रिस्थानक रस बांधने वाले तथा परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का द्विस्थानक और परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानक रस बांधने वाले जीवों के विषय में भी अल्पबहुत्व कहना चाहिये।

यहां शुभ अथवा अशुभ परावर्तमान प्रकृतियों के रसबंध के विषय में अनाकारोपयोग में द्विस्थानक रस का बंध होता है, ऐसा समझना चाहिये। यह स्थिति अनुकृष्टि समझने पर समझ में आ सकती है।

'वह और अन्य' इस प्रकार जहां तक अध्यवसायों की अनुकृष्टि होती है, उसमें से जिस अध्यवसाय द्वारा द्विस्थानक रस बंधता है, वह अनाकारोपयोग द्वारा बंध सकता है।

अब समस्त स्थितिस्थानों का अल्पबहुत्व कहते हैं—

चउठाणाई जवमज्झ हिट्ठउवरिं सुभाण ठिइबंधा।
संखेज्जगुणा ठिइठाणगाई असुभाण मीसा य ॥११२॥

शब्दार्थ—चउठाणाई—चतुःस्थानकादि, **जवमज्झ**—यव मध्य, **हिट्ठ-उवरिं**—नीचे और ऊपर के, **सुभाण**—शुभ प्रकृतियों का, **ठिइबंध**—स्थितिबंध, **संखेज्जगुणा**—संख्यातगुण, **ठिइठाणगाई**—स्थितिस्थान, **असुभाण**—अशुभ प्रकृतियों का, **मीसा**—मिश्र, **य**—और।

गाथार्थ—चतुःस्थानकादि रस योग्य स्थितिस्थानकों के यवमध्य से नीचे और ऊपर के स्थितिस्थान अनुक्रम से संख्यातगुण हैं। शुभ-अशुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध क्रमशः संख्यातगुण और विशेषाधिक हैं और उससे अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानकादि रसयोग्य स्थितिस्थानों के यवमध्य से नीचे-ऊपर के स्थितिस्थान और मिश्र स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं।

विशेषार्थ—गाथा में समस्त स्थितिस्थानों आदि का अल्पबहुत्व बताया है—

जितने और जिन स्थितिस्थानों को बांधता हुआ जीव चतुःस्थानक रसबंध करता है, उनका जो यवमध्य वह चतुःस्थानक रसयवमध्य कहलाता है। इसी प्रकार त्रिस्थानक रसयवमध्य और द्विस्थानक रसयवमध्य के लिये भी समझना चाहिये।

परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों के चतुःस्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थिति-स्थान अल्प हैं, उनसे चतुःस्थानक रसयवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं,

उनसे त्रिस्थानक रसयवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे के एकान्त साकारोपयोग द्वारा बंधने वाले स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे के परन्तु एकान्त साकारोपयोग द्वारा जो स्थितिस्थान बंधते हैं, उनसे ऊपर के साकार और अनाकार इस तरह मिश्र उपयोग द्वारा बंधने वाले स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे भी द्विस्थानक रसयवमध्य से ऊपर के मिश्र स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे भी परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध संख्यातगुण है।

उससे परावर्तमान अशुभप्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध विशेषाधिक है, उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयवमध्य के नीचे के एकान्त साकारोपयोग द्वारा बंधने वाले स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे भी द्विस्थानक रसयवमध्य के नीचे के परन्तु एकान्त साकारोपयोग द्वारा जो बंधते हैं, उनके ऊपर के मिश्र-साकार और अनाकार इस तरह दोनों उपयोग द्वारा बंधने वाले स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे भी उन्हीं परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयवमध्य के ऊपर के मिश्र स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे उपर के एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे भी उन्हीं परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानक रसयवमध्य के नीचे के स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे त्रिस्थानक रसयवमध्य के ऊपर के स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के चतु:स्थानक रसयवमध्य के नीचे के स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं।

उनसे भी चतु:स्थानक रसयवमध्य के ऊपर की डायस्थिति[1]

---

१ जिस स्थितिस्थान से अपवर्तनाकरण द्वारा उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हो उतनी स्थिति डायस्थिति कहलाती है।

संख्यातगुणी है, उससे भी अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति-संख्यातगुणी है, उससे भी परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयवमध्य के ऊपर के जो मिश्र स्थितिस्थान हैं, उनके ऊपर के एकान्त साकारोपयोग योग्य स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं, उनसे भी परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।

उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की बद्धडायस्थिति[1] विशेषाधिक है, उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक है।

इस प्रकार से स्थितिस्थानों का अल्पबहुत्व बतलाने के बाद गाथा का अर्थ किस प्रकार करना चाहिये, इसको स्पष्ट करते हैं—चतुस्थानकादि परावर्तमान शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस वाले प्रत्येक के यवमध्य से नीचे के और ऊपर के स्थितिस्थान अनुक्रम से संख्यातगुण हैं और गाथा के अंत में रहा हुआ च शब्द अनुक्त अर्थ का समुच्चय करने वाला होने से द्विस्थानक रस यवमध्य के नीचे-ऊपर के मिश्र स्थितिस्थान संख्यातगुण कहना चाहिये तथा शुभ-अशुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध अनुक्रम से संख्यातगुण और विशेषाधिक कहना चाहिये। उनसे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस वाले प्रत्येक के स्थितिस्थान के यवमध्य से नीचे के और ऊपर के स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं और द्विस्थानक रस यवमध्य के नीचे, ऊपर के मिश्र स्थितिस्थान भी संख्यातगुण हैं। 'च' शब्द अनुक्त का समुच्चायक

---

१ जिस स्थितिस्थान को बांधकर जीव मंडूकप्लुति न्याय से डाय—फाला छलांग मारकर उत्कृष्ट स्थिति बांधे वहाँ से लेकर वहाँ तक की स्थिति को बद्धडायस्थिति कहते हैं। अंतःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबंध करके पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अनन्तर समय में उत्कृष्ट स्थितिबंध कर सकता है, अतएव अन्तःकोडाकोडी सागरोपम न्यून संपूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण स्थिति बद्धडायस्थिति कहलाती है।

होने से डायस्थिति एवं अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति क्रम से संख्यातगुण है।

उससे परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों के द्विस्थानक रस यवमध्य के ऊपर के एकान्त साकारोपयोग योग्य स्थितिस्थान संख्यातगुण हैं। उनसे परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की बद्धडायस्थिति और परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध अनुक्रम से विशेषाधिक है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये सभी स्थानों का अल्पबहुत्व विस्तार से पूर्व में कहा गया है।

अब इस विषय में जीवों का अल्पबहुत्व कहते हैं—परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों का चतुःस्थानक रस बांधने वाले जीव अल्प हैं, उनसे त्रिस्थानक रस बांधने वाले जीव संख्यातगुण हैं, उनसे भी द्विस्थानक रस बांधने वाले जीव संख्यातगुण हैं, उनसे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों का द्विस्थानक रस बांधने वाले जीव संख्यातगुण हैं, उनसे भी चतुःस्थानक रस बाँधने वाले संख्यातगुण हैं और उनसे भी त्रिस्थानक रस बांधने वाले जीव विशेषाधिक हैं।

इस प्रकार बंधनकरण का विवेचन समाप्त हुआ।

□□

परिशिष्ट (१)

बंधनकरण प्ररूपणा अधिकार की मूलगाथाएँ

नमिऊण सुयहराणं बोच्छं करणाणि बंधणाईणि ।
संकमकरणं बहुसो अइदेसियं उदय संते जं ॥१॥

आवरणदेससव्वक्खयेण दुहेह वीरियं होइ ।
अभिसंधिय अणभिसंधिय अकसाय सलेसि उभयंपि ॥२॥

होइ कसाइवि पढमं इयरमलेसीवि जं सलेसं तु ।
गहण परिणामफंदणरूवं तं जोगओ तिविहं ॥३॥

जोगो विरियं थामोउच्छाहपरक्कमो तहा चेट्ठा ।
सत्ति सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जाया ॥४॥

पन्नाए अविभागं जहन्नविरियस्स वीरियं छिन्नं ।
एक्केक्कस्स पएसस्स असंख लोगप्पएससमं ॥५॥

सव्वप्प वीरिएहिं जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा ।
बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असंखाओ ॥६॥

ताओ फड्डगमेगं अओपरं नत्थि रूववुड्ढीए ।
जाव असंखालोगा पुव्वविहाणेण तो फड्डा ॥७॥

सेढी असंखभागिय फड्डेहिं जहन्नयं हवई ठाणं ।
अंगुल असंखभागुत्तराइं भुओ असंखाइ ॥८॥

सेढि असंखियभागं गंतु गंतु हवंति दुगुणाइं ।
फड्डाइं ठाणेसु पलियासंखंसगुणकारा ॥९॥

वड्ढंति व हायंति व चउहा जीवस्स जोगठाणाइं।
आवलिअसंखभागंतमुहुत्तमसंखगुणहाणी ॥१०॥

जोगट्ठाणठिईओ चउसमयादट्ठ दोण्णि जा तत्तो।
अट्ठगुभय ठिइयाओ जहा परम संख गुणियाणं ॥११॥

सुहुमेयराइयाणं जहन्नउक्कोस पज्जपज्जाणं।
आसज्ज असंखगुणाणि होंति इह जोगठाणाणि ॥१२॥

जोगणुरूवं जीवा परिणामंतीह गिण्हिउं दलियं।
भासाणुप्पाणमणोचियं च अवलंबए दव्वं ॥१३॥

एगपएसाइ अणंतजाओ होऊण होंति उरलस्स।
अज्जोगंतरियाओ उ वग्गणाओ अणंताओ ॥१४॥

ओरालविउव्वाहार तेयभासाणुपाणमणकम्मे।
अह दव्व वग्गणाणं कमो विवज्जासओ खित्ते ॥१५॥

कम्मोवरिं धुवेयर सुन्ना पत्तेय सुन्न बादरगा।
सुन्ना सुहुमे सुन्ना महक्खंधो सगुणनामाओ ॥१६॥

सिद्धाणंतंसेणं अहव्व अभव्वेहणंतगुणिएहिं।
जुत्ता जहन्न जोग्गा ओरलाइणं भवे जेट्ठा ॥१७॥

पंचरस पंच वन्नेहिं परिणया अटठ्फास दो गंधा।
जावाहरग जोग्गा चउफासाविसेसिया उवरिं ॥१८॥

अविभागाईनेहेणं जुत्तया ताव पोग्गला अत्थि।
सव्वजियाणंत गुणेण जाव नेहेण संजुत्ता ॥१९॥

जे एगनेह जुत्ता ते बहवो तेहिं वग्गणा पढमा।
जे दुगनेहाइजुया असंखभागूण ते कमसो ॥२०॥

इय एरिस हाणीए जंति अणंता उ वग्गणा कमसो।
संखंसूणा तत्तो संखगुणूणा तओ कमसो ॥२१॥

तत्तो असंखगुणूणा अणंतगुणऊणियावि तत्तोवि।
गंतुमसंखा लोगा अद्धद्धा पोग्गला भूय ॥२२॥

पढमहाणीए एवं बीयाए संखवग्गणा गंतुं ।
अद्धं उवरित्थाओ हाणीओ होंति जा जीए ॥२३॥

थोवाओ वग्गणाओ पढमहाणीय उवरिमासु कमा ।
होंति अणंतगुणाओ अणंतभागो पएसाणं ॥२४॥

पंचण्ह सरीराणं परमाणूणं मईए अविभागो ।
कप्पियगाणेगंसो गुणाणु भावाणु वा होज्जा ॥२५॥

जे सव्वजहन्नगुणा जोग्गा तणुबंधणस्स परमाणु ।
तेवि उ संखासंखा गुणपलिभागे अइक्कंता ॥२६॥

सव्वजियाणंतगुणेण जे उ नेहेण पोग्गला जुत्ता ।
ते वग्गणा उ पढमा बंधणनामस्स जोग्गाओ ॥२७॥

अविभागुत्तरियाओ सिद्धाणमणंतभाग तुल्लाओ ।
ताओ फड्डगमेगं अणंतविवराइं इय भूय ॥२८॥

जइमं इच्छसि फड्डं तत्तिय संखाए वग्गणा पढमा ।
गुणिया तस्साइल्ला रूवुत्तरियाओ अण्णाओ ॥२९॥

अभवाणंतगुणाइं फड्डाइं अंतरा उ रूवूणा ।
दोण्णंतर वुड्ढिओ परंपरा होंति सव्वाओ ॥३०॥

पढमाउ अणंतेहिं सरीरठाणं तु होई फड्डेहिं ।
तयणंतभागवुड्ढी कंडकमित्ता भवे ठाणा ॥३१॥

एक्कं असंखभागुत्तरेण पुण णंतभागवुड्ढिए ।
कंडकमेत्ता ठाणा असंखभागुत्तारं भूय ॥३२॥

एवं असंखभागुत्तराणि ठाणाणि कंडमेत्ताणि ।
संखेज्जभागवुड्ढं पुण अन्नं उट्ठए ठाणं ॥३३॥

अमुयंतो तह पुव्वुत्तराइं एयंपिनेसु जा कंडं ।
इय एय विहाणेणं छव्विहवुड्ढी उ ठाणेसु ॥३४॥

अस्संखलोग तुल्ला अणंतगुणरसजुया य इय ठाणा ।
कंडंति एत्थ भन्नइ अंगुलभागो असंखेज्जो ॥३५॥

होई पओगो जोगो तटठ्ठाणविवड्ढणाए जो उ रसो ।
परिवड्ढेइ जीवे पओगफड्डं तयं बेंति ॥३६॥

अविभागवग्गफड्डगअंतरठाणाइ एत्थ जह पुव्विं ।
ठाणाइवग्गणाओ अणंतगुणणाए गच्छंति ॥३७॥

तिण्हंपि फड्डगाणं जहन्नउक्कोसगा कमा ठविउं ।
नेयाणंतगुणाओ वग्गणा णेहफड्डाओ ॥३८॥

अणुभागविसेसाओ मूलुत्तरपगइभेयकरणं तु ।
तुल्लस्सावि दलस्सा पगइओ गोणनामाओ ॥३६॥

ठिइबंधु दलस्स ठिई पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबंधो ॥४०॥

मूलुत्तरपगईणं पुव्वं दलभागसंभवो वुत्तो ।
रसभेएणं इत्तो मोहावरणाण निसुणेह ॥४१॥

सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणंतिमो भागो ।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो देसघाईणं ॥४२॥

उक्कोसरसस्सद्धं मिच्छे अद्धं तु इयरघाईणं ।
संजलणनोकसाया सेसं अद्धद्धयं लेंति ॥४३॥

जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासंखलोकपरिमाणा ।
सव्वजीयाणंतगुणा एक्केक्के होंति भावाणू ॥४४॥

एकज्झवसायमज्जियस्स दलियस्स किं रसो तुल्लो ।
नहु होंति णंतभेया साहिज्जंते निसामेह ॥४५॥

सव्वप्परसे गेण्हइ जे बहवे तेहिं वग्गणा पढमा ।
अविभागुत्तरिएहिं अन्नाओ विसेसहीणेहिं ॥४६॥

दव्वेहिं वग्गणाओ सिद्धाणमणंतभाग तुल्लाओ ।
एयं पढमं फड्डं अओ परं नत्थि रूवहिया ॥४७॥

सव्वजियाणंतगुणे पलिभागे लंघिउं पुणो अन्ना ।
एवं भवंति फड्डा सिद्धाणमणंतभागसमा ॥४८॥

एयं पढमं ठाणं एवमसंखेज्ज लोगठाणाणं ।
समवग्गणाणि फड्डाणि तेसि तुल्लाणि विवराणि ॥४९॥

ठाणाणं परिवुड्ढी छट्ठाणकमेण तं गयं पुव्विं ।
भागो गुणो य कीरइ जहोत्तरं एत्थ ठाणाणं ॥५०॥

छट्ठाणगअवसाणे अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं ।
एवमसंखालोगा छट्ठाणाणं मुणेयव्वा ॥५१॥

सव्वासिं वुड्ढीणं कंडगमेत्ता अणंतरा वुड्ढी ।
एगंतराउ वुड्ढी वग्गो कंडस्स कंडं च ॥५२॥

कंडं कंडस्स घणो वग्गो दुगुणो दुगंतराए उ ।
कंडस्स वग्गवग्गो घण वग्गा तिगुणिया कंडं ॥५३॥

अडकंड वग्गवग्गा वग्गा चत्तारि छग्घणा कंडं ।
चउ अंतर वुड्ढीए हेट्ठट्ठाण परूवणया ॥५४॥

परिणामपच्चएणं एसा नेहस्स छव्विहा वुड्ढी ।
हाणी व कुणंति जिया आवलिभागं असंखज्जं ॥५५॥

अंतमुहुत्तं चरिमा उ दोवि समयं तु पुण जहन्नेणं ।
जवमज्झविहाणेणं एत्थ विगप्पा बहुठिइया ॥५६॥

सुहुमगणिं पविसंता चिट्ठंता तेसिं कायठिइकालो ।
कमसो असंखगुणिया तत्तो अणुभागठाणाइं ॥५७॥

कलिबारतेयकडजुम्मसन्निया होंति रासिणो कमसो ।
एगाइ सेसगा चउहियंमि कडजुम्म इह सव्वे ॥५८॥

सव्वत्थोवा ठाणा अणंतगुणणाए जे उ गच्छंति ।
तत्तो असंखगुणिया णंतरवुड्ढीए जहा जेट्ठा ॥५९॥

होंति परंपरवुड्ढीए थोवगाणंतभाग वुड्ढा जे ।
अस्संखसंखगुणिया एक्कं दो दो असंखगुणा ॥६०॥

एगट्ठाणपमाणं अंतरठाणा निरंतरा ठाणा ।
कालो वुड्ढी जवमज्झ फासणा अप्पबहु दारा ॥६१॥

एक्केक्कंमि असंखा तसेयराणंतया सपाउग्गे ।
एगाइ जाव आवलि असंखभागो तसा ठाणे ॥६२॥

तसजुत्तठाणविवरेसु सुन्नया होंति एक्कमाईया ।
जाव असंखा लोगा निरन्तरा थावरा ठाणा ॥६३॥

दोआइ जाव आवलिअसंखभागो निरंतर तसेहिं ।
नाणाजीएहिं ठाणं असुन्नयं आवलि असंखं ॥६४॥

जवमज्झंमि बह्वो विसेसहीणाउ उभयओ कमसो ।
गंतुमसंखा लोगा अद्धद्धा उभयओ जीवा ॥६५॥

आवलिअसंखभागं तसेसु हाणीण होइ परिमाणं ।
हाणि दुगंतरठाणा थावरहाणी असंखगुणा ॥६६॥

जवमज्झे ठाणाइं असंखभागो उ सेसठाणाणं ।
हेट्ठंमि होंति थोवा उवरिम्मि असंखगुणियाणि ॥६७॥

दुगचउरट्ठतिसमइग सेसा य असंखगुणणया कमसो ।
काले ईए पुट्ठा जिएण ठाणा भमंतेणं ॥६८॥

तत्तो विसेसअहियं जवमज्झा उवरिमाइं ठाणाइं ।
तत्तो कंडगहेट्ठा तत्तोवि हु सव्वठाणाइं ॥६९॥

फासण कालप्पबहू जह तह जीवाण भणसु ठाणेसु ।
अणुभागबंधठाणा अज्झवसाया व एगट्ठा ॥७०॥

ठिइठाणे ठिइठाणे कसायउदया असंखलोगसमा ।
एक्केक्कसायउदये एवं अणुभागठाणाइं ॥७१॥

थोवाणुभागठाणा जहन्नठिइपढमबंधहेउम्मि ।
तत्तो विसेसअहिया जा चरमाए चरमहेउ ॥७२॥

गंतुमसंखालोगा पढमाहितो भवंति दुगुणाणि ।
आवलि असंखभागो दुगुणठाणाण संवग्गो ॥७३॥

असुभपगईणमेवं इयराणुक्कोसगम्मि ठिइबंधे ।
सव्वुक्कोसगहेऊ उ होइ एवं चिय असेसं ॥७४॥

थोवाणुभागठाणा जहन्नठिइबंध असुभपगईणं ।
समयवुड्ढीए किंचाहियाइं सुहियाण विवरीयं ।।७५।।

पलियासंखियमेत्ता ठिइठाणा गंतु गंतु दुगुणाइं ।
आवलिअसंखमेत्ता गुणा गुणंतरमसंखगुणं ।।७६।।

सव्वजहन्नठिईए सव्वाण वि आउगाण थोवाणि ।
ठाणाणि उत्तरासु असंखगुणणाए सेढीए ।।७७।।

गंठीदेसे सन्नी अभव्वजीवस्स जो ठिईबंधो ।
ठिइवुड्ढीए तस्स उ बंधा अणुकड्ढिओ तत्तो ।।७८।।

वग्गे-वग्गे अणुकड्ढी तिव्वमंदत्तणाइं तुल्लाइं ।
उवघायघाइपगडी कुवन्ननवगं असुभवग्गो ।।७९।।

परघायबंधणतणु अंग सुवन्नाइ तित्थनिम्माणं ।
अगुरुलघूसासतिगं संघाय छयाल सुभवग्गो ।।८०।।

सायं थिराइ उच्चं सुरमणु दो-दो पणिंदि चउरंसं ।
रिसह पसत्थविहगई सोलस परियत्तसुभवग्गो ।।८१।।

अस्सायथावरदसगनरयदुगं विहगगई य अपसत्था ।
पंचिंदिरिसहचउरंसगेयरा असुभघोलणिया ।।८२।।

मोत्तुमसंखंभागं जहन्न ठिइठाणगाण सेसाणि ।
गच्छंति उवरिमाए तदेकदेसेण अन्नाणि ।।८३।।

एवं उवरि हुत्ता गंतुणं कंडमेत्त ठिइबंधा ।
पढमठिइठाणाणं अणुकड्ढी जाइ परिणिट्ठं ।।८४।।

तदुवरिमआइयासु कमसो बीयाईयाण निटठ्ाइ ।
ठिइठाणाणणुकड्ढी आउक्कस्सं ठिई जाव ।।८५।।

उवघायाईणेवं एसा परघायमाइसु विसेसो ।
उक्कोसठिइहिंतो हेट्ठमुहं कीरइ असेसं ।।८६।।

सप्पडिवक्खाणं पुण असायसायाइयाण पगईणं ।
ठावेसु ठिइठाणा अंतोकोडाइ नियनियगा ।।८७।।

जा पडिवक्खक्कंता ठिईओ ताणं कमो इमो होइ।
ताणन्नाणिय ठाणा सुद्धठिईणं तु पुव्वकमो ॥८८॥

मोत्तूण नीयमियरासुभाणं जो जो जहन्नठिइबंधो।
नियपडिवक्खसुभाणं ठावेयव्वो जहन्नयरो ॥८९॥

पडिवक्खजहन्नयरो तिरिदुगनीयाण सत्तममहीए।
सम्मत्तादीए तओ अणुकड्ढी उभयवग्गेसु ॥९०॥

अट्ठारस कोडीओ परघायकमेण तसचउक्केवि।
कंडं निव्वत्तणकंडकं च पल्लस्ससंखंसो ॥९१॥

जा निव्वत्तणकंडं जहन्नठिइपढमठाणगाहिंतो।
गच्छंति उवरिहुत्तं अणंतगुणणाए सेढीए ॥९२॥

तत्तो पढमठिईए उक्कोसं ठाणगं अणंतगुणं।
तत्तो कंडग-उवरिं आ-उक्कस्सं नए एवं ॥९३॥

उक्कोसाणं कंडं अणंतगुणणाए तन्नए पच्छा।
उवघायमाइयाणं इयराणुक्कोसगाहिंतो ॥९४॥

अस्सायजहन्नठिईठाणेहिं तुल्लयाइं सव्वाणं।
आपडिवक्खक्कंतग ठिईणठाणाइं हीणाइं ॥९५॥

तत्तो अणंतगुणणाए जंति कंडस्स संखियाभागा।
तत्तो अणंतगुणियं जहन्नठिई उक्कस्सं ठाणं ॥९६॥

एवं उक्कस्साणं अणंतगुणणाए कंडकं वयइ।
एक्कं जहन्नठाणं जाइ परक्कंतठाणाणं ॥९७॥

उवरिं उवघायसमं सायस्सवि नवरि उक्कसठिइओ।
अंतेसुवघायसमं मज्झे नीयस्ससायसमं ॥९८॥

संजय बादरसुहुमग पज्जअपज्जाण हीणमुक्कोसो।
एवं विगलासन्निसु संजय उक्कोसगो बंधो ॥९९॥

देस दुग विरय चउरो सन्निपञ्चिन्दियस्स चउरो य।
संखेज्जगुणा कमसो सञ्जय उक्कोजगाहिंतो ॥१००॥

थोवा जहन्नबाहा उक्कोसाबाहठाणकंडाणि।
उक्कोसिया अबाहा नाणापएसंतरा तत्तो ॥१०१॥

एगं पएसविवरं अबाहाकंडगस्स ठाणाणि।
हीणठिइ ठिइट्ठाणा उक्कोसट्ठिइ तओ अहिया ॥१०२॥

आउसु जहन्नबाहा जहन्नबंधो अबाहठाणाणि।
उक्कोसबाह नाणंतराणि एगंतरं तत्तो ॥१०३॥

ठिइबंधट्ठाणाइ उक्कोसठिई तओ वि अब्भहिया।
सन्निसु अप्पाबहुयं दसटठ्भेयं इमं भणियं ॥१०४॥

ठिइठाणे ठिइठाणे अज्झवसाया असंखलोगसमा।
कमसो विसेसअहिया सत्तण्हाउस्ससंखगुणा ॥१०५॥

पल्लासंखसमाओ गंतूण ठिईओ होंति ते दुगुणा।
सत्तण्हज्झवसाया गुणगारा ते असंखेज्जा ॥१०६॥

ठिइदीहाए कमसो असंखगुणणाए होंति पगईणं।
अज्झवसाया आउगनामट्ठमदुविहमोहाणं ॥१०७॥

सव्वजहन्नस्स रसादणंतगुणिओ य तस्स उक्कोसो।
ठिइबंधे ठिइबंधे अज्झवसाओ जहाकमसो ॥१०८॥

धुवपगई बंधंता चउठाणाई सुभाण इयराणं।
दो ठाणगाइ तिविहं सट्ठाणजहन्नगाईसु ॥१०९॥

चउदुठाणाइ सुभासुभाण बंधे जहन्नधुवठिइसु।
थोवा विसेसअहिया पुहुत्तपरओ विसेसूणा ॥११०॥

पल्लासंखियमूला गंतुं दुगुणा हवंति अद्धा य।
नाणा गुणहाणीणं असंखगुणमेगगुणविवरं ॥१११॥

चउठाणाई जवमज्झ हिट्ठउवरिं सुभाण ठिइबंधा।
संखेज्जगुणा ठिइठाणगाई असुभाण मीसा य ॥११२॥

बंधनकरण : गाथा-अकाराद्यनुक्रम

अट्ठारस कोडीओ	९१/१९१
अडकंड वग्गवग्गा	५४/१२८
अणुभाग विसेसाओ	३९/९७
अभवाणंत गुणाइं	३०/८२
अमुयंतो तह पुव्वत्तराइं	३४/८५
अविभागुत्तरियायो	२८/७७
अविभागवग्ग फड्डग	३७/९५
अविभागाईनेहेणं	१९/६३
अस्साय जहन्नठिई	९५/१९८
अस्साय थावर दसग	८२/१७५
असुभ पगईणमेवं	७४/१६५
अस्संख लोगतुल्ला	३५/९०
अंतमुहुत्तं चरिमा	५६/१३५
आउसु जहन्नबाहा	१०३/२१८
आवरणदेस सच्चक्खमेण	२/६
आवलि असंखभागं	६६/१५५
इय एरिस हाणीए	२१/६५
उक्कोस रसस्सद्धं	४३/१११
उक्कोसाणं कंडं	९४/१९४
उवघायाईणेवं	८६/१७९
उवरिं उवघायसमं	९८/१९८
एकज्झवसाय समज्जियस्स	४५/११८
एक्केक्कंमि असंखा	६२/१४९
एक्कं असंखभागुत्तरेण	३२/८५
एगट्ठाण पमाणं	६१/१४९
एगपएसाइअणंत	१४/३८
एगं पएसविवरं	१०२/२१३
एयं पढमं ठाणं	४६/१२२
एवं असंखभागुत्तराणि	३३/८५
एवं उक्कस्साणं	९७/१९७
एवं उवरि हुत्ता	८४/१७६
ओदालविउव्वाहार	१५/३८
कम्मोवरिं धुवेयर	१६/५०
कलि बार तेयकडजुम्म	५८/१४१
कंडं कंडस्स धणो	५३/१२८
गंठीदेसे सन्नी	७८/१७१
गंतुमसंखालोगा	७३/१६४
चउठाणाई जव मज्झ	११२/२३९
चउदुठाणाइ सुभा	११०/२३५
छट्ठाणग अवसाणे	५१/१२७
जाइमं इच्छसि फड्डं	२९/७८
जा निव्वत्तणकंडं	९२/१९४
जा पडिवक्खक्कंता	८८/१८१
जवमज्झे ठाणाइं	६७/१५६
जवमज्झंमि बहवो	६५/१५३
जीवस्सज्झवसाया	४४/११४
जो एगनेह जुत्ता	२०/६३
जे सव्वजहन्नगुणा	२६/७६
जोगट्ठाण ठिईओ	११/२९
जोगणुरूवं जीवा	१३/३६
जोगोविरियं थामो	४/११
ठाणाणं परिवुड्ढी	५०/१२२

ठिइठाणे ठिइठाणे ७१/१६१
ठिइठाणे टिइठाणें १०५/२२५
ठिइदीहाए कमसो १०७/२२८
ठिइबंधट्ठाणाइ १०४/२१८
ठिइबन्धु दलस्सठिई ४०/९९
तत्तो असंखगुणूणा २२/६५
तत्तो अणंतगुणणाए ९६/१९८
तत्तो पढमठिईए ९३/१९४
तत्तो विसेस अहियं ६९/१५७
तदुवरिमाआइयासु ८५/१७६
तसजुत्तठाणविवरेसु ६३/१५०
ताओ फड्डगमेगं ७/१७
तिण्हंपि फड्डगाणं ३८/९६
थोवाओ वग्गणाओ २४/७३
थोवा जहन्नबाहा १०१/२१३
थोवाणुभागठाणा ७२/१६३
थोवाणुभागठाणा ७५/१६७
दुगचउरट्ठतिसमइग ६८/१५७
दव्वेहिं वग्गणाओ ४७/१२०
देस दुग विरय चउरो १००/२००
दोआई जाव आवलि ६४/१५१
धुवपगई बंधंता १०९/२३२
नमिऊण सुयहराणं १/४
पडिवक्ख जहन्नयरो ९०/१८८
पढम हाणीए एवं २३/६९
पढमाउ अणंतेहिं ३१/८४
पन्नाए अविभागं ५/१३
परघाय बंधणतणु ८०/१७३
परिणाम पच्चएणं ५५/१३५
पल्लासंखियमूला १११/२३७
पल्लासंखसमाओ १०६/२२५
पलियासंखियमेत्ता ७६/१६८
पंचरस पंचवन्नेहिं १८/६०
पंचण्ह सरीराणं २५/७६
फासण कालप्पबहू ७०/१५९
मूलुत्तर पगईणं ४१/१०१
मोत्तुमसंखंभागं ८३/१७५
मोत्तूण नीयमियरा ८९/१८१
वग्गे-वग्गे अणुकड्ढी ७९/१७२
वड्ढंति व हायंति १०/२६
सप्पडिवक्खाणं पुण ८७/१८९
सव्वजहन्नठिईए ७७/१७०
सव्वजहन्नस्सरसा १०८/२३१
सव्वजियाणंतगुणे ४८/१२०
सव्वजियाणंतगुणेण २७/७७
सव्व त्थोवा ठाणा ५९/१४३
सव्वप्परसे गेण्हइ ४६/११८
सव्वप्प वीरिएहिं ६/१४
सव्वासिं वुड्ढीणं ५२/१२८
सव्वुक्कोसरसो जो ४२/११०
सायं थिराइ उच्चं ८१/१७४
सिद्धाणंतंसेणं १७/५८
सुहुमगणि पविसंता ५७/१४०
सुहुमेयरायाणं १२/३२
सेढिअसंखियभागं ९/२४
सेढी असंखभागिय ८/१९
संजय बादर सुहुमग ९९/२१०
होइ कसाइवि पढमं ३/७
होइ पओगो जोगो ३६/९२
होंतिपरंपर वुड्ढीए ६०/१४४

परिशिष्ट ३

वीर्य शक्ति का स्पष्टीकरण एवं भेद-प्रभेद-दर्शक प्रारूप

वीर्य शक्ति भी ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों की तरह जीव का शाश्वत अविनाभावी गुण है। जीव कैसी भी अविकसित दशा में हो लेकिन उसमें यथायोग्य वीर्य शक्ति अवश्य ही पायी जाती है।

जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। मुक्त जीवों में वीर्य शक्ति समान होती है। किसी प्रकार की हीनाधिकता नहीं होती है। जबकि संसारी जीव विविध प्रकार के होने से उनकी वीर्य शक्ति में भिन्नता होती है। संसारी जीवों की वीर्य शक्ति का ही अपर नाम योग है। इसका कारण यह है कि संसारी जीव की वीर्य शक्ति की अभिव्यक्ति मन, वचन और काय के योग—साधन, माध्यम से होती है। इसीलिये इसे योग कहते हैं।

अथवा जीव दो प्रकार के हैं—अलेश्य और सलेश्य। अलेश्य (लेश्यारहित) जीवों की वीर्य शक्ति समस्त कर्मों के क्षय हो जाने से क्षायिक कहलाती है। निःशेष रूप से कर्मक्षय होने के कारण वह वीर्य शक्ति कर्मबंध का कारण नहीं बनती है। इसलिये अलेश्य जीवों का कोई भेद नहीं है और न उनकी वीर्य शक्ति में तरतमताजनित अन्तर है। किन्तु सलेश्य (लेश्या सहित) जीवों की वीर्य शक्ति कर्मबंध का कारण होने से यहाँ उनकी वीर्य शक्ति का विस्तार से विचार करते हैं।

सलेश्य जीवों में कार्यभेद एवं स्वामिभेद की अपेक्षा वीर्य के दो प्रकार हो जाते हैं। कार्यभेद की अपेक्षा वाला वीर्यप्रकार एक जीव को एक समय में अनेक प्रकार का होता है तथा स्वामिभेद की अपेक्षा वाला प्रकार एक जीव को एक समय में एक प्रकार का और अनेक जीवों की अपेक्षा अनेक प्रकार का है।

सलेश्य जीवों के दो भेद हैं—छद्मस्थ और केवली। अतः वीर्य उत्पत्ति के भी दो रूप हैं—वीर्यान्तरायकर्म के देशक्षयरूप और सर्वक्षयरूप। देशक्षय से प्रगट होने वाले वीर्य को क्षायोपशमिक और सर्वक्षयजन्य वीर्य को क्षायिक कहते हैं। देशक्षय से छद्मस्थों में और सर्वक्षय से केवलियों में वीर्य प्रगट होता है। जिससे सलेश्य वीर्य के दो भेद हैं—छाद्मस्थिक सलेश्य वीर्य और कैवलिक सलेश्य वीर्य।

केवली जीव अकषायी होते हैं। अतएव उनका अवान्तर कोई भेद नहीं होता है। उनमें कषायरहित मन-वचन-काय परिस्पन्दन रूप वीर्य शक्ति होती है।

छाद्मस्थिक जीव दो प्रकार के हैं—अकषायी सलेश्य और सकषायी सलेश्य। कषायों का दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में विच्छेद हो जाने से छाद्मस्थिक अकषायी सलेश्य वीर्य ग्यारहवें और बारहवें (उपशांतमोह, क्षीणमोह) गुणस्थानवर्ती जीवों में और छाद्मस्थिक सकषायी सलेश्य वीर्य दसवें गुणस्थान तक के जीवों में पाया जाता है।

सलेश्य जीवों की प्रवृत्ति दो रूपों में होती है—एक तो दौड़ना, चलना, खाना आदि निश्चित कार्य करने रूप प्रयत्नपूर्वक और दूसरी बिना प्रयत्न के स्वयमेव होती रहती है। प्रयत्नपूर्वक होने वाली प्रवृत्ति को अभिसंधिज और बिना प्रयत्न के स्वयमेव सहज रूप में होने वाली प्रवृत्ति को अनभिसंधिज कहते हैं।

वीर्य शक्ति के उक्त स्पष्टीकरण एवं भेदों को सरलता से इस प्रकार जाना जा सकता है—

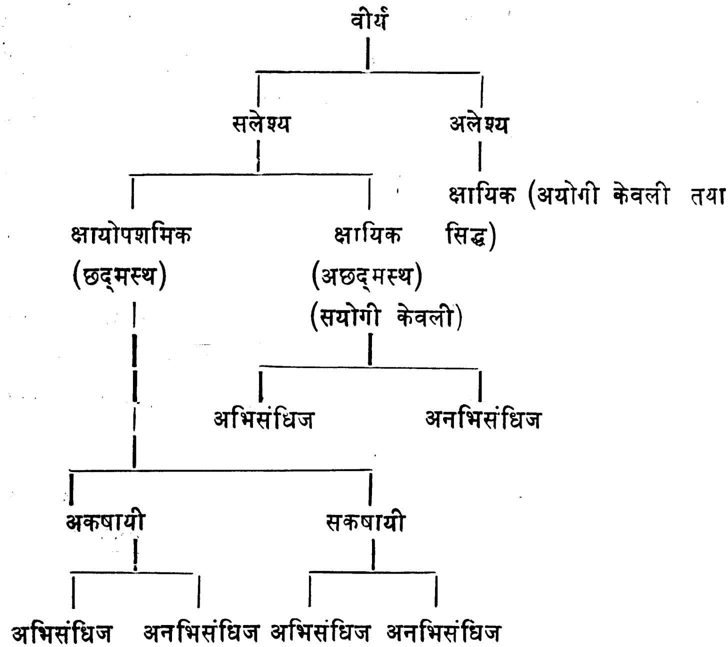

चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में और सिद्धों का अकारण वीर्य होता है।

□□

योग विचारणा के प्रमुख अधिकारों का स्पष्टीकरण

सलेश्य जीव का वीर्य—योग कर्मबंध का कारण है। ग्रन्थकार आचार्य ने इसकी प्ररूपणा निम्नलिखित दस अधिकारों द्वारा की है—

१ अविभाग प्ररूपणा, २ वर्गणा प्ररूपणा ३ स्पर्धक प्ररूपणा, ४ अन्तर प्ररूपणा, ५ स्थान प्ररूपणा, ६ अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा, ७ परंपरोपनिधा प्ररूपणा ८ वृद्धि (हानि) प्ररूपणा, ९ काल प्ररूपणा, १० जीवाल्पबहुत्व प्ररूपणा।

इनमें से स्थान प्ररूपणा, काल प्ररूपणा और जीवाल्पबहुत्व प्ररूपणा को स्पष्ट करते हैं। शेष प्ररूपणाएँ सुगम होने से उनको यथाप्रसंग ग्रन्थ से जान लेना चाहिये।

स्थान प्ररूपणा

श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धकों का एक योगस्थान होता है और ऐसे ये सभी योगस्थान भी श्रेणी के असंख्यातवें भागगत प्रदेश प्रमाण होते हैं।

योगस्थान के तीन भेद हैं—उपपाद योगस्थान, एकान्तानुवृद्धि योगस्थान, परिणाम योगस्थान। भव धारण करने के पहले समय में रहने वाले

जीव के उपपाद योगस्थान होता है। अर्थात् भव के प्रथम समय में संभव योग, उपपाद योगस्थान है। भव धारण करने के दूसरे समय से लेकर एक समय कम शरीरपर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त तक एकान्तानुवृद्धि योगस्थान होता है, जो समय-समय असंख्यातगुण अविभाग प्रतिच्छेदों की वृद्धिरूप है और शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर भवान्त समय तक होने वाले योग को परिणाम योगस्थान कहते हैं। ये शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर आयु के अन्त समय तक संपूर्ण समयों में उत्कृष्ट भी और जघन्य भी संभव है।

ऐसे लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भी जिसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, अपनी आयु के अन्त के त्रिभाग के प्रथम समय से लेकर अन्त समय तक स्थिति के सब भेदों में उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकार के परिणाम योगस्थान जानना चाहिये।

असत्कल्पना से योगस्थानों का प्रारूप आगे दिया जा रहा है।

समय प्ररूपणा

पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान पर्यन्त सर्व योगस्थान से संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त सर्व योगस्थानों को स्थापित किया जाये तो कितने ही (श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण) योगस्थान उत्कृष्ट से चार समय की स्थिति वाले होते हैं। उससे आगे उतने ही योगस्थान उत्कृष्ट से पांच समय की, उससे आगे उतने योगस्थान छह समय की, उससे आगे उसने योगस्थान सात समय की, उससे आगे उतने योगस्थान आठ समय की स्थिति वाले होते हैं। उससें आगे उतने-उतने योगस्थान प्रतिलोम क्रम से क्रमशः सात, छह, पांच, चार, तीन, दो, समय की स्थिति वाले होते हैं।

सभी योगस्थानों की जघन्य स्थिति एक समय की होती है। इस प्रकार जघन्य से लेकर सर्वोत्कृष्ट योगस्थान तक के सब योगस्थानों के बारह विभाग इस प्रकार हो जाते हैं—

क्रम	विभाग नाम	योगस्थान की संख्या	समय स्थिति	
			उ०	ज०
१	एक सामयिक	श्रेणी के असंख्यात भाग प्रमाण	१	१
२	चतुः ,,	,,	४	१
३	पंच ,,	,,	५	१
४	षट् ,,	,,	६	१
५	सप्त ,,	,,	७	१
६	अष्ट ,,	,,	८	१
७	सप्त ,,	,,	७	१
८	षट् ,,	,,	६	१
९	पंच ,,	,,	५	१
१०	चतुः ,,	,,	४	१
११	त्रि ,,	,,	३	१
१२	द्वि ,,	,,	२	१

समय की अपेक्षा ये बारह विभागात्मक योगस्थान यवाकृतिरूप होते हैं।

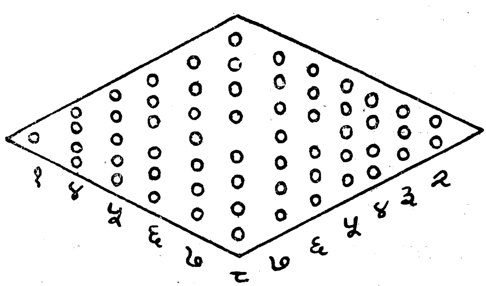

इन बारह विभागात्मक योगस्थानों के यवाकृतिरूप होने का कारण

यह है कि जघन्य योग के अनन्तर जैसे-जैसे वीर्य वृद्धि होती है, वैसे-वैसे चार, पांच, छह, सात और आठ समय की तथा उसके बाद अवरोह क्रम से सात, छह, पांच, चार, तीन, दो समय तक की स्थिति होती है। इस कारण जैसे यव (जौ) का मध्य भाग मोटा होता है, वैसे ही योगरूप इस यव का मध्य विभाग आठ समय जितनी अधिक स्थिति वाला है और यव की दोनों बाजुएँ जैसे हीन-हीन होती हैं वैसे ही योगरूप यव के अष्ट समयात्मक मध्य विभाग से सप्त सामयिक आदि उभयपार्श्ववर्ती विभाग हीन-हीन स्थिति वाले हैं।

इस प्रकार से समयाधिक्य की अपेक्षा योगस्थानों को यवरूप स्थिति में जानना चाहिये।

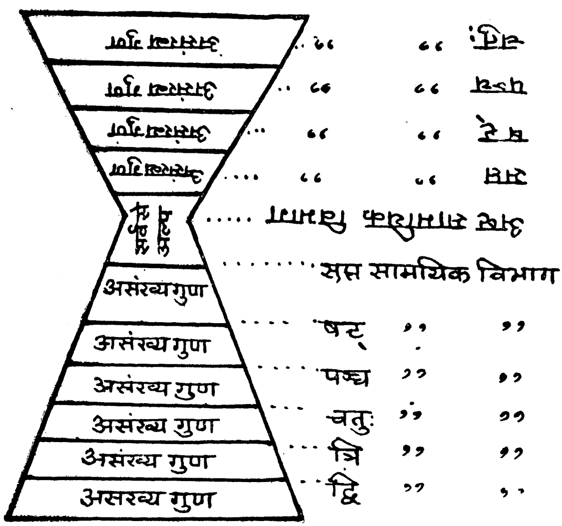

लेकिन निरन्तर प्रवर्तने की अपेक्षा इन योगस्थानों की हीनाधिकता डमरूक के आकार जैसी होती है। अर्थात् जैसे डमरूक का मध्य भाग सकड़ा होता है, उसी प्रकार इस योगरूप डमरूक के मध्य भाग रूप अष्ट सामयिक योगस्थान अल्प (श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण) हैं और डमरूक के पूर्वोत्तर दोनों भाग क्रमशः चौड़े होते जाते हैं, उसी प्रकार इस

योगस्थान रूप डमरूक के पूर्वोत्तर पार्श्व रूप सप्तसामयिक आदि वाले स्थान क्रमशः असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे अधिक-अधिक हैं। यह क्रम उभय पार्श्ववर्ती चतुःसामयिक योगस्थान तक समझना चाहिये और चतुःसामयिक से उत्तर पार्श्ववर्ती त्रिसामयिक और द्विसामयिक अनुक्रम से असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे हैं। जिसका दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

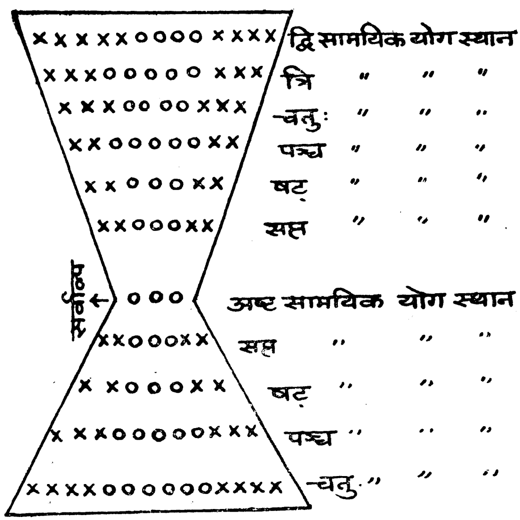

स्थान की अपेक्षा योगस्थानों का जो आकार डमरूक जैसा बताया गया है। उसका दर्शक चित्र इस प्रकार है और इस डमरूक के आकार में ००० बिन्दु रूप योगस्थान है तथा बिन्दुओं के दोनों बाजुओं में दिये गये × × चौकड़ी रूप संकेत असंख्यातगुणे के प्रतीक हैं।

जीव के योगस्थान की जो वृद्धि, हानि होती है, वह चार प्रकार की है—

१ असंख्यभागाधिक वृद्धि, २ संख्यभागाधिक वृद्धि, ३ संख्यगुणाधिक वृद्धि, ४ असंख्यगुणाधिक वृद्धि।

१ असंख्यभाग हानि, २ संख्यभाग हानि, ३ संख्यगुण हानि, ४ असंख्यगुण हानि।

इन वृद्धि और हानि में से असंख्यगुण वृद्धि और असंख्यगुण हानि इन दोनों का उत्कृष्ट काल अन्तमुहूर्त है और शेष तीन वृद्धियों और हानियों का उत्कृष्ट काल आवलिका का असंख्यातवां भाग प्रमाण है।

यह स्पष्टीकरण वृद्धि प्ररूपणा की अपेक्षा जानना चाहिये।

जीवाल्पबहुत्व प्ररूपणा

योगस्थानों में विद्यमान जीवों के जघन्य, उत्कृष्ट योग के अल्पबहुत्व का रूप इस प्रकार जानना चाहिये—

क्रम		जीव भेद	योग प्रकार	प्रमाण	
१	लब्धि अप.	सूक्ष्म निगोद एके.	जघन्ययोग	सर्वस्तोक	उससे
२	,,	बादर एकेन्द्रिय	,,	असंख्यगुण	,,
३	,,	द्वीन्द्रिय	,,	,,	,,
४	,,	त्रीन्द्रिय	,,	,,	,,
५	,,	चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,
६	,,	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,
७	,,	संज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,
८	,,	सूक्ष्म (निगोद) एके.	उत्कृष्ट योग	,,	,,
९	,,	बादर एकेन्द्रिय	,,	,,	,,
१०	पर्याप्त	सूक्ष्म एकेन्द्रिय	जघन्य योग	,,	,,
११	,,	बादर एकेन्द्रिय	,,	,,	,,
१२	,,	सूक्ष्म (निगोद) एके.	उत्कृष्ट योग	,,	,,
१३	,,	बादर एकेन्द्रिय	,,	,,	,,
१४	लब्धि अप.	द्वीन्द्रिय	,,	,,	,,
१५	,,	त्रीन्द्रिय	,,	,,	,,
१६	,,	चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,
१७	,,	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,
१८	,,	संज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,
१९	पर्याप्त	द्वीन्द्रिय	जघन्ययोग	,,	,,

क्रम		जीव भेद	योग प्रकार	प्रमाण	
२०	पर्याप्त	त्रीन्द्रिय	जघन्य	असंख्यगुण	उससे
२१	,,	चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,
२२	,,	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,
२३	,,	संज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,
२४	,,	द्वीन्द्रिय	उत्कृष्टयोग	,,	,,
२५	,,	त्रीन्द्रिय	,,	,,	,,
२६	,,	चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,
२७	,,	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,
२८	,,	अनुत्तर देव	,,	,,	,,
२९	,,	ग्रैवेयक देव	,,	,,	,,
३०	,,	भोगभूमिज ति. म.	,,	,,	,,
३१	,,	आहारक शरीरधारी	,,	,,	,,
३२	,,	शेष देव, नारक, ति० मनु०	,,	,,	,,

पूर्वोत्तर की अपेक्षा सर्वत्र असंख्येयगुणाकार सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असंख्येय भागगत प्रदेश राशि प्रमाण समझना चाहिये ।

□□

परिशिष्ट ५

असत्कल्पना से योगस्थानों का स्पष्टीकरण एवं प्रारूप

प्रत्येक जीव के आत्मप्रदेश असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। कर्मजन्य शरीर से जीव अपने देह प्रमाण दिखता है, लेकिन संहरण-विसर्पण (संकोच-विस्तार) गुण की अपेक्षा देह प्रमाण होने पर भी लोकाकाश के बराबर हो सकता है। जैसे कि दीप को बड़े कमरे में रखें तो उस सारे कमरे में उसका प्रकाश व्याप्त हो जाता है और घड़े में रखें तो उतने क्षेत्र प्रमाण में उसका प्रकाश व्याप्त रहता है। यही स्थिति जीव के असंख्यात प्रदेशों को लोकाकाश में व्याप्त होने और देह प्रमाण होने की समझ लेना चाहिये। प्रस्तुत में असत्कल्पना से उन आत्म-प्रदेशों की संख्या १२००० प्रदेश मान लें।

प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर जघन्य से असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याविभाग होते हैं और उत्कृष्ट से भी। जिनको कल्पना से जघन्य एक करोड़ और उत्कृष्ट अनेक करोड़ मान लिया जाये।

जघन्य वीर्याविभाग वाले आत्मप्रदेश वर्गीकृत लोक के असंख्यात भागवर्ती असंख्यात प्रतरगत प्रदेश राशि प्रमाण होते हैं। कल्पना से उन जघन्य वीर्याविभाग वाले आत्मप्रदेशों का घनीकृत लोक के असंख्येय भाग-वर्ती असंख्येय प्रतरगत प्रदेश राशि का प्रमाण ७०० मान लें।

श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। यहाँ असत्कल्पना से चार वर्गणाओं का एक स्पर्धक मानना चाहिये।

श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धकों का एक योगस्थान होता है, जो सबसे जघन्य है। परन्तु कल्पना से प्रथम योगस्थान ६३ स्पर्धकों का समझ लेना चाहिये। अधिक-अधिक वीर्य वाले योगस्थानों में स्पर्धक अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बढ़ते-बढ़ते हुए जानना चाहिये। क्योंकि अधिक-अधिक वीर्य वाले आत्म-प्रदेश हीन-हीन होते जाते हैं, किन्तु उनमें वर्गणाएँ और स्पर्धक अधिक-अधिक होते हैं। यहाँ कल्पना से जो योग-स्थान बताये जा रहे हैं, उनमें एक-एक स्पर्धक की वृद्धि अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण समझना चाहिये।

प्रथम योगस्थान के अन्तिम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा में जितने वीर्या-विभाग हैं उससे द्वितीय योगस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में असंख्यातगुणे हैं। यहाँ कल्पना से जिन्हें लगभग तिगुने समझ लेना चाहिये।

उक्त स्पष्टीकरणों से युक्त योगस्थानों का प्रारूप इस प्रकार जानना चाहिये।

प्रथम योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१ करोड़ १	वीर्याविभाग वाले	७००	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
१ करोड़ २	,,	६७०	,,	द्वितीय वर्गणा
१ करोड़ ३	,,	६३०	,,	तृतीय वर्गणा
१ करोड़ ४	,,	६००	,,	चतुर्थ वर्गणा
		२६००		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक में २६०० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय स्पर्धक

२ करोड़ १	वीर्याविभाग वाले	५८५	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२ करोड़ २	,,	५७५	,,	द्वितीय वर्गणा
२ करोड़ ३	,,	५६५	,,	तृतीय वर्गणा
२ करोड़ ४	,,	५५५	,,	चतुर्थ वर्गणा
		२२८०		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक में २२८० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

तृतीय स्पर्धक

३ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
३ करोड़	२	,,	५१०	,,	द्वितीय वर्गणा
३ करोड़	३	,,	५००	,,	तृतीय वर्गणा
३ करोड़	४	,,	४९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
			२०२०		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में २०२० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

चतुर्थ स्पर्धक

४ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
४ करोड़	२	,,	४७०	,,	द्वितीय वर्गणा
४ करोड़	३	,,	४६०	,,	तृतीय वर्गणा
४ करोड़	४	,,	४५०	,,	चतुर्थ वर्गणा
			१८६०		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १८६० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

पांचवाँ स्पर्धक

५ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
५ करोड़	२	,,	४३०	,,	द्वितीय वर्गणा
५ करोड़	३	,,	४२०	,,	तृतीय वर्गणा
५ करोड़	४	,,	४१०	,,	चतुर्थ वर्गणा
			१७००		

इस प्रकार पांचवें स्पर्धक में १७०० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

छठा स्पर्धक

६ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
६ करोड़ २ ,,	३९०	,,	द्वितीय वर्गणा
६ करोड़ ३ ,,	३८०	,,	तृतीय वर्गणा
६ करोड़ ४ ,,	३७०	,,	चतुर्थ वर्गणा
	१५४०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक में १५४० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१८ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	५८५	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
१८ करोड़ २ ,,	५७५	,,	द्वितीय वर्गणा
१८ करोड़ ३ ,,	५६५	,,	तृतीय वर्गणा
१८ करोड़ ४ ,,	५५५	,,	चतुर्थ वर्गणा
	२२८०		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक में २२८० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय स्पर्धक

१९ करोड़ १ वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
१९ करोड़ २ ,,	५१०	,,	द्वितीय वर्गणा
१९ करोड़ ३ ,,	५००	,,	तृतीय वर्गणा
१९ करोड़ ४ ,,	४९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
	२०२०		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक में २०२० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

तृतीय स्पर्धक

२० करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२० करोड़	२ ,,	४७०	,,	द्वितीय वर्गणा
२० करोड़	३ ,,	४६०	,,	तृतीय वर्गणा
२० करोड़	४ ,,	४५०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१८६०		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में १८६० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

चतुर्थ स्पर्धक

२१ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२१ करोड़	२ ,,	४३०	,,	द्वितीय वर्गणा
२१ करोड़	३ ,,	४२०	,,	तृतीय वर्गणा
२१ करोड़	४ ,,	४१०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१७००		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १७०० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

पांचवां स्पर्धक

२२ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२२ करोड़	२ ,,	३६०	,,	द्वितीय वर्गणा
२२ करोड़	३ ,,	३८०	,,	तृतीय वर्गणा
२२ करोड़	४ ,,	३७०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१५४०		

इस प्रकार पाँचवें स्पर्धक में १५४० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

छठा स्पर्धक

२३ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	३६०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२३ करोड़	२ ,,	३५०	,,	द्वितीय वर्गणा
२३ करोड़	३ ,,	३४०	,,	तृतीय वर्गणा
२३ करोड़	४ ,,	३३०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१३८०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक में १३८० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

सातवां स्पर्धक

२४ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	३२०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४ करोड़	२ ,,	३१०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४ करोड़	३ ,,	३००	,,	तृतीय वर्गणा
२४ करोड़	४ ,,	२९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१२२०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक में १२२० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

तीसरा योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

७२ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७२ करोड़	२ ,,	५१०	,,	द्वितीय वर्गणा
७२ करोड़	३ ,,	५००	,,	तृतीय वर्गणा
७२ करोड़	४ ,,	४९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		२०२०		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक में २०२० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय स्पर्धक

७३ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७३ करोड़	२ ,,	४७०	,,	द्वितीय वर्गणा
७३ करोड़	३ ,,	४६०	,,	तृतीय वर्गणा
७३ करोड़	४ ,,	४५०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१८६०		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक में १८६० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

तृतीय स्पर्धक

७४ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७४ करोड़	२ ,,	४३०	,,	द्वितीय वर्गणा
७४ करोड़	३ ,,	४२०	,,	तृतीय वर्गणा
७४ करोड़	४ ,,	४१०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१७००		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में १७०० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

चतुर्थ स्पर्धक

७५ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७५ करोड़	२ ,,	३९०	,,	द्वितीय वर्गणा
७५ करोड़	३ ,,	३८०	,,	तृतीय वर्गणा
७५ करोड़	४ ,,	३७०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१५४०		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १५४० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

पांचवां स्पर्धक

७६ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	३६०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७६ करोड़	२ ,,	३५०	,,	द्वितीय वर्गणा

७६ करोड़	३	वीर्याविभाग वाले	३४०	आत्म-प्रदेशों की	तृतीय वर्गणा
७६ करोड़	४	,,	३३०	,,	चतुर्थ वर्गणा
			१३८०		

इस प्रकार पांचवें स्पर्धक में १३८० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

छठा स्पर्धक

७७ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	३२०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७७ करोड़	२	,,	३१०	,,	द्वितीय वर्गणा
७७ करोड़	३	,,	३००	,,	तृतीय वर्गणा
७७ करोड़	४	,,	२९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
			१२२०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक में १२२० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

सातवां स्पर्धक

७८ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	२८९	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७८ करोड़	२	,,	२८८	,,	द्वितीय वर्गणा
७८ करोड़	३	,,	२८७	,,	तृतीय वर्गणा
७८ करोड़	४	,,	२८६	,,	चतुर्थ वर्गणा
			११५०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक में ११५० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

आठवां स्पर्धक

७९ करोड़	१	वीर्याविभाग वाले	२८४	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
७९ करोड़	२	,,	२८३	,,	द्वितीय वर्गणा
७९ करोड़	३	,,	२८२	,,	तृतीय वर्गणा
७९ करोड़	४	,,	२८१	,,	चतुर्थ वर्गणा
			११३०		

इस प्रकार आठवें स्पर्धक में ११३० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

चौथा योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

२४१ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणाएँ
२४१ करोड़	२ ,,	४७०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४१ करोड़	३ ,,	४६०	,,	तृतीय वर्गणा
२४१ करोड़	४ ,,	४५०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१८६०		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक में १८६० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय स्पर्धक

२४२ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४२ करोड़	२ ,,	४३०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४२ करोड़	३ ,,	४२०	,,	तृतीय वर्गणा
२४२ करोड़	४ ,,	४१०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१७००		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक में १७०० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

तृतीय स्पर्धक

२४३ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४३ करोड़	२ ,,	३९०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४३ करोड़	३ ,,	३८०	,,	तृतीय वर्गणा
२४३ करोड़	४ ,,	३७०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१५४०		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में १५४० आत्म-प्रदेशों की चार बर्गणाएँ।

चतुर्थ स्पर्धक

२४४ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	३६०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४४ करोड़	२ ,,	३५०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४४ करोड़	३ ,,	३४०	,,	तृतीय वर्गणा
२४४ करोड़	४ ,,	३३०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१३८०		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १३८० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

पांचवाँ स्पर्धक

२४५ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	३२०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४५ करोड़	२ ,,	३१०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४५ करोड़	३ ,,	३००	,,	तृतीय वर्गणा
२४५ करोड़	४ ,,	२९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१२२०		

इस प्रकार पांचवें स्पर्धक में १२२० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

छठा स्पर्धक

२४६ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	२८९	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४६ करोड़	२ ,,	२८८	,,	द्वितीय वर्गणा
२४६ करोड़	३ ,,	२८७	,,	तृतीय वर्गणा
२४६ करोड़	४ ,,	२८६	,,	चतुर्थ वर्गणा
		११५०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक में ११५० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

सातवां स्पर्धक

२४७ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	२८४	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४७ करोड़	२ ,,	२८३	,,	द्वितीय वर्गणा
२४७ करोड़	३ ,,	२८२	,,	तृतीय वर्गणा
२४७ करोड़	४ ,,	२८१	,,	चतुर्थ वर्गणा
		११३०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक में ११३० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

आठवां स्पर्धक

२४८ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	२६९	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४८ करोड़	२ ,,	२६८	,,	द्वितीय वर्गणा
२४८ करोड़	३ ,,	२६७	,,	तृतीय वर्गणा
२४८ करोड़	४ ,,	२६६	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१०७०		

इस प्रकार आठवें स्पर्धक में १०७० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

नौवां स्पर्धक

२४९ करोड़	१ वीर्याविभाग वाले	२३९	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४९ करोड़	२ ,,	२३८	,,	द्वितीय वर्गणा
२४९ करोड़	३ ,,	२३७	,,	तृतीय वर्गणा
२४९ करोड़	४ ,,	२३६	,,	चतुर्थ वर्गणा
		९५०		

इस प्रकार नौवें स्पर्धक में ९५० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

असत्कल्पना द्वारा योगस्थानों का समीकरण

प्रथम योगस्थान में स्पर्धक	आत्म-प्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२६००	४
द्वितीय	२२८०	४
तृतीय	२०२०	४
चतुर्थ	१८६०	४
पांचवां	१७००	४
छठा	१५४०	४
६	१२०००	२४

द्वितीय योगस्थान में स्पर्धक	आत्म-प्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२२८०	४
द्वितीय	२०२०	४
तृतीय	१८६०	४
चतुर्थ	१७००	४
पांचवां	१५४०	४
छठा	१३८०	४
सातवां	१२२०	४
७	१२०००	२८

तृतीय योगस्थान में स्पर्धक	आत्म-प्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२०२०	४
द्वितीय	१८६०	४
तृतीय	१७००	४
चतुर्थ	१५४०	४
पांचवां	१३८०	४
छठा	१२२०	४

सातवां	११५०	४
आठवां	११३०	४
८	१२०००	३२

चतुर्थ योगस्थान में स्पर्धक	आत्म-प्रदेश	वर्गणा
प्रथम	१८६०	४
द्वितीय	१७००	४
तृतीय	१५४०	४
चतुर्थ	१३८०	४
पांचवाँ	१२२०	४
छठा	११५०	४
सातवां	११३०	४
आठवां	१०७०	४
नौवां	९५०	४
९	१२०००	३६

विशेष—कर्म प्रकृति बंधनकरण गाथा ६ से ९ तक के आधार से यह स्पष्टीकरण किया गया है।

□□

वर्गणाओं सम्बन्धी वर्णन का सारांश

यह लोक पुद्गल परमाणुओं से व्याप्त है। कर्म पौद्गलिक हैं और पुद्गल एक द्रव्य है। इसलिए जैन कर्मसिद्धान्त आदि में यथायोग्य रीति से पुद्गल द्रव्य का वर्णन किया गया है।

कर्म साहित्य में पुद्गल द्रव्य का वर्गणामुखेन वर्णन किया गया है। पुद्गल परमाणु अपने-अपने समगुण और समसंख्या वाले समूहों में वर्गीकृत हैं और इनके संयोग से संसारी जीव के शरीर, इन्द्रियों आदि की रचना होती है। इनके लिए वर्गणा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कर्मसिद्धान्त में इन वर्गणाओं के दो प्रकार माने हैं—(१) ग्रहणयोग्य, (२) अग्रहणयोग्य। यह भिन्नता तत्तत् शरीरस्थ जीव द्वारा उन-उन पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करने अथवा न करने की योग्यता अथवा पुद्गल परमाणुओं में तथा-स्वभाव से ग्रहण होने या न होने की योग्यता पर आधारित है। इस अपेक्षा से कर्म-सिद्धान्त में इन सब ग्रहण और अग्रहण वर्गणाओं को निम्नलिखित २६ भेदों में विभाजित किया गया है—

१. अग्रहण, २. औदारिक, ३. अग्रहण, ४. वैक्रिय, ५. अग्रहण, ६. आहारक, ७. अग्रहण, ८. तैजस्, ९. अग्रहण, १०. भाषा, ११. अग्रहण, १२. श्वासोच्छ्वास, १३. अग्रहण, १४. मन, १५. अग्रहण, १६. कार्मण, १७. ध्रुवाचित्त, १८. अध्रुवाचित्त (सान्तर-निरंतर), १९. ध्रुवशून्य, २०. प्रत्येकशरीरी, २१. ध्रुवशून्य, २२. बादरनिगोद, २३. ध्रुवशून्य, २४ सूक्ष्मनिगोद, २५. ध्रुवशून्य, २६. महास्कन्ध।

कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह और विशेषावश्यकभाष्य में इन वर्गणाओं का

वर्णन किया गया है। लेकिन दोनों के वर्णन में आपेक्षिक समानता भी है और असमानता भी है। जिसका संक्षेप में सारांश इस प्रकार है—

कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह में परमाणुवर्गणा के अर्थ में सब परमाणुओं के लिए पृथक्-पृथक् वर्गणा शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्विपरमाणु आदि सभी वर्गणाएँ कही हैं। जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि परमाणु वर्गणा अनन्त हैं, द्विपरमाणु वर्गणाएँ अनन्त हैं। परन्तु देवेन्द्र सूरि ने अपने कर्मग्रन्थों में सर्व परमाणुओं के संग्रह अर्थ में परमाणुवर्गणा का प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्विपरमाणु स्कन्धों के संग्रह के लिए द्विपरमाणुवर्गणा कहा है।

विशेषावश्यकभाष्य में वर्गणाओं के विचार का प्रारम्भ तो कर्मग्रन्थों के अनुरूप है। लेकिन भिन्नता इस प्रकार है—परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक की अनन्त वर्गणाएँ औदारिक शरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं, तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणाएँ औदारिक शरीर के ग्रहणप्रायोग्य हैं। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणाएँ पुनः औदारिक शरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं। तत्पश्चात् एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणाएँ वैक्रियशरीर के अग्रहण-योग्य हैं। उसके बाद एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणाएँ वैक्रिय शरीर के ग्रहणयोग्य हैं। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अनन्त वर्गणाएँ पुनः वैक्रिय शरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं। इस प्रकार जीव को ग्रहणप्रायोग्य आठ वर्गणाओं को तीन-तीन रूप से कहने पर चौबीस वर्गणाएँ हो जाती हैं। यह चौबीस नाम दो ग्रहण वर्गणाओं के मध्य में दो अग्रहण वर्गणाएँ मानने से होते हैं। एक ही अग्रहण वर्गणा का जो आधा भाग जिस शरीर आदि के समीप आया है, उस शरीर आदि के नाम की विवक्षा से एक ही अग्रहण वर्गणा का दो-दो नाम से उल्लेख किया है। लेकिन पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति आदि कर्मग्रन्थों में इस प्रकार का पार्थक्य न करके ग्रहणयोग्य वर्गणा के बाद अग्रहण वर्गणा कहकर अग्रहण और ग्रहण की अपेक्षा सोलह प्रकार माने हैं।

इसके अतिरिक्त भाष्य वर्णन में निम्नलिखित अन्तर और हैं—

अन्तिम २४वीं वर्गणा अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा के नाम के अनन्तर इस प्रकार वर्गणाओं के नाम दिये हैं—

२५ प्रथम ध्रुव वर्गणा, २६ अध्रुव वर्गणा, २७ शून्यान्तर वर्गणा, २८ अशून्यान्तर वर्गणा, २९ प्रथम ध्रुवान्तर वर्गणा, ३० द्वितीय ध्रुवान्तर वर्गणा, ३१ तृतीय ध्रुवान्तर वर्गणा, ३२ चतुर्थ ध्रुवान्तर वर्गणा, ३३ औदारिक तनुवर्गणा, ३४ वैक्रियतनुवर्गणा, ३५ आहारक तनुवर्गणा ३६ तैजस तनुवर्गणा, ३७ मिश्र स्कन्ध वर्गणा ३८ अचित्त महास्कन्ध वर्गणा।

भाष्य में किये गये वर्गणाओं के वर्णन को गाथा ६३३ से ६५३ तक देखिये।

इन सब वर्गणाओं का अवगाह अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सर्वोत्कृष्ट महास्कन्ध वर्गणा पर्यन्त यद्यपि सभी वर्गणाएँ परमाणुओं की अपेक्षा अनुक्रम से मोटी हैं और अनुक्रम से मोटी होते जाने पर भी प्रत्येक मूल वर्गणा में की एक-एक उत्तरवर्गणा अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण के अवगाह वाली है और यदि इन प्रत्येक उत्तर वर्गणाओं में समुदाय की अपेक्षा अवगाह की विवक्षा करें तो परमाणु से लेकर सर्वोत्कृष्ट महास्कन्ध वर्गणा तक की सब उत्तर वर्गणाएँ भी प्रत्येक अनन्तानन्त हैं और समुच्चय की अपेक्षा समस्त लोकाकाश प्रमाण अवगाह वालो हैं।

दिगम्बर कर्म साहित्य में भी वर्गणाओं का विचार किया गया है। उस वर्णन में कुछ विभिन्नतायें रहने पर भी प्रायः समानता है। वहाँ वर्गणाओं के निम्नलिखित २३ भेद हैं—

१ अणुवर्गणा, २ संख्याताणुवर्गणा, ३ असंख्याताणुवर्गणा, ४ अनन्ताणुवर्गणा, ५ आहार वर्गणा, ६ अग्रहण वर्गणा, ७ तैजस् वर्गणा, ८ अग्रहण वर्गणा, ९ भाषा वर्गणा, १० अग्रहण वर्गणा, ११ मनोवर्गणा, १२ अग्रहण वर्गणा, १३ कार्मणशरीर वर्गणा, १४ ध्रुवस्कन्ध वर्गणा, १५ सान्तरनिरंतर वर्गणा, १६ ध्रुवशून्य वर्गणा, १७ प्रत्येकशरीर वर्गणा, १८ ध्रुवशून्य वर्गणा, १९ बादर निगोद वर्गणा, २० ध्रुवशून्य

वर्गणा, २१ सूक्ष्म निगोद वर्गणा, २२ ध्रुवशून्य वर्गणा और २३ महास्कन्ध वर्गणा ।

आहार वर्गणा से औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर इन तीन वर्गणाओं को ग्रहण किया गया है ।

जीव द्वारा ग्रहणयोग्य आठ वर्गणाएँ समान रूप से सभी कार्मग्रन्थिक आचार्यों ने मानी हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं—

औदारिक शरीर वर्गणा, वैक्रिय शरीर वर्गणा, आहारक शरीर वर्गणा, तैजस् वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मण वर्गणा ।

□□

पुद्गल (कर्म) बंध का कारण और प्ररूपणा के प्रकार

पुद्गल कर्म द्रव्य का परस्पर सम्बन्ध स्नेहगुण से होता है। इसीलिए कर्मबन्ध के प्रसंग में स्नेह प्ररूपणा की जाती है। इस स्नेह गुण के कारण अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाएँ जीव से सम्बद्ध होती हैं। वह स्नेह प्ररूपणा तीन प्रकार की है—१ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा, ३ नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा, ३ प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा। इनमें से स्नेह निमित्तक स्पर्धक की प्ररूपणा को स्नेहप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा कहते हैं। शरीर बंधन नाम कर्म के उदय से परस्पर बंधे हुए शरीर पुद्गलों का आश्रय लेकर जो स्पर्धक की प्ररूपणा की जाती है, वह नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा है अर्थात् बन्धन नाम निमित्तक शरीर प्रदेशों के स्पर्धक की प्ररूपणा को नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा कहते हैं। प्रकृष्टयोग को प्रयोग कहते हैं। इस प्रयोगप्रत्ययभूत—कारणभूत प्रकृष्ट योग के द्वारा ग्रहण किये गये जो पुद्गल हैं, उनके स्नेह का आश्रय करके जो स्पर्धक प्ररूपणा की जाती है, वह प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा कहलाती है।

स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय प्ररूपणाओं के लक्षण इस प्रकार जानना चाहिए—

१ लोकवर्ती प्रथम अग्राह्य पुद्गल द्रव्यों में स्निग्धपने की तरतमता कहना स्नेहप्रत्यय प्ररूपणा है।

२ पाँच शरीर रूप परिणमते पुद्गलों में स्निग्धपने की तरतमता बताना नामप्रत्यय प्ररूपणा है।

३ उत्कृष्ट योग से ग्रहण होने वाले पुद्‌गलों में स्निग्धता की तरतमता कहना प्रयोगप्रत्यय प्ररूपणा कहलाती है।

स्पर्धक वर्गणाओं के समुदाय से बनते हैं। अतएव इन तीनों प्रकार की प्ररूपणाओं में से स्नेहप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा में अनन्तरोपनिधा से वर्गणाएँ इस प्रकार होती हैं—

१ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की आदि की अनन्त वर्गणाएँ असंख्यातभाग हीन,

२ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाएँ संख्यातभाग हीन,

३ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाएँ संख्यातगुण हीन,

४. स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाएँ असंख्यातगुण हीन,

५ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाएँ अनन्तगुण हीन।

इस प्रकार स्नेह प्रत्यय स्पर्धक की अनन्त वर्गणाएँ पांच विभागों में विभाजित हैं—१ असंख्यातभाग हीन विभाग, २ संख्यातभाग हीन विभाग, ३ संख्यातगुण हीन विभाग, ४ असंख्यातगुण हीन विभाग ५ अनन्तगुण हीन विभाग।

परम्परोपनिधा प्ररूपणा की अपेक्षा स्नेहप्रत्यय स्पर्धकगत वर्गणाओं का रूपक इस प्रकार जानना चाहिए—

पूर्व वर्गणा की अपेक्षा बीच में कुछ वर्गणाओं को छोड़कर आगे की वर्गणा में परमाणुओं सम्बन्धी हीनाधिकता के कथन करने को परंपरोपनिधा कहते हैं। जो इस प्रकार है कि—

असंख्यातभाग हानि विभाग में असंख्यात लोकातिक्रमण होने पर द्विगुण हानि, संख्यातभाग हानि विभाग में असंख्यात लोकातिक्रमण होने पर द्विगुण हानि तथा संख्यातगुण हानि विभाग, असंख्यातगुण हानि और अनन्तगुण हानि विभाग, इन तीन विभागों में पहले से ही त्रिगुणादि हीनपना होने से

द्विगुण हानि का अभाव है । यह पूर्वोक्त द्विगुण हानि रूप परंपरोपनिधा सर्व विभागों में प्राप्त न होने से दूसरे प्रकार से परंपरोपनिधा की प्ररूपणा इस प्रकार जानना चाहिए ।

असंख्यातभाग हानि विभाग में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा कुछ वर्गणाएँ असंख्यातभाग हीन, संख्यातभाग हीन, संख्यातगुण हीन, असंख्यातगुण हीन, अनन्तगुण हीन हैं । अर्थात् असंख्यातभाग हीन विभाग में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे कितनी ही वर्गणाएँ यथाक्रम से पाँचों हानि वाली होती हैं ।

इसी प्रकार संख्यातभाग हीन, संख्यातगुण हीन, असंख्यातगुण हीन और अनन्तगुण हीन विभाग में भी अपनी प्रथम वर्गणा की अपेक्षा उत्तर वर्गणाएँ भी हीन समझना चाहिए । किन्तु इतनी विशेषता है कि यह हीनता अपने-अपने नाम के क्रम से प्रारम्भ करना चाहिए । जो इस प्रकार है—

संख्यातभाग हानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे कितनी ही वर्गणाएँ पूर्व की असंख्यातभाग हानि के बिना बाद की शेष चार हानियों वाली होती हैं ।

संख्यातगुण हानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाएँ पूर्व की असंख्यातभाग और संख्यातभाग इन दो हानियों के बिना बाद की तीन हानियों वाली, असंख्यातगुण हानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाएँ पूर्व की असंख्यातभाग, संख्यातभाग और संख्यातगुण इन तीन हानियों के बिना उत्तर की शेष दो हानियों वाली तथा अनन्तगुण हानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाएँ पूर्वोक्त चार हानियों के बिना एक हानि वाली अर्थात् अनन्तगुण हानि वाली होती हैं ।

अनन्तगुण हानि में अनन्तगुण बड़े-बड़े भागों की हानि होने से यहाँ अनन्तगुण में गुण शब्द से अनन्त पुद्गल राशि प्रमाण एक भाग ऐसे अनन्त भाग समझना चाहिए । परन्तु गुण शब्द से गुणाकार जैसा भाग नहीं समझना चाहिए । जहाँ-जहाँ हानि का प्रसंग आये वहाँ गुण शब्द से भाग-प्रमाण ही जानना चाहिए, किन्तु गुणाकार रूप नहीं और वृद्धि के प्रसंग में गुण शब्द से गुणाकार आशय समझना चाहिए ।

नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा की वर्गणाओं में कुछ विशेषता नहीं है। सामान्य से सर्वजीव राशि से अनन्तगुण अविभाग प्रत्येक वर्गणाएँ होने पर भी अन्य सर्व परमाणुओं से अल्प और समान स्नेहाविभाग वाले परमाणुओं का जो समुदाय वह प्रथम वर्गणा है। उससे एक स्नेहाविभाग अधिक परमाणुओं का समुदाय दूसरी वर्गणा। इस प्रकार पूर्व-पूर्व वर्गणा से एक-एक स्नेहाविभाग अधिक वाले परमाणुओं का समुदाय रूप अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धों के अनन्तवेंभाग प्रमाण वर्गणाएँ होती हैं। पूर्व-पूर्व की वर्गणा से उत्तर-उत्तर की वर्गणाओं में पुद्गल अल्प-अल्प होते हैं।

अब यदि इन वर्गणाओं में रहे हुए सभी परमाणुओं के स्नेहाविभागों का विचार किया जाये तो वह इस प्रकार जानना चाहिए—

प्रथम शरीर-स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में स्नेहाविभाग सबसे अल्प हैं, उससे दूसरे स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में अनन्तगुण हैं। इस प्रकार तीसरे, चौथे, पांचवें यावत् अन्तिम स्थान तक पूर्व-पूर्व के शरीर-स्थान के पहले-पहले स्पर्धक की पहली-पहली वर्गणा के स्नेहाविभागों से उत्तर-उत्तर के स्थान के प्रथम स्पर्धक की पहली-पहली वर्गणा में अनन्तगुण होते हैं।

प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा में भी वर्गणाओं का निरूपण नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा में किये गये वर्णन के अनुरूप जानना चाहिए।

इन तीनों प्रकारों के अल्पबहुत्व का प्रमाण इस प्रकार जानना चाहिए—

स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में स्नेहाविभाग सबसे अल्प हैं, उससे उसी स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा में स्नेहाविभाग अनन्तगुण हैं, उससे नामप्रत्यय प्रथम स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के कुल स्नेहाविभाग अनन्तगुण हैं, उससे उसी नामप्रत्यय स्पर्धक के अन्तिम स्थान के अन्तिम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा के कुल स्नेहाविभाग अनन्तगुण हैं, उससे प्रयोगप्रत्यय में प्रथम स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में वर्तमान सकल स्नेहाविभाग और उससे इसके चरम स्थान के चरमस्पर्धक की चरम वर्गणा में रहे हुए सभी स्नेहाविभाग क्रमशः अनन्तगुण हैं। ☐☐

दलिक-विभागाल्पबहुत्व विषयक स्पष्टीकरण

गाथा ४१ के विवेचन में उत्कृष्ट एवं जघन्य पद में उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा दलिकों का विभाग तो बतलाया है; परन्तु विभाग करने का कारण और उस प्रकृति को उतना दलिक मिलने में क्या हेतु है, उसका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका है। उस कमी की पूर्ति के लिए कारण सहित व्याख्या यहाँ करते हैं, जिससे पाठकों को समझने में सुगमता हो।

इस अल्पबहुत्व को समझने के लिए निम्नलिखित नियम विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं—

१ मूल कर्मों को प्राप्त हुए दलिक का अनन्तवां भाग ही सर्वघाति प्रकृतियों को मिलता है एवं शेष रहा उस कर्म का अनन्तगुण दलिक उस समय उस कर्म की बध्यमान देशघाति प्रकृति को मिलता है। जिससे किसी भी मूल कर्म की अन्तर्वर्ती सर्वघाति प्रकृतियों के भाग में आये दलिक से देशघाति प्रकृति का दलिक सर्वत्र अनन्तगुण होता है।

उदाहरणार्थ—ज्ञानावरण कर्म के हिस्से में आये दलिक का अनन्तवां भाग केवलज्ञानावरण को मिलता है और शेष रहा अनन्तगुण दलिक मन-पर्याय ज्ञानावरण आदि शेष चार देशघाति प्रकृतियों को मिलता है। जिससे केवलज्ञानावरण को प्राप्त हुए दलिक से मनपर्याय ज्ञानावरण को प्राप्त हुआ दलिक अनन्तगुण होता है।

२ किसी भी विवक्षित एक ही बन्धस्थान में जो और जितनी प्रकृतियां साथ में बंधती हों एवं योगस्थान भी वही होने पर जिस प्रकृति को प्राप्त

भाग दलिक अधिक बताये हों तो वहाँ मात्र असंख्यातभाग अधिक ही समझना चाहिए और उसके लिए उस-उस प्रकृति का स्वभाव ही कारण है।

जिसको उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—मनपर्याय ज्ञानावरण आदि चारों क्षायोपशमिक ज्ञानावरणों का दसवें गुणस्थान में तत्योग उत्कृष्ट योगस्थान से उत्कृष्ट देशबंध होता है, लेकिन मनपर्याय ज्ञानावरण को प्राप्त हुए दलिक से अवधिज्ञानावरण का दलिक असंख्यातभाग रूप विशेषाधिक होता है और ऐसा होने में उस प्रकृति का स्वभाव ही कारण है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

३ अधिक प्रकृतियों के बंध वाले बंधस्थान में जो प्रकृतियाँ बंधती हों, उनकी अपेक्षा उनसे कम संख्या वाले प्रकृति के बंधस्थान में जो प्रकृति बंधती हों उसके भाग में जो विशेषाधिक दलिक प्राप्त होते हैं वे प्रायः सभी संख्यात भाग अधिक होते हैं।

जैसे कि द्वीन्द्रियादि जातिचतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेशबंध द्वीन्द्रियादि प्रायोग्य पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान में और जघन्य प्रदेशबंध द्वीन्द्रियादि प्रायोग्य तीस प्रकृतिक बंधस्थान में होता है और एकेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट प्रदेशबंध एकेन्द्रिय प्रायोग्य तेईस प्रकृतियों के बंधस्थान में एवं जघन्य प्रदेशबंध छब्बीस प्रकृतियों के बंधस्थान में होता है। जिससे द्वीन्द्रियादि चारों जातियों के उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध में जितने दलिक आते हैं, उनसे एकेन्द्रियजाति में दोनों प्रकार के बन्धस्थान में दलिक संख्यातभाग अधिक आते हैं।

कहीं पर संख्यातगुण अधिक भी होते हैं। उदाहरणार्थ कि मूल प्रकृतियों के सप्तविध बंधक को अयशःकीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकर्म के तेईस प्रकृतिक बंधस्थान में होता है और यशःकीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेश बंध दसवें गुणस्थान में छह मूल प्रकृतियों के बंधक को नामकर्म की मात्र यशःकीर्ति का बंध होता है जिससे अयशःकीर्ति को उत्कृष्ट पद में प्राप्त हुए दलिक की अपेक्षा यशःकीर्ति को उत्कृष्ट पद में प्राप्त हुआ दलिक संख्यातगुण होता है।

४ जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अथवा जघन्य प्रदेशबंध जिस योगस्थान से होता हो, उसकी अपेक्षा दूसरी जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अथवा जघन्य प्रदेशबंध असंख्यातगुण अधिक योगस्थान से होता हो तो उसके भाग में दलिक असंख्यातगुण आते हैं। जैसे कि मनुष्यगति का जघन्य प्रदेशबंध सबसे अल्प वीर्य वाले लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया को उत्पत्ति के प्रथम समय में उनतीस प्रकृतियों के बंधस्थान में प्राप्त होता है तथा देवगति का जघन्य प्रदेशबंध सम्यग्दृष्टि मनुष्य को उत्पत्ति के प्रथम समय में तीर्थंकर नाम सहित देवगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों के बंधस्थान में प्राप्त होता है। यहाँ मनुष्य के लब्धि अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया के उत्पत्ति के प्रथम समय की अपेक्षा असंख्यातगुण वृद्धि वाला योगस्थान होता है, जिससे मनुष्यगति के जघन्य पद में प्राप्त हुए दलिक की अपेक्षा जघन्य पद में देव गति के प्राप्त हुए कर्मदलिक असंख्यातगुण होते हैं।

५ जिस समय चौदह मुख्य पिंडप्रकृतियों में से जितनी प्रकृतियाँ बंधती हों उतने ही भाग होते हैं, परन्तु शरीर आदि के अवान्तर भेद अधिक बंधते हों तो भी चौदह में से उनका अलग भाग नहीं होता है, परन्तु शरीर को प्राप्त दलिक में से ही जिस समय जितने शरीर बंधते हों उतने अवान्तर विभाग होते हैं। उदाहरणार्थ—देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृति बंधें तब उनमें संहनन नाम के बिना मुख्य तेरह पिंड प्रकृतियाँ बंधती हैं, जिससे उसके तेरह, अगरुलघुचतुष्क, उपघात, त्रसचतुष्क और यथासंभव स्थिर अथवा अस्थिर षट्क इस प्रकार अट्ठाईस प्रकृति बांधे तब उसके अट्ठाईस भाग हों, उस समय शरीर और संघात को प्राप्त दलिक के तीन, बंधन को प्राप्त दलिक के छह और वर्णादि चतुष्क को प्राप्त दलिक के अनुक्रम से ५, २, ५ और ८ भाग होते हैं।

यद्यपि इस अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान में संघातन और बंधन को गिना नहीं है और उसके बदले तैजस-कार्मण शरीर को ही गिना है, परन्तु तैजस आदि दो शरीर को तो शरीर नाम कर्म को प्राप्त हुए दलिक में से भाग मिलता है एवं संघातन और बंधन सर्वत्र बंध और उदय में शरीर के

साथ ही सदैव होते हैं, जिससे उनके दलिक की अलग से विवक्षा नहीं की है। परन्तु शरीर की तरह बंधन और संघातन नामकर्म को भी स्वतन्त्र अलग भाग मिलता है, यह ध्यान में रखना चाहिए।

उक्त दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए प्रदेशबंध से प्राप्त दलिक को उत्कृष्ट और जघन्य पद में विभाजित करने की प्रक्रिया जानना चाहिए। इसका वर्णन यथास्थान पूर्व में किया गया है।

□□

परिशिष्ट ९

असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानक प्ररूपणा का स्पष्टीकरण

षट्स्थानों में अनन्तभागादि भागवृद्धि और संख्येयगुणादि गुणवृद्धि आदि के कंडक जिस क्रम से होते हैं, इसका वर्णन पूर्व में नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा में विस्तार से किया जा चुका है। तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। संक्षेप में उस गुणाकार का प्रमाण इस प्रकार है—

१ अनन्तभाग वृद्धिस्थान	कंडक प्रमाण (असत्कल्पना से ४ अंक)
२ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से असंख्यातभाग वृद्धिस्थान	कंडकाधिक कंडकवर्ग प्रमाण (२० का अंक)
३ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से संख्यातभाग वृद्धिस्थान	कंडकाधिक कंडकवर्गद्वयाधिक कंडक-घन (१०० अंक)
४ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से संख्यातगुणाधिक स्थान	कंडकवर्गोन, कंडकाधिक कंडकवर्ग-वर्गद्वय प्रमाण (५०० का अंक)
५ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से असंख्यातगुण वृद्धि स्थान	कंडकाधिक, कंडकघनत्रयाधिक, कंडक-वर्गवर्गाधिक, कंडकाभ्यासद्वय प्रमाण (२५०० का अंक)
६ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से अनन्तगुण वृद्धिस्थान	कंडकवर्गत्रिकोन, कंडकाधिक, कंडक-वर्ग-वर्गाधिक कंडकघन, वर्गत्रय प्रमाण (१२५०० का अंक)

स्थापना में सर्व अंकों का प्रमाण—४+२०+१००+५००+२५०० +१२५००=१५६२४।

इस षट्स्थानक प्ररूपणा में वर्गादि का प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिये—

कंडकवर्ग ४ × ४ = १६ ।

कंडकवर्गद्वय = ४ × ४ = १६, पुनः ४ × ४ = १६ ; इस प्रकार दो बार १६ ।

कंडकघन ४ × ४ × ४ = ६४ ।

कंडकघनद्वय ४ × ४ × ४ = ६४, पुनः ४ × ४ × ४ = ६४, इस तरह दो बार ६४ ।

कंडकघनत्रय ४ × ४ × ४ = ६४, पुनः ४ × ४ × ४ = ६४, पुनः ४ × ४ × ४ = ६४ ; इस प्रकार तीन बार ६४ ।

कंडकाभ्यासद्वय ४ × ४ × ४ × ४ × ४ = १०२४, पुनः ४ × ४ × ४ × ४ × ४ = १०२४ ; इस प्रकार दो बार १०२४ । जो संख्या हो, उस संख्या को उसी संख्या से उतनी बार गुणा करने पर प्राप्त राशि को अभ्यास कहते हैं ।

कंडकवर्गोन—कंडकवर्ग का जो अंक हो, उसे अन्तिम संख्या में से कम कर देना ।

कंडक वर्ग-वर्ग—कंडक का वर्ग, उसका भी वर्ग, यथा ४ × ४ = १६ यह कंडकवर्ग हुआ, उसका पुनः वर्ग १६ × १६ = २५६ ।

उक्त गुणाकार से कल्पना द्वारा षट्स्थान की अंक संदृष्टि का प्रारूप स्वयमेव समझ लेना चाहिए ।

□□

परिशिष्ट : १०

षट्स्थानक में अधस्तनस्थान-प्ररूपणा का स्पष्टीकरण

षट्स्थान प्ररूपणा का स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है। षट्स्थानों में वृद्धि की आद्य इकाई अनन्तभाग वृद्धिस्थान है और अधस्तनस्थान प्ररूपणा में सर्वोच्च वृद्धि का स्थान अनन्तगुण वृद्धि का स्थान है। उससे नीचे-नीचे के स्थान में अधस्तनस्थान प्ररूपणा की जाती है। इसीलिये उसे अधस्तनस्थान प्ररूपणा कहते हैं। अर्थात् विवक्षित वृद्धि की अपेक्षा नीचे की वृद्धि की विवक्षा करना, अधस्तनस्थान प्ररूपणा है। जिसका स्थापना पूर्वक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ अनन्तगुण वृद्धि, २ असंख्यातगुण वृद्धि, ३ संख्यातगुण वृद्धि ४ संख्यातभाग वृद्धि, ५ असंख्यातभाग वृद्धि, ६ अनन्तभाग वृद्धि।

यह प्ररूपणा पाँच प्रकार की है—

१ अनन्तर मार्गणा, २ एकान्तरित मार्गणा, ३ द्व्यन्तरित मार्गणा, ४ त्र्यन्तरित मार्गणा, ५ चतुरन्तरित मार्गणा।

अनन्तर मार्गणा

बीच में अन्य कोई भी वृद्धि न रखकर विवक्षित से नीचे की वृद्धि की प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम असंख्यातभाग वृद्धि की अपेक्षा अनन्त भाग वृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। प्रथम संख्यातभाग वृद्धि की अपेक्षा असंख्यात-भाग वृद्धि के स्थान का विचार। उसी प्रकार प्रथम अनन्तगुण वृद्धि की अपेक्षा असंख्यातगुण वृद्धि के स्थान की विचारणा। इस मार्गणा में पांच स्थान हैं।

एकान्तरित मार्गणा

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में एक वृद्धि को छोड़कर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम संख्यातभाग वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभाग वृद्धि के स्थान की विचारणा। इस विचारणा के चार स्थान हैं।

द्व्यन्तरित मार्गणा

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में दो वृद्धि को छोड़कर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम संख्यातगुण वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभाग वृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा में तीन स्थान हैं।

त्र्यन्तरित मार्गणा

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में तीन वृद्धि को छोड़कर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम असंख्यातगुण वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभाग वृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा में दो स्थान हैं।

चतुरन्तरित मार्गणा

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में चार वृद्धि को छोड़कर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम अनन्तगुण वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभाग वृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा में एक स्थान है।

उक्त मार्गणाओं में स्थानों का प्रमाण इस प्रकार जानना चाहिये—

अनन्तर मार्गणा में

कंडक प्रमाण स्थान जानना चाहिये। क्योंकि अनन्तभाग वृद्धि के एक कंडक प्रमाण स्थान व्यतीत होने पर असंख्यातभाग वृद्धि का प्रथम स्थान प्राप्त होता है। असत्कल्पना से कंडक का प्रमाण ४ अंक है अतएव असंख्यात भाग वृद्धि के ५ के अंक के पूर्व अनन्तभाग वृद्धि के चार स्थान होने से कंडक प्रमाण ४ स्थान जानना चाहिए।

एकान्तरित मार्गणा में

कंडकवर्ग और कंडक प्रमाण। (असत्कल्पना से कंडकवर्ग = ४ × ४ = १६ + ४ = २०)।

द्व्यन्तरित मार्गणा में

कंडकघन, दो कंडकवर्ग और कंडकप्रमाण (असत् कल्पना से ४×४×४ = ६४+१६+१६+४ = १००)।

त्र्यन्तरित मार्गणा में

कंडकवर्गवर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग, और कंडकप्रमाण (कल्पना से १६×१६ = २५६+१९२+४८+४=५००)।

चतुरन्तरित मार्गणा में

८ कंडकवर्गवर्ग, ६ कंडकघन, ४ कंडकवर्ग और १ कंडकप्रमाण (कल्पना से २५६ × ८=२०४८+३८४+६४+४ = २५००)।

इस प्रकार कल्पना से प्रथम अनन्तगुण वृद्धि के स्थान से पूर्व ४+२०+१००+५००+२५०० = ३१२४ स्थान होते हैं।

□□

परिशिष्ट ११

असत्कल्पना द्वारा अनुकृष्टि प्ररूपणा का स्पष्टीकरण

अनुकृष्टि अर्थात् अनुकर्षण, अनुवर्तन। अनु—पश्चात् (पीछे से) कृष्टि—कर्षण—खींचना, यानि पाश्चात्य स्थितिबन्धगत अनुभागस्थानों को आगे-आगे के स्थितिबन्धस्थान में खींचना अनुकृष्टि कहलाती है।

अमुक-अमुक प्रकृतियों की अनुकृष्टि एक समान होने से प्रकृतियों के इस प्रकार चार वर्ग बनाये हैं—

१ मतिज्ञानावरण आदि पैंतालीस घाति, अशुभ वर्णादि नवक, और उपघात, इन पचवन प्रकृतियों का अपरावर्तमान अशुभवर्ग है।

२—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, शरीर-पंचक, पंचदश बंधननाम, संघातनपंच, अंगोपांगत्रिक, अगुरुलघु, निर्माण, शुभवर्णादि एकादश और तीर्थंकर नाम इन छियालीस प्रकृतियों का अपरावर्तमान शुभवर्ग है।

३ सातावेदनीय, प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान, स्थिर-षटक, शुभ विहायोगति, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति और उच्चगोत्र, इन सोलह प्रकृतियों का परावर्तमान शुभवर्ग है।

४ असातावेदनीय, नरकद्विक, आदिजाति-चतुष्क, अशुभ विहायोगति, अन्तिम पांच संहनन और पांच संस्थान तथा स्थावर-दशक इन अट्ठाईस प्रकृतियों का परावर्तमान अशुभवर्ग है।

प्रायः सभी प्रकृतियों की अभव्य जीव के ग्रन्थीदेश के समीप जो जघन्य स्थितिबन्ध होता है, वहाँ से प्रारम्भ कर अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति तक अनुकृष्टि का विचार किया जाता है। तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र इन

तीन प्रकृतियों की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति से नीचे के स्थितिस्थानों में भी अनुकृष्टि व्यवस्थित होने से इन तीन प्रकृतियों के परावर्तमान अशुभ-वर्ग की होने पर भी उसमें नहीं गिनकर पृथक् रूप से अनुकृष्टि का विचार किया जाता है ।

मतिज्ञानावरण आदि पचवन अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिबंधस्थान में उत्तरवर्ती स्थितिस्थानों की अपेक्षा अल्प होने पर भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबन्ध के अध्यवसाय होते हैं । इन अध्यवसायों में के प्रारम्भ के एक असंख्यातवें भाग प्रमाण अध्यवसायों को कम कर शेष वे सब और कम किये अध्यवसायों की संख्या से कुछ अधिक नये अध्यवसाय समयाधिक जघन्य स्थितिस्थान में होते हैं। पुनः उनके प्रारम्भ के असंख्यातवें भाग जितने अध्यवसायों को छोड़कर शेष सर्व और जो छोड़े गये हैं, उनसे कुछ विशेष संख्याप्रमाण नये अनुभागबंध अध्यवसाय दो समयाधिक जघन्य स्थितिबंधस्थान में होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थितिस्थान में रहे हुए रसबंध के अध्यवसायों में के प्रारम्भ के एक-एक असंख्यातवें भागप्रमाण अध्यवसायों को छोड़कर शेष वे सर्व और छोड़े हुए अध्यवसायों से कुछ अधिक नये-नये अध्यवसाय ऊपर-ऊपर के स्थितिस्थान में जाते हैं और ऐसा होने से सर्व जघन्य स्थितिबंध के अध्यवसाय पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण अधिक स्थितिबंध तक पहुँचते हैं ।

जिस स्थितिबंध के अध्यवसाय जिस स्थितिस्थान तक पहुँचते हैं, उतने स्थितिस्थानों को एक कंडक कहा जाता है और वह पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है । जिससे जघन्य स्थितिबंध के अध्यवसायों की अनुकृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भाग के चरम स्थिति-स्थान में पूर्ण होती है। समयाधिक जघन्य स्थितिस्थान के अध्यवसायों की कंडक के ऊपर के प्रथम स्थितिस्थान में, दो समयाधिक जघन्य स्थितिस्थान के अध्यवसायों की कंडक के ऊपर के द्वितीय स्थिति स्थान में, तीन समयाधिक जघन्य स्थिति-स्थान के अध्यवसायों की कंडक के ऊपर के तृतीय स्थितिस्थान में, इस तरह किसी भी विवक्षित स्थितिस्थान के अध्यवसायों की अनुकृष्टि उस

स्थितिस्थान के कंडक के चरम स्थान में पूर्ण होती है। जिससे इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट स्थितिबंध के अन्तिम कंडकप्रमाण स्थितिस्थानों में के प्रथम स्थितिस्थान के अध्यवसायों की अनुकृष्टि कंडक के चरम स्थिति रूप सर्वोत्कृष्ट स्थितिस्थान में पूर्ण होती है।

पराघात आदि छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि सर्वोत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान से अपने-अपने अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध तक मतिज्ञानावरण आदि से विपरीत कम से जानना चाहिए। जो इस प्रकार—

सर्वोत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान में नीचे-नीचे के स्थिति-स्थानों की अपेक्षा अल्प होने पर भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबंध के अध्यवसाय होते हैं। उनमें से आरम्भ के एक असंख्यातवें भाग प्रमाण को छोड़कर शेष सर्व और छोड़े गये से कुछ अधिक नये अध्यवसाय समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान होते हैं, समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान में जो अध्यवसाय हैं, उनमें के आदि के एक असंख्यातवें भाग प्रमाण अध्यवसायों को छोड़कर शेष सर्व और छोड़े गये अध्यवसायों से कुछ अधिक नये अध्यवसाय दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान में होते हैं।

इस तरह प्रत्येक स्थितिबंधस्थान में अध्यवसायों में के आदि के एक एक असंख्यातवें भाग प्रमाण अध्यवसायों को छोड़कर शेष सर्व एवं छोड़ी हुई संख्या से कुछ अधिक नये-नये अध्यवसाय नीचे-नीचे के स्थितिबंधस्थान में जाने वाले होने से सर्वोत्कृष्ट स्थितिबंध के अध्यवसाय प्रथम कंडक के चरम स्थिति-स्थान तक जाते हैं। इसी तरह समयोन उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान के रसबंध के अध्यवसायों की अनुकृष्टि कंडक के नीचे के प्रथम स्थितिबंधस्थान में, दो समय न्यून उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान के अध्यवसायों की कंडक के नीचे दूसरे स्थितिबंधस्थान में, तीन समय न्यून उत्कृष्ट स्थितिबंधस्थान के अध्यवसायों की कंडक के नीचे के तीसरे स्थिति-स्थान में पूर्ण होती है, यावत् सबसे नीचे के कंडक के पहले स्थिति-स्थान के अध्यवसायों की अनुकृष्टि, उसी कंडक के चरम स्थिति-स्थान रूप अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति-स्थान में पूर्ण होती है।

सातावेदनीय आदि सोलह परावर्तमान शुभ प्रकृतियों और असातावेदनीय आदि अट्ठाईस परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विचार करने के पूर्व निम्नलिखित बिन्दुओं को ध्यान में रखना चाहिए—

शुभ और अशुभ प्रतिपक्ष प्रकृतियों के जितने स्थितिस्थान प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में परावर्तन रूप से बधते हैं, उतने स्थिति-स्थानों को आक्रांत स्थितिस्थान कहा जाता है।

जैसे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से प्रतिपक्ष दोनों प्रकृतियों में से जिस प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध कम हो वहाँ तक के सभी स्थितिस्थान आक्रांत कहलाते हैं, जिससे अभव्यप्रायोग्य साता-असाता वेदनीय के जघन्य स्थितिबंध से साता के पन्द्रह कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध तक के सभी स्थितिस्थान दोनों प्रकृतियों के आक्रान्त कहलाते हैं और उनमें की जिस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति अधिक हो, वे स्थितिस्थान शुद्ध कहलाते हैं। अर्थात् दोनों प्रकृतियाँ बंधें, वैसे मध्यम परिणाम नहीं होते हैं, परन्तु अधिक खराब परिणाम हों तभी जो स्थिति बंधती हैं, जैसे कि पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबंध से अधिक स्थितिबंधयोग्य संकिलष्ट परिणाम हों तब समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम से तीस कोडाकोडी सागरोपम तक की असातावेदनीय की स्थिति बंधती है, जिससे वे सभी स्थितिस्थान शुद्ध कहलाते हैं।

इसी प्रकार प्रतिपक्ष दो प्रकृतियों में से जिस प्रकृति का अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से भी अधिक न्यून जघन्य स्थितिबंध होता है उन प्रकृतियों का उसकी प्रतिपक्ष प्रकृति का अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से अपने जघन्य स्थितिबंध तक के नीचे के स्थितिस्थान शुद्ध होते हैं और इसी कारण असातावेदनीय के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से नीचे सातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध तक के सातावेदनीय के शुद्ध स्थितिस्थान होते हैं। अर्थात् अधिक विशुद्धि वाले परिणाम हों तब अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से भी हीन सातावेदनीय का जघन्य स्थितिबंध होता है, जिससे सातावेदनीय के वे स्थिति-स्थान शुद्ध कहलाते हैं।

अमुक अपवाद के सिवाय शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध से अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध अधिक होता है। अतएव शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध से अशुभ प्रकृतियों का जितना अधिक उत्कृष्ट स्थिति-बंध होता है, वह सब अशुभ प्रकृतियों का शुद्ध स्थितिस्थान होता है तथा अशुभ प्रकृतियों का अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से प्रायः शुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध अत्यल्प होता है, जिससे अशुभ प्रकृतियों के अभव्य प्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध से शुभ प्रकृतियों के नीचे के स्थितिस्थान शुद्ध होते हैं।

प्रतिपक्ष दोनों प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति समान होने पर भी अमुक मर्यादा तक का दोनों प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबध करने वाले जीव एक न हों किन्तु भिन्न स्वरूप वाले हों तो वे अर्थात् स्थितिस्थान आक्रांत नहीं भी होते किन्तु शुद्ध होते हैं। जैसे कि नरकद्विक और तिर्यंचद्विक की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति समान होने पर भी समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम से बीस कोडाकोडा सागरोपम तक की नरकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति मनुष्य, तिर्यंच और तिर्यंचद्विक की देव और नारक ही बांधते हैं। इसी प्रकार समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम से बीस कोडाकोडो सागरोपम तक की स्थावरनाम की उत्कृष्ट स्थिति मात्र ईशान तक के देव और त्रस नाम की ईशान तक के देवों को छोड़कर शेष चार गति के जीव बांधते हैं। अतएव वे भी सभी स्थिति-स्थान शुद्ध होते हैं।

सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध में असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबंध के जो अध्यवसाय हैं वे सब और उनमें भी तीव्र शक्ति वाले कुछ नये अध्यवसाय समयोन उत्कृष्ट स्थितिबंध में भी होते हैं। समयोन उत्कृष्ट स्थितिबंध में जो अध्यवसाय होते हैं, वे सब और उनसे भी तीव्र शक्ति वाले कुछ नये अधिक अध्यवसाय दो समयोन उत्कृष्ट स्थितिबंध में भी होते हैं। दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति-बंध में जो अध्यवसाय हैं, वे सब और उनसे तीव्र शक्ति वाले कुछ नये

अधिक अध्यवसाय त्रिसमयोन उत्कृष्ट स्थितिबंध में होते हैं। इस प्रकार असातावेदनीय के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के समान साता वेदनीय का जघन्य स्थितिबंध प्राप्त हो वहाँ तक ऊपर-ऊपर के स्थिति-स्थान में जितने-जितने अध्यवसाय होते हैं, वे सब और उनसे अधिक तीव्र शक्ति वाले कुछ नये अधिक-अधिक अध्यवसाय होते हैं।

असाता के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के समान सातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध में जो रसबंध के अध्यवसाय हैं, उनमें के प्रारम्भ के एक असंख्यातवें भाग जितने छोड़कर शेष सर्व और जो छोड़े हैं उनसे अधिक नये अध्यवसाय साता-वेदनीय के समयोन जघन्य स्थितिबंध में होते हैं। समयोन जघन्य स्थितिबंध में जो अध्यवसाय हैं, उनमें के प्रारम्भ के असंख्यातवें भाग जितने छोड़कर शेष सर्व एवं जो छोड़े हैं, उनसे कुछ अधिक नये साता के दो समयोन जघन्य स्थिति-बंध में होते हैं।

इस तरह असाता के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के समान साता के जघन्य स्थितिबंध-स्थान के अध्यवसायों की अनुकृष्टि प्रथम कंडक के चरम स्थितिस्थान में पूर्ण होती है। समयोन जघन्य स्थितिबंध के अध्यव-सायों की अनुकृष्टि कंडक के बाद के नीचे के स्थितिस्थान में पूर्ण होती है। इस तरह साता के जघन्य स्थितिबंध के अन्तिम कंडक के पहले स्थिति स्थान की अनुकृष्टि उसी कंडक के चरम स्थितिस्थान रूप जघन्य स्थितिबंध में पूर्ण होती है।

शेष सभी परावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

असातावेदनीय आदि परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध में जो रसबंध के अध्यवसायस्थान हैं, वे सब और उनसे तीव्र शक्ति वाले कुछ अधिक नये अध्यवसाय समयाधिक जघन्य स्थिति-बंधस्थान में होते हैं, और समयाधिक जघन्य स्थितिबंधस्थान में जो अध्यवसाय हैं, वे सब एवं उनसे तीव्र शक्ति वाले थोड़े नये दो समयाधिक जघन्य स्थितिबंधस्थान में होते हैं। इस तरह साता-वेदनीय आदि प्रतिपक्ष

प्रकृतियों के पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम आदि उत्कृष्ट स्थितिबंध तक असातावेदनीय आदि प्रकृतियों के पूर्व पूर्व के नीचे के स्थितिस्थान में रस-बंध के जो अध्यवसाय हैं, वे सब और उनसे तीव्र शक्ति वाले कुछ अधिक नये नये अध्यवसाय उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के स्थितिस्थान में होते हैं।

सातावेदनीय आदि की उत्कृष्ट स्थिति के समान असातावेदनीय आदि की पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिबन्धस्थान में जो अध्यवसाय हैं उनके प्रारम्भ के असंख्यातवें भाग के अध्यवसायों को छोड़कर शेष सर्व और कुछ अधिक तीव्र शक्ति वाले अध्यवसाय समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिबन्धस्थान में होते हैं और इस स्थितिबन्धस्थान में जो अध्यवसाय हैं उनमें के प्रारम्भ के असंख्यातवें भाग प्रमाण अध्यवसाय छोड़कर शेष सर्व और छोड़े हुए अध्यवसायों की संख्या से कुछ अधिक नये दो समया-धिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिबन्धस्थान में होते हैं। यहाँ जो अध्यवसाय हैं उनमें का शुरू का असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष सर्व और छोड़ी हुई संख्या से कुछ अधिक नये अध्यवसाय त्रिसमयाधिक पन्द्रह कोडा-कोडी सागरोपम के स्थितिबन्धस्थान में होते हैं।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व के स्थितिबन्धस्थान में रहे हुए अध्यवसायों का प्रारम्भ का असंख्यातवां भाग छोड़-छोड़कर शेष सर्व और जो छोड़े हैं, उनसे कुछ अधिक-अधिक तीव्र शक्ति वाले अध्यवसाय असातावेदनीय आदि प्रकृतियों के तीस कोडाकोडी सागरोपम आदि के उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्थान तक होते हैं। वहाँ असातावेदनीय के पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बन्ध के ऊपर के स्थितिबन्धस्थान के अध्यवसायों की अनुकृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण ऊपर के कन्डक के अन्तिम स्थितिस्थान में पूरी होती है। आक्रांत स्थितियों की ऊपर के पहले कंडक के दूसरे स्थितस्थान के अध्यवसायों की कंडक के ऊपर के पहले स्थितिस्थान में, आक्रान्त स्थिति के ऊपर के तीसरे स्थितिबन्धस्थान के अध्यवसायों की अनुकृष्टि निवर्तन कन्डक के ऊपर के दूसरे स्थितिस्थान में पूर्ण होती है।

इस प्रकार विवक्षित प्रत्येक स्थितिबन्धस्थान के अध्यवसायों की अनु-कृष्टि उस-उस कन्डक के चरम स्थितिस्थान में पूर्ण होती है। जिससे सर्वो-

त्कृष्ट स्थितिबन्ध के अन्तिम कन्डक के प्रथम स्थितिस्थान की अनुकृष्टि उसी कन्डक के चरम स्थितिस्थान रूप तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण चरम स्थितिबन्धस्थान में पूर्ण होती है। किन्तु सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक तथा मध्यम चार संस्थान और चार संहनन इन चौदह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अपनी-अपनी प्रतिपक्ष प्रकृतियों से कम है, अतएव अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्धस्थान से अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक के सभी और कुछ नये-नये अध्यवसाय होते हैं। ये सभी स्थितियाँ आक्रान्त होती हैं इसलिए इन चौदह प्रकृतियों में उपर्युक्त असातावेदनीय आदि की तरह शुद्ध स्थिति-स्थान नहीं होते हैं।

सातवीं नरकपृथ्वी के नारक के सिवाय दूसरा कोई भी जीव सम्यक्त्वादि गुणों की प्राप्ति के समय तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र नहीं बाँधते हैं, परन्तु सातवीं नारक के जीव मिथ्यात्वावस्था में इन तीन प्रकृतियों को अवश्य बाँधने वाले होने से उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व समय में भी इन्हीं तीन प्रकृतियों को बाँधते हैं और उस समय अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से भी अत्यल्प स्थितिबन्ध होता है, अतः मिथ्यात्व के चरम समय में तिर्यंच गति आदि इन तीन प्रकृतियों को सातवीं नरक पृथ्वी का नारक जितना जघन्य स्थितिबन्ध करता है, वहाँ से अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध तक इन तीन प्रकृतियों के अध्यवसायों की अनुकृष्टि मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियों के समान होती है और अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक असातावेदनीय के समान अनुकृष्टि होती है। अर्थात् अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से तिर्यंचद्विक का अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण और नीचगोत्र का दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबन्ध आये, वहाँ तक के स्थितिस्थान आक्रांत होते हैं और तिर्यंचद्विक के समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम से और नीचगोत्र के समयाधिक दस कोडा कोडी सागरोपम से ऊपर के बीस कोडाकोडी सागरोपम तक के सभी स्थिति-स्थान शुद्ध होते हैं।

त्रसचतुष्क सामान्य रूप से शुभ प्रकृति वर्ग में गर्भित हो सकता है,

जिससे इन चारों प्रकृतियों की अनुकृष्टि सातावेदनीय के समान हो सकती है। परन्तु बीस कोडाकोडी सागरोपम से समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण त्रसनाम का स्थितिबन्ध ईशान तक के देवों को छोड़कर अन्य चारों गति के जीव और स्थावरनाम का ईशान तक के देव ही करते हैं। बादरत्रिक की प्रतिपक्षी सूक्ष्मत्रिक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अठारह कोडाकोडी सागरोपम से अधिक है ही नहीं, इसलिये इन चारों प्रकृतियों की अनुकृष्टि पृथक बताई जाती है। अर्थात् बीस कोडाकोडी सागरोपम से समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबन्ध तक पराघात की तरह और बाद में अपने-अपने जघन्य स्थितिबन्ध तक सातावेदनीय की तरह अनुकृष्टि होती है। यानि अठारह कोडाकोडी सागरोपम से इनके प्रतिपक्ष स्थावरचतुष्क के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध के समान स्थितिबन्ध हो वहाँ तक के सभी स्थितिस्थान आक्रान्त होते हैं और उनके सिवाय ऊपर के तथा नीचे के इस प्रकार दोनों बाजुओं के समस्त स्थितिस्थान शुद्ध होते हैं।

अब उक्त भूमिका के आधार पर प्रारूपों के माध्यम से प्रकृतियों की अनुकृष्टि को स्पष्ट करते हैं।

□□

परिशिष्ट १२

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभ वर्णादि ९, उपघात १=५५)।

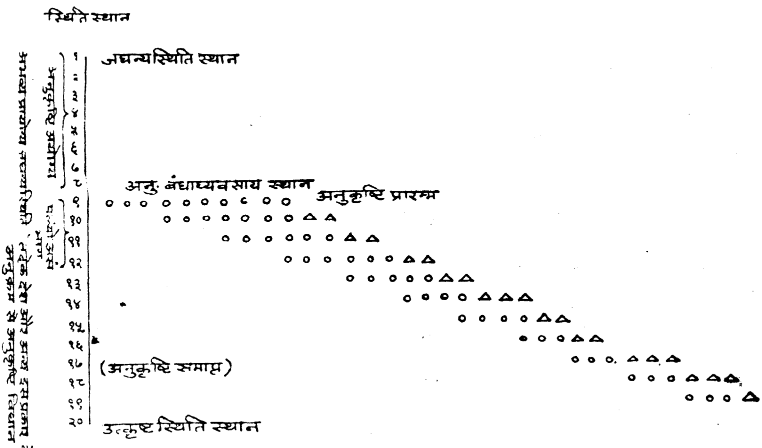

१ अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के पश्चात की स्थितिवृद्धि से अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है।

२ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति को १ से ८ तक के अंक द्वारा बतलाया गया है। क्योंकि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान (अन्तः कोडा-

कोडी) से नीचे के स्थितिस्थान अनुकृष्टि के अयोग्य हैं। अतः उनसे आगे ९ के अंक से आरम्भ करके २० तक के १२ स्थितिस्थानों में अनुकृष्टि का विचार किया गया है। ये प्रत्येक अंक एक-एक स्थितिस्थान का प्रतिनिधित्व करते हैं।

३ नौ के अंक से जो अनुकृष्टि प्रारम्भ हुई है उसमें अंक के सामने रखे गये ० (शून्य) तथा △ (त्रिकोण) को अनुभागबंधाध्यवसायस्थान रूप जानना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि ० (शून्य) से मूल अनुभागबंधाध्यवसायस्थान और △ (त्रिकोण) से मूलोपरान्त का नवीन स्थान समझना चाहिये।

४ जघन्य स्थितिबंधवृद्धि का प्रमाण पल्य का असंख्यातवां भाग है। जिसे यहाँ ९ से १२ तक के चार अंकों द्वारा दिखाया गया है।

५ नौ के अंक से जो अनुकृष्टि प्रारम्भ हुई है, उसमें वहाँ जितने अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका 'तदेकदेश' एवं अन्य इतने अनुस्थान दसवें स्थान में होते हैं। 'तदेकदेश एवं अन्य' अर्थात् पूर्व स्थान के अध्यवसायों के असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष सर्व और दूसरे भी। नौवें स्थितिस्थान में जो स्थान होते हैं, उनमें के दसवें स्थितिस्थान में तदेकदेश-रूप शून्य के द्वारा बताये गये स्थान हैं। उन्हें बताने के लिए शून्यों में से आदि के यथायोग्य शून्य खाली छोड़कर शेष शून्यों के नीचे पुनः शून्य दिये गये हैं। अर्थात् पूर्व स्थिति-स्थान में के अनु-स्थानों की पीछे के स्थितिस्थानों में अनुकृष्टि जानना तथा △ (त्रिकोण) द्वारा 'अन्य' दूसरे नवीन अनु-स्थान जानना चाहिये।

६ बारहवें स्थितिस्थान में नौवें स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त होती है। वहाँ तक नौवें स्थान के अनु-स्थान होते हैं। किन्तु इससे आगे तेरहवें आदि स्थानों में उनका एक भी अनु-स्थान नहीं होता है। इसी तरह आगे के स्थानों के लिये समझना चाहिये। अर्थात् इसके बाद के दस आदि स्थितिस्थान सम्बन्धी अनु-स्थानों की अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है, जो

उससे आगे के स्थितिस्थान में समाप्त होती है। इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थिति-स्थान तक समझना चाहिय।

७ इसी प्रकार से छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि प्ररूपणा जानना चाहिए। लेकिन इतना विशेष है कि उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ करके अनुकृष्टि अयोग्य जघन्य स्थितिस्थानों को छोड़कर शेष जघन्य स्थितिस्थान तक समाप्त करना चाहिये।

□□

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(पराघात, बन्धननाम १५, शरीरनाम ५, संघातनाम ५, अंगोपांग ३, शुभवर्णादि ११, तीर्थंकर, निर्माणनाम, अगुरुलघुनाम, उच्छ्वास, आतप, उद्योतनाम=४६)।

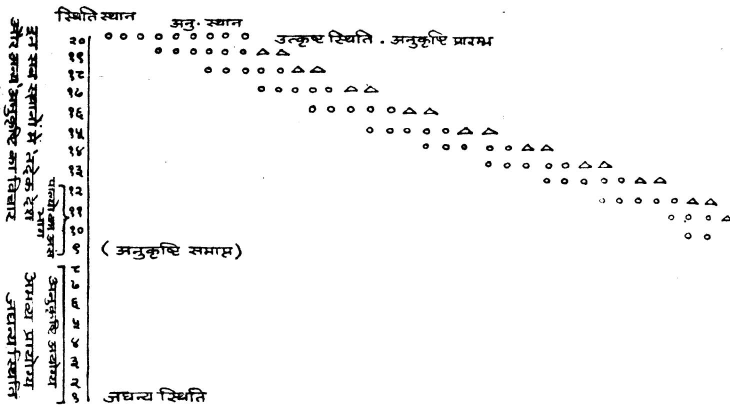

१. अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्थान से प्रारम्भ होती है।

२. उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्थान में जो अनु. स्थान होते हैं, उनका असंख्यातवाँ भाग छोड़कर शेष भाग और अन्य उससे अधस्तनवर्ती स्थितिस्थान में होते हैं। जिसे ३ बिन्दु रूप असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष भाग को लेते हुए

'अन्य' को दो △ से १६वें अंक में बताया है। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग स्थितियाँ अतिक्रांत होती हैं। यहाँ पर उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त होती है। जो उत्कृष्ट स्थितिस्थान २० के अंक से ६ के अंक तक जानना।

३. इसके बाद के अधस्तनस्थान में एकसमयोन उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के प्रारम्भ में जो अनु. स्थान थे, उनकी अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिए जब तक जघन्य स्थिति का स्थान प्राप्त होता है और उन कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थिति होती है।

४. अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति अनुकृष्टि के अयोग्य है। अतः उसमें अनुकृष्टि का विचार नहीं किया जाता है जो १ से ८ अंकों द्वारा प्रदर्शित की है।

□□

परिशिष्ट १४

परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(असातावेदनीय, स्थावरदशक, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, आदि से रहित संस्थान तथा संहनन १०, नरकद्विक, अशुभ विहायोगति = २८)

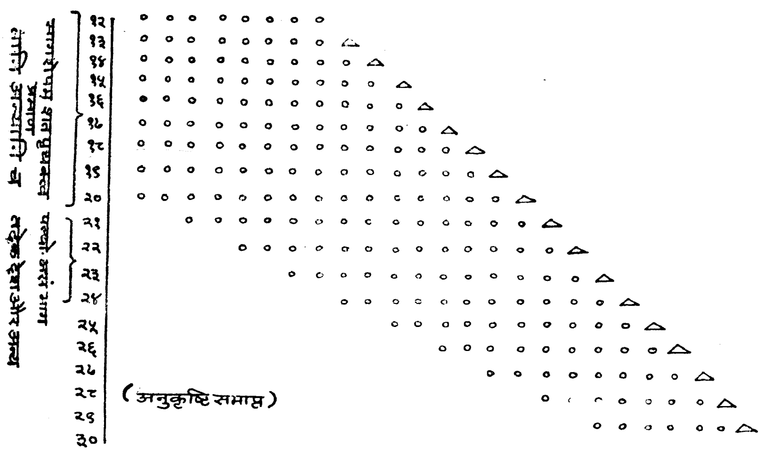

१. परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विचार असातावेदनीय के माध्यम से किया है।

२. असातावेदनीय में दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

१. तानि अन्यानि च, २. तदेकदेश और अन्य।

३. इस प्रकार की अनुकृष्टि सातावेदनीय की अनुकृष्टि से विपरीत जानना।

४. अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान से सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति तक की स्थितियां सातावेदनीय के साथ परावर्तमान रूप से बंधती हैं। वे परस्पर आक्रांत स्थितियां हैं, जिन्हें ~~ इस प्रकार की पंक्ति से सूचित किया है। वहाँ तक 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिए।

५. इसके आगे उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त 'तदेकदेश और अन्य' के क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिए। जिसे प्रारूप में २१ से ३० तक के अंकों द्वारा बताया है।

६. पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों के जाने पर जघन्य अनु. स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उससे आगे उत्तर-उत्तर के स्थान में पूर्व-पूर्व के एक-एक स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। यह क्रम असाता की उत्कृष्ट स्थिति तक जानना चाहिए।

□□

परिशिष्ट १५

परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(सातावेदनीय, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान वज्रऋषभनाराचसंहनन, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क, उच्चगोत्र=१६)।

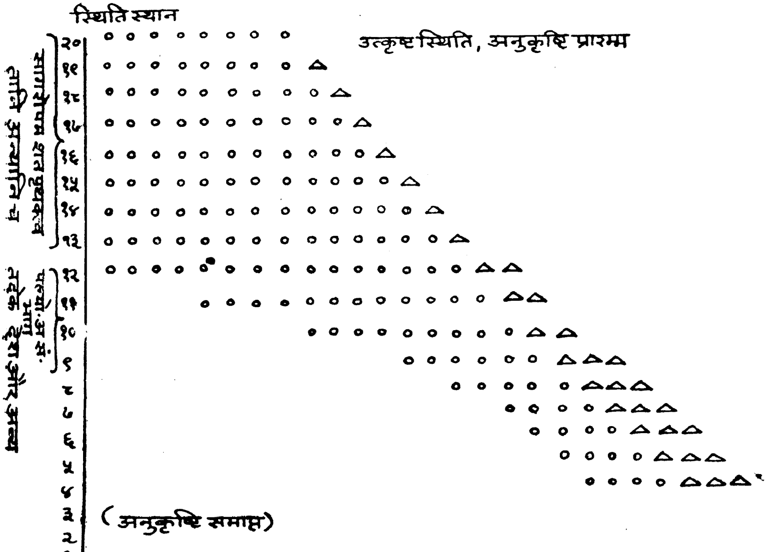

१. परावर्तमान शुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का विचार सातावेदनीय के माध्यम से किया है।

२. सातावेदनीय में सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थितिस्थानों में १. 'तानि अन्यानि च' और पल्यो. असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों में २. 'तदेकदेश और अन्य' इस तरह दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है।

३. साता की उत्कृष्ट स्थिति के जो अनु. स्थान हैं, वे सभी एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिस्थान में भी होते हैं और अन्य भी होते हैं।

४. प्रारूप में २० का अंक साता की उत्कृष्ट स्थिति का द्योतक है और उसके सामने दिये गये बिन्दु अनुभाग स्थानों के सूचक हैं।

५. समयोन उत्कृष्ट स्थितिस्थान के सूचक १९वें अंक में उन सर्व अनु. स्थानों की अनुकृष्टि २०वें अंक के बिन्दुओं द्वारा बतलाई है तथा △ अन्य अनु. स्थानों का सूचक है। ये △ द्वारा सूचित अन्य अनुभाग स्थान उत्तरोत्तर अधिक जानना। यह क्रम उत्तरोत्तर सागरोपमशतपृथक्त्व तक जानना, जिसे प्रारूप में १२ के अंक तक बतलाया है। यह क्रम अभव्यप्रायोग्य असातावेदनीय की जघन्य स्थिति के बन्ध तक चलता है।

६. उसके आगे 'तदेकदेश और अन्य' के प्रमाण से अनुकृष्टि सातावेदनीय के जघन्य स्थितिबन्ध तक जानना। जिसकी अनुकृष्टि पूर्वोक्त अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवत् है।

□□

परिशिष्ट १६

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का प्रारूप

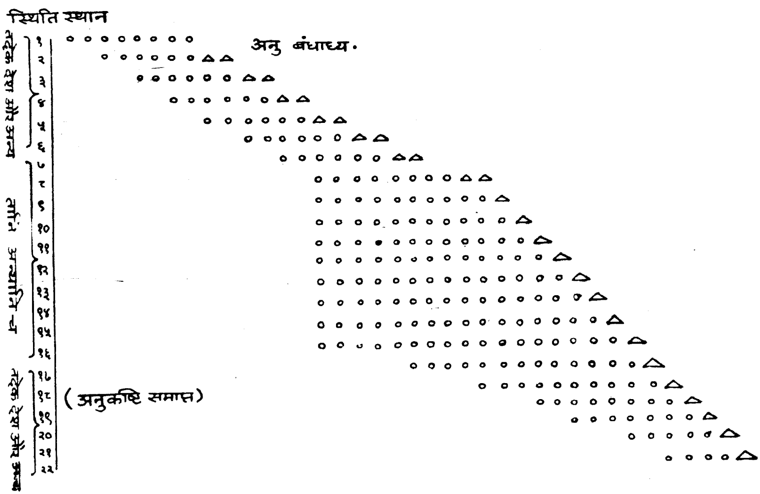

१. तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र में तीन प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

(अ) 'तदेकदेश और अन्य'—जिसे अभव्य प्रा. ज. स्थान से नीचे के स्थान बताने वाले १ से ६ तक के अंक द्वारा बताया है।

(आ) 'तानि अन्यानि च'—अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबन्ध के योग्य सागरोपमशतपृथक्त्व स्थितियों में 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से जानना जिसे ७ से १६ तक के अंक द्वारा बताया है।

(इ) 'तदेकदेश और अन्य'—इसके आगे उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त जानना। जिसे १७ से २२ तक के अंक द्वारा स्पष्ट किया है।

त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का प्रारूप

(त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक=४)

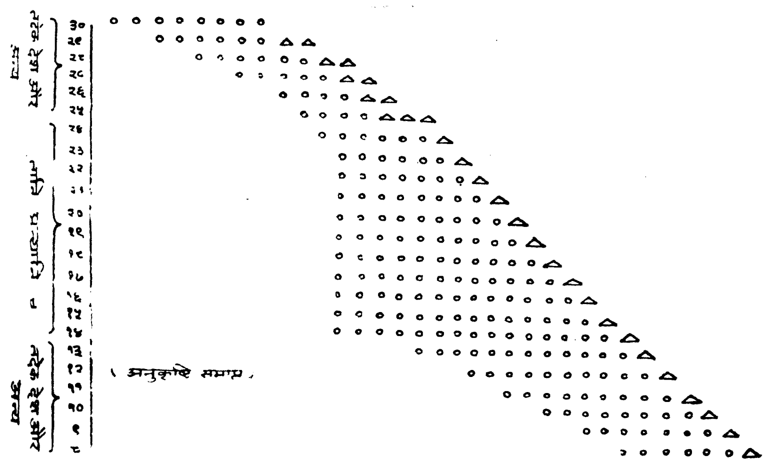

त्रसचतुष्क में तीन प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

(अ) 'तदेकदेश और अन्य'—त्रसचतुष्क में उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागरोपम से अधः अधः आते हुए १८ कोडाकोडी सागरोपम तक 'तदेकदेश और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि जानना। जिसे प्रारूप में ३० से २५ तक के अंकों द्वारा बताया है।

(आ) 'तानि अन्यानि च'—इससे आगे (१८ सागरोपम से नीचे सागरोपम शतपृथक्त्व तक) अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान तक 'तानि अन्यानि च' के क्रम से जानना, जिसे प्रारूप में २४ से १४ तक के अंकों द्वारा बतलाया है।

(इ) 'तदेकदेश और अन्य'—इससे नीचे पल्योपम के असंख्यातवें भाग स्थितिस्थानों में 'तदेकदेश और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है। जिसे प्रारूप में अंक १३ से ८ तक के अंक द्वारा बतलाया है।

□□

असत्कल्पना द्वारा तीव्रता-मंदता की स्थापना की रूपरेखा

प्रकृतियों में जैसे परावर्तमान, अपरावर्तमान शुभ, अशुभ की अपेक्षा अनुभागबंधस्थानों की अनुकृष्टि का विचार किया गया है, उसी प्रकार से अब उनकी तीव्रता-मंदता का स्पष्टीकरण असत्कल्पना के प्रारूप द्वारा करते हैं।

तीव्रता-मंदता का परिज्ञान करने के लिये यह सामान्य नियम है कि सभी प्रकृतियों का अपने-अपने जघन्य अनुभागबंध से आरम्भ कर उत्कृष्ट अनुभागबंध तक प्रत्येक स्थितिबंधस्थान में उत्तरोत्तर अनुक्रम से पूर्वापेक्षा अनन्तगुण, अनन्तगुण अनुभाग समझना चाहिये। लेकिन अशुभ और शुभ प्रकृतियों की अपेक्षा विशेषता इस प्रकार है—

१. शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ कर जघन्य स्थितिस्थान तक उत्तरोत्तर नीचे-नीचे अनुक्रम से अनन्तगुण, अनन्तगुण अनुभाग समझना चाहिये।

२. अशुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितस्थान से आरम्भ कर उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के क्रमानुसार उत्कृष्ट स्थितिस्थान में अनन्तगुण-अनन्तगुण अनुभाग होता है।

इस प्रकार सामान्य से तीव्रता-मंदता का नियम बतलाने के पश्चात् असत्कल्पना के प्रारूप द्वारा अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता को स्पष्ट करते हैं।

□□

परिशिष्ट १६

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभवर्णादि ६, उपघात १ = ५५)

तीव्रता-मंदता के अयोग्य	१	
	२	
	३	
	४	
	५	
	६	
	७	
	८	
निवर्तन कंडक	९ का जघन्य अनु. अल्प. उससे	
	१० ,, अनन्तगुण	
	११ ,, ,,	
	१२ ,, ,,	—९ का उत्कृष्ट अनु. अनं. गुण उससे
	१३ ,, ,,	—१० ,, ,,
	१४ ,, ,,	—११ ,, ,,
	१५ ,, ,,	—१२ ,, ,,
	१६ ,, ,,	—१३ ,, ,,
	१७ ,, ,,	—१४ ,, ,,
	१८ ,, ,,	—१५ ,, ,,
	१९ ,, ,,	—१६ ,, ,,
	२० ,, ,,	—१७ ,, ,,
	कंडक प्रमाण स्थितियाँ	१८ ,, ,,
		१९ ,, ,,
		२० ,, ,,

१. अभव्यप्रायोग्य (अन्तःकोडाकोडी रूप) जघन्य स्थितिस्थान तीव्रता-मंदता के अयोग्य हैं। जिन्हें प्रारूप में १ से ८ तक के अंक द्वारा बताया है।

२. निवर्तनकण्डक की प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग से जघन्य स्थिति में उत्तरोत्तर अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ९ से १२ तक के अंक द्वारा बताया है।

३. तदनन्तर कण्डक से ऊपर प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में अंक १२ के सामने ९ का अंक देकर बताया है।

४. इसके बाद कण्डक से ऊपर द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में १३ के अंक से बताया है।

५. उसके नीचे द्वितीय स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में अंक १३ के सामने १० का अंक देकर बताया है।

६. इसके बाद तृतीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में १४ के अंक से बताया है।

७. इस प्रकार एक ऊपर और एक नीचे यथाक्रम से अनन्तगुणत्व तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता है। जिसे प्रारूप में १४-११, १५-१२, १६-१३, १७-१४ आदि लेते हुए उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग २० के अंक तक बताया है।

८. शेष कण्डक मात्र उत्कृष्ट स्थिति का जो अनुभाग अनुक्त है, वह सर्वोत्कृष्ट स्थिति के जघन्य अनुभाग से कण्डक मात्र स्थितियों की प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, फिर उसकी उपरितन स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। पुनः उसके बाद की उपरितन स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभाग का अनन्तगुणत्व उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये। जिसे प्रारूप में कण्डक प्रमाण (१७-२०) चार स्थितियां लेकर बताया है। इनमें प्रथम स्थिति १७ के अंक से है। तत्पश्चात १८, १९, २० के अंक तक अनन्तगुणत्व जानना चाहिये।

६. २० का अंक उत्कृष्ट स्थिति व उत्कृष्ट अनुभाग का सूचक है।

१०. इस प्रकार की रेखा '—' परस्पर-आक्रान्त-प्ररूपणादर्शक है। जिसका आशय यह है कि १२ के अंक के जघन्य अनुभाग से अंक ६ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, ६ के अंक के उत्कृष्ट अनुभाग से १३ के अंक का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, १३ के अंक के जघन्य अनुभाग से ११ के अंक का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इसी प्रकार के क्रम से जघन्य, उत्कृष्ट अनुभाग की अनन्तगुणता परस्पर आक्रान्त प्ररूपणा से करना चाहिये।

□□

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(पराघात, उद्योत, आतप, शुभवर्णादि ११, अगुरुलघु, निर्माण, तीर्थंकर, उच्छ्वास, बन्धननाम १५, शरीरनाम ५, संघातनाम ५, अंगोपांगनाम ३ = ४६)

उक्त प्रकृतियों की तीव्रता-मन्दता का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

निवर्तन कंडक	२०	का जघन्य अनु.	अल्प उससे			
	१९	,,	अनन्तगुण			
	१८	,,	,,			
	१७	,,	,,	—२०	का उत्कृष्ट अनु.	अनन्तगुण उससे
	१६	,,	,,	—१९	,,	,,
	१५	,,	,,	—१८	,,	,,
	१४	,,	,,	—१७	,,	,,
	१३	,,	,,	—१६	,,	,,
	१२	,,	,,	—१५	,,	,,
	११	,,	,,	—१४	,,	,,
	१०	,,	,,	—१३	,,	,,
	९	,,	,,	—१२	,,	,,
अभव्यप्रायोग्य स्थिति	८			११	,,	,,
	७			१०	,,	,,
	६			९	,,	,,
	५			८		
	४			७		
	३			६		
	२			५		
	१			४		
				३		
				२		
				१		

१. अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मन्दता का विचार अनुकृष्टि की तरह उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ कर अभव्य-प्रायोग्य स्थिति को छोड़कर शेष स्थितियों में करना चाहिए। अभव्यप्रायोग्य स्थिति १ से ८ तक के अंक द्वारा बताई है तथा २० का अंक उत्कृष्ट स्थिति का दर्शक है।

२, उत्कृष्ट स्थिति के जघन्य पद का जघन्य अनुभाग अल्प है। इसके बाद समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, उससे भी द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। यह तब तक कहना यावत् निवर्तनकण्डक अर्थात् पल्योपम के असंख्यातभाग मात्र स्थितियाँ अतिक्रांत हो जाती हैं। जिन्हें प्रारूप में २० से १७ के अंक तक बताया है।

३. निवर्तनकण्डक से नीचे प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में २० के अंक से बताया है।

४. उसके बाद समय कम उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में १६ के अंक से नीचे के अंक से बताया है। निवर्तनकण्डक से नीचे द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे १५ के अंक से बतलाया है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिए, जब तक जघन्य स्थिति का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता है।

५. प्रारूप में '—' इस प्रकार की पंक्ति परस्पर-आक्रांत-प्ररूपणा को दर्शक है। जिसका आशय यह है कि २० के अंक के उत्कृष्ट अनुभाग से १७ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है और पुनः १६, पुनः १८, पुनः १५ इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग ९ के अंक तक कहना चाहिये।

६. उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डकमात्र जो स्थितियां अनुक्त हैं, उसे जघन्य स्थिति पर्यन्त अनन्तगुण जानना चाहिये। जिन्हें प्रारूप में १२ के अंक से ९ के अङ्क पर्यन्त बताया है।

□□

परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(सातावेदनीय, मनुष्यगतिद्विक, देवगतिद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क और उच्च गोत्र)।

उक्त प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

सागरोपम शतपृथक्त्व—→	९० का	जघन्य अनु. स्तोक	उससे
	८९	,,	,,
	८८	,,	,,
	८७	,,	,,
	८६	,,	,,
	८५	,,	,,
	८४	,,	,,
	८३	,,	,,
	८२	,,	,,
	८१	,,	,,
	८०	,,	,,
	७९	,,	,,
	७८	,,	,,
	७७	,,	,,
	७६	,,	,,
	७५	,,	,,
	७४	,,	,,
	७३	,,	,,
	७२	,,	,,
	७१	,,	,,

↑

	७० का जघन्य अनु.	स्तोक	उससे
	६९	,,	,,
	६८	,,	,,
	६७	,,	,,
	६६	,,	,,
	६५	,,	,,
	६४	,,	,,
	६३	,,	,,
	६२	,,	,,
	६१	,,	,,
	६०	,,	,,
	५९	,,	,,
	५८	,,	,,
	५७	,,	,,
प्रमाण स्थितियाँ	५६	,,	,,
	५५	,,	,,
	५४	,,	,,
	५३	,,	,,
	५२	,,	,,
	५१	,,	,,
कंडक का असं. भाग	५०	,,	,,
	४९	,,	,,
	४८	,,	,,
	४७	,,	,,
	४६	,,	,,
	४५	,,	,,
	४४	,,	,,
अव. १ भाग कंडक का	४३	,,	,,
	४२	,,	,,
	४१	,,	,,

—९० का उत्कृष्ट अनु.	अनन्तगुण	उससे
८९	,,	,,
८८	,,	,,
८७	,,	,,
८६	,,	,,
८५	,,	,,
८४	,,	,,
८३	,,	,,

	८२	का उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण उससे
	८१	,,	,,
४३ का जघन्य अनु. अनन्तगुण उससे—	८०	,,	,,
	७९	,,	,,
	७८	,,	,,
	७७	,,	,,
	७६	,,	,,
	७५	,,	,,
	७४	,,	,,
	७३	,,	,,
	७२	,,	,,
	७१	,,	,,
४२ का जघन्य अनु. अनन्तगुण उससे—	७०	,,	,,
	६९	,,	,,
	६८	,,	,,
	६७	,,	,,
	६६	,,	,,
	६५	,,	,,
	६४	,,	,,
	६३	,,	,,
	६२	,,	,,
	६१	,,	,,
४१ का जघन्य अनु. अनन्तगुण उससे—	६०	,,	,,
	५९	,,	,,
	५८	,,	,,
	५७	,,	,,
	५६	,,	,,
	५५	,,	,,
	५४	,,	,,
	५३	,,	,,
	५२	,,	,,
	५१	,,	,,

४० का जघन्य	अनु.	अनन्तगुण उससे	—५० का उत्कृष्ट	अनु.	अनन्तगुण उससे
३९	,,	,,	—४९	,,	,,
३८	,,	,,	—४८	,,	,,
३७	,,	,,	—४७	,,	,,
३६	,,	,,	—४६	,,	,,
३५	,,	,,	—४५	,,	,,
३४	,,	,,	—४४	,,	,,
३३	,,	,,	—४३	,,	,,
३२	,,	,,	—४२	,,	,,
३१	,,	,,	—४१	,,	,,
३०	,,	,,	—४०	,,	,,
२९	,,	,,	—३९	,,	,,
२८	,,	,,	—३८	,,	,,
२७	,,	,,	—३७	,,	,,
२६	,,	,,	—३६	,,	,,
२५	,,	,,	—३५	,,	,,
२४	,,	,,	—३४	,,	,,
२३	,,	,,	—३३	,,	,,
२२	,,	,,	—३२	,,	,,
२१	,,	,,	—३१	,,	,,
		कण्डक प्रमाण स्थितियाँ	३०	,,	,,
			२९	,,	,,
			२८	,,	,,
			२७	,,	,,
			२६	,,	,,
			२५	,,	,,
			२४	,,	,,
			२३	,,	,,
			२२	,,	,,
			२१	,,	,,

१. परावर्तमान शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग स्तोक है। जिसे प्रारूप में ९० के अङ्क से बतलाया है। इसी प्रकार एक समय कम, दो समय कम यावत् सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति

का जघन्य अनुभाग पूर्वोक्त प्रमाण ही जानना अर्थात् स्तोक जानना। जिसे प्रारूप में ८९ के अङ्क से लेकर ५१ तक के अङ्क तक बताया है।

२. उससे (सागरोपम शतपृथक्त्व से) भी नीचे अनुभाग अनन्तगुण एक भाग हीन कण्डक के असंख्येय भाग तक जानना।

३. यहाँ असत्कल्पना से प्रत्येक कण्डक में १० संख्या समझना चाहिये। इस नियम से एक भागहीन कण्डक के असंख्येय भाग की ७ संख्या ली है। जिसे प्रारूप में ५० से ४४ तक के अङ्क द्वारा बतलाया है। एक भाग अवशेष रहा, उसके ४३, ४२, ४१ ये तीन अङ्क बतलाये हैं।

४. असंख्येय भागहीन (संख्येयभागहीन) शेष असंख्येयभाग स्थितियों की 'साकारोपयोगी' संज्ञा है।

५. उसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ४४ के अङ्क के सामने आने वाले ९० के अङ्क से बतलाया है। ये स्थितियाँ भी कण्डक मात्र होती हैं। इसलिए ९० से ८१ अङ्क तक की दस संख्या को कण्डक जानना।

६. इसके बाद जघन्य अनुभाग जहाँ से कहकर निवृत्त हुए थे, वहाँ से नीचे का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ४३ के अङ्क से बतलाया है।

७. इसके पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण है, जिसे ८० से ७१ अङ्क तक बतलाया है।

८. इसके बाद पुनः जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ४२ के अङ्क द्वारा बतलाया है।

९. इसके बाद पुनः उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण कण्डकमात्र तक जानना, जिसे ७० से ६१ तक के अङ्क द्वारा बतलाया हैं। पुनः जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में ४१ के अङ्क से बतलाया है।

१०. इसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण है, जिसे ६० से ५१ तक के अङ्क द्वारा बतलाया है। इस प्रकार

उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग ६० से ५१ तक सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण हैं।

११. इसके बाद पुनः प्रागुक्त जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्त-गुण है जिसे ४० के अङ्क से बतलाया है। इसके बाद उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त-गुण है, जिसे ५० के अङ्क से बतलाया है। इसी प्रकार जघ. अनु. तब तक कहना चाहिए, जब तक जघन्य अनुभाग की जघन्य स्थिति न आ जाये। ये परस्पर आक्रांत स्थितियां हैं, अतः अब जघन्य ३९, उत्कृष्ट ४९, जघन्य ३८, उत्कृष्ट ४८, जघन्य ३७, उत्कृष्ट ४७, इस प्रमाण से अनुभाग का दिग्दर्शन कराते हुए उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग २१ के अङ्क पर्यन्त जानना और उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग ३१ के अङ्क पर्यन्त जानना।

१२. इसके पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण कहना, जिन्हें ३० से २१ तक के अङ्क द्वारा बतलाया है।

□□

परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता–मंदता

(असातावेदनीय, नरकगतिद्विक, पंचेन्द्रियजाति हीन जातिचतुष्क, आदि के संस्थान और संहनन रहित शेष पांच संस्थान और संहनन, अशुभ विहायोगति, स्थावरदशक = २८)

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता का विचार अनुकृष्टि की तरह जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त किया जाता है।

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मन्दता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियाँ →

२१ का	जघन्य अनु.	अल्प उससे
२२	,,	,,
२३	,,	,,
२४	,,	,,
२५	,,	,,
२६	,,	,,
२७	,,	,,
२८	,,	,,
२९	,,	,,
३०	,,	,,
३१	,,	,,
३२	,,	,,
३३	,,	,,
३४	,,	,,

सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियाँ ↓	३५ का जघन्य अनु. अल्प उससे					
	३६	,,	,,			
	३७	,,	,,			
	३८	,,	,,			
	३९	,,	,,			
	४०	,,	,,			
	४१	,,	,,			
	४२	,,	,,			
	४३	,,	,,			
	४४	,,	,,			
	४५	,,	,,			
	४६	,,	,,			
	४७	,,	,,			
	४८	,,	,,			
	४९	,,	,,			
	५०	,,	,,			
कण्डक का असं० भाग	५१ का जघन्य अनु. अनन्तगुण उससे					
	५२	,,	,,			
	५३	,,	,,			
	५४	,,	,,			
	५५	,,	,,			
	५६	,,	,,			
	५७	,,	,,	—११ का उत्कृष्ट अनु. अनन्तगुण उससे		
अवशिष्ट एक भाग (कण्डक का)	५८	,,	,,	१२	,,	,,
	५९	,,	,,	१३	,,	,,
	६०	,,	,,	१४	,,	,,
				१५	,,	,,
				१६	,,	,,
				१७	,,	,,
				१८	,,	,,
				१९	,,	,,
				२०	,,	,,
५८ का जघन्य अनु. अनन्तगुण उससे				—२१	,,	,,

	२२ का	उत्कृष्ट अनु.	अनंतगुण उससे
	२३	,,	,,
	२४	,,	,,
	२५	,,	,,
	२६	,,	,,
	२७	,,	,,
	२८	,,	,,
	२९	,,	,,
	३०	,,	,,
५९ का ज. अनु. अनन्तगुण उससे—	३१	,,	,,
	३२	,,	,,
	३३	,,	,,
	३४	,,	,,
	३५	,,	,,
	३६	,,	,,
	३७	,,	,,
	३८	,,	,,
	३९	,,	,,
	४०	,,	,,
६० का ज. अनुभाग अनन्तगुण उससे—	४१	,,	,,
	४२	,,	,,
	४३	,,	,,
	४४	,,	,,
	४५	,,	,,
	४६	,,	,,
	४७	,,	,,
	४८	,,	,,
	४९	,,	,,
	५०	,,	,,
६१ का ज. अनुभाग अनन्तगुण उससे—	५१	,,	,,
६२ ,, ,, —	५२	,,	,,
६३ ,, ,, —	५३	,,	,,
६४ ,, ,, —	५४	,,	,,

६५ का जघन्य अनु.	अनन्तगुण उससे		—५५ का उत्कृष्ट अनु.	अनन्तगुण उससे	
६६	,,	,,	—५६	,,	,,
६७	,,	,,	—५७	,,	,,
६८	,,	,,	—५८	,,	,,
६९	,,	,,	—५९	,,	,,
७०	,,	,,	—६०	,,	,,
७१	,,	,,	—६१	,,	,,
७२	,,	,,	—६२	,,	,,
७३	,,	,,	—६३	,,	,,
७४	,,	,,	—६४	,,	,,
७५	,,	,,	—६५	,,	,,
७६	,,	,,	—६६	,,	,,
७७	,,	,,	—६७	,,	,,
७८	,,	,,	—६८	,,	,,
७९	,,	,,	—६९	,,	,,
८०	,,	,,	—७०	,,	,,
		अवशिष्ट कण्डक	७१	,,	,,
			७२	,,	,,
			७३	,,	,,
			७४	,,	,,
			७५	,,	,,
			७६	,,	,,
			७७	,,	,,
			७८	,,	,,
			७९	,,	,,
			८०	,,	,,

१. परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का जघन्य अनुभाग सर्वस्तोक (अल्प) है। जिसे प्रारूप में २१ के अङ्क से बतलाया है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, यावत् सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण तक सर्वस्तोक जानना। जिसे प्रारूप में २१ के अङ्क से लेकर ५० तक के अङ्क पर्यन्त बताया है।

२. उसके बाद उपरितन स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है। इसी

प्रकार आगे की द्वितीय आदि स्थितियों में कण्डक के असंख्येयभाग तक अनन्तगुणा कहना चाहिये। असत्कल्पना से कण्डक का संख्या प्रमाण १० अङ्क समझना चाहिये और उसका असंख्यातवां भाग ७ अङ्क, जिसे प्रारूप में ५१ से ५७ तक के अङ्क द्वारा बतलाया है तथा 'एकोऽवतिष्ठते' से तीन अङ्क (५८, ५९, ६०) लिये हैं।

३. परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय आदि कण्डक प्रमाण स्थितियों में अनन्तगुण, अनन्तगुण जानना। जिन्हें प्रारूप में अंक ११ से २० तक के अङ्क पर्यन्त बतलाया है।

४. जिस स्थिति के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उसकी उपरितन स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में ५८ के अङ्क से प्रदर्शित किया है।

५. प्रागुक्त उत्कृष्ट अनुभाग रूप कण्डक से ऊपर की प्रथम, द्वितीय, तृतीय यावत् कण्डक प्रमाण स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, अनन्त-गुण है। जिसे प्रारूप में २१ के अङ्क से ३० के अङ्क पर्यन्त बतलाया है।

६. इसके पश्चात् जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए, उससे ऊपर की जघन्य स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण होता है। जिसे प्रारूप में ५९ के अङ्क से बतलाया है।

७. इसके बाद पुनः प्रागुक्त कण्डक से ऊपर की कण्डक प्रमाण स्थितियों में उत्कृष्ट अनुभाग क्रमशः अनन्तगुण, अनन्तगुण जानना चाहिए। जिसे प्रारूप में ३१ से ४० के अङ्क पर्यन्त बतलाया है।

८. इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण तब तक कहना चाहिए, यावत् जघन्य अनुभाग सम्बन्धी एक-एक स्थितियों की 'तानि अन्यानि च—वही और अन्य' रूप अनुकृष्टि से कण्डक पूर्ण हो जाये अर्थात् कण्डक पर्यन्त अनन्तगुण कहना चाहिए। प्रारूप में जघन्य अनुभाग विषयक एक स्थिति ६० के अङ्क से अनन्तगुणी बताई है और उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितियाँ कण्डक प्रमाण

अनन्तगुणी ४१ से ५० के अंक पर्यन्त बतलाई हैं। इस प्रकार सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग ५० के अंक पर्यन्त कहना चाहिए।

९. इसके पश्चात् परस्पर आक्रान्त स्थितिस्थान हैं। अतः उसके ऊपर एक स्थिति, एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति से उपरितन स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप में क्रमशः ६१-५१ के अंक से बताया है। इसके ऊपर पुनः प्रागुक्त स्थिति की उपरितन स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है और सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण से ऊपर की द्वितीय स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप में क्रमशः ६२-५२ के अंक से बताया है।

१० इस प्रकार एक जघन्य और एक उत्कृष्ट का अनुभाग अनन्तगुण तब तक कहना यावत् असातावेदनीय के जघन्य अनुभाग की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। जिसे प्रारूप में ६३-५३, ६४-५४, ६५-५५ आदि लेते हुए ८० के अंक तक जघन्य स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग बताया है।

११. अभी जो उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डक मात्र स्थितियां अनुक्त हैं। वे भी यथोत्तर अनन्तगुणी जानना। जिसे प्रारूप में ७१-८० के अंक पर्यन्त उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग से बताया है।

□□

त्रसचतुष्क की तीव्रता-मन्दता

(त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक)

ये चारों प्रकृतियाँ परावर्तमान शुभ प्रकृतियां हैं। अतः इनकी तीव्रता-मंदता का विचार उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ करके जघन्य स्थिति पर्यन्त किया जायेगा।

इनकी तीव्रता-मंदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

निवर्तन-कंडक	९० का ज. अनुभाग अल्प उससे					
	८९	,,	अनन्तगुण			
	८८	,,	,,			
	८७	,,	,,			
	८६	,,	,,			
	८५	,,	,,			
	८४	,,	,,			
	८३	,,	,,			
	८२	,,	,,			
	८१	,,	,,	—९० का उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
अनाकृष्ट ↓	८०	,,	,,	—८९	,,	,,
	७९	,,	,,	—८८	,,	,,
	७८	,,	,,	—८७	,,	,,
	७७	,,	,,	—८६	,,	,,
	७६	,,	,,	—८५	,,	,,
	७५	,,	,,	—८४	,,	,,
	७४	,,	,,	—८३	,,	,,

कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ↓	७३	का ज. अनु. अनंतगुण	उससे	—	८२	का उत्कृष्ट अनु. अनन्तगुण	उससे
	७२	,,	,,	—	८१	,,	,,
	७१	,,	,,	—	८०	,,	,,
	७०	,,	,,	—	७९	,,	,,
	६९	,,	,,	—	७८	,,	,,
	६८	,,	,,	—	७७	,,	,,
	६७	,,	,,	—	७६	,,	,,
	६६	,,	,,	—	७५	,,	,,
	६५	,,	,,	—	७४	,,	,,
	६४	,,	,,	—	७३	,,	,,
	६३	,,	,,	—	७२	,,	,,
	६२	,,	,,	—	७१	,,	,,
	६१	,,	,,	—	७०	,,	,,
अभव्यप्रायोग्य अनुभागबंधस्थिति	६०	का ज. अनु अनंतगुण	उससे				
	५९	,,	,,				
	५८	,,	,,				
	५७	,,	,,				
	५६	,,	,,				
	५५	,,	,,				
	५४	,,	,,				
	५३	,,	,,				
	५२	,,	,,				
	५१	,,	,,				
	५०	,,	,,				
	४९	,,	,,				
	४८	,,	,,				
	४७	,,	,,				
	४६	,,	,,				
	४५	,,	,,				
	४४	,,	,,				
	४३	,,	,,				
	४२	,,	,,				
	४१	,,	,,				
	४०	,,	,,				

कण्डक का असं० भाग
३९ का जघन्य अनु. अनं. उससे
३८ " "
३७ " "
३६ " "
३५ " "
३४ " "
३३ " " — ६९ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण उससे

कण्डक का अव. एक भाग
३२ — ६८ " "
३१ — ६७ " "
३० — ६६ " "

६५ " "
६४ " "
६३ " "
६२ " "
६१ " "
६० " "

३२ का ज. अनुभाग अनन्तगुण उससे — ५९ " "
५८ " "
५७ " "
५६ " "
५५ " "
५४ " "
५३ " "
५२ " "
५१ " "
५० " "

३१ का ज. अनुभाग अनंतगुण उससे — ४९ " "
४८ " "
४७ " "
४६ " "
४५ " "
४४ " "
४३ " "
४२ " "

			४१ का उत्कृष्ट	अनुभाग अनन्तगुण	उससे
३० का ज.	अनुभाग अनन्तगुण	उससे	—४०	"	"
२९	"	"	—३९	"	"
२८	"	"	—३८	"	"
२७	"	"	—३७	"	"
२६	"	"	—३६	"	"
२५	"	"	—३५	"	"
२४	"	"	—३४	"	"
२३	"	"	—३३	"	"
२२	"	"	—३२	"	"
२१	"	"	—३१	"	"
२०	"	"	—३०	"	"
१९	"	"	—२९	"	"
१८	"	"	—२८	"	"
१७	"	"	—२७	"	"
१६	"	"	—२६	"	"
१५	"	"	—२५	"	"
१४	"	"	—२४	"	"
१३	"	"	—२३	"	"
१२	"	"	—२२	"	"
११	"	"	—२१	"	"
		अवशिष्ट कण्डक प्रमाण स्थिति	२०	"	"
			१९	"	"
			१८	"	"
			१७	"	"
			१६	"	"
			१५	"	"
			१४	"	"
			१३	"	"
			१२	"	"
			११	"	"

१. त्रस आदि नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति के जघन्य पद में जघन्य अनुभाग सर्वस्तोक है, जिसे प्रारूप में ९० के अंक से बतलाया है।

२. तदनन्तर समयोन, समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, अनन्तगुण कण्डक मात्र तक जानना। जिसे प्रारूप में ८६ से ८१ के अंक तक बताया है।

३. इसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में ८१ के अंक के सामने के ६० के अंक द्वारा बतलाया है।

४. ततः कण्डक से नीचे प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। ततः समयोन उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में क्रमशः ८६ से ८० के अंक तक से बताया है।

५. इसके बाद कण्डक की अधस्तनी द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण और द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में क्रमशः ७६—८८ के अंक से जानना। यह तब तक कहना यावत् १८ कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। जिसे प्रारूप में ७६-८८, ७८-८७ आदि अंक बतलाते हैं। यह क्रम ६१-७० के अंक तक जानना।

६. १८ कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर कण्डक मात्र स्थिति अनुक्त है। उसकी प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनण्तगुण है। उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग पूर्ववत् है, द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का भी पूर्ववत् है (अर्थात् अनन्तगुण है)। इस प्रकार अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध तक जानना। जिसे प्रारूप में ६० से ४० के अंक तक बतलाया है।

७. उसके बाद अधस्तन प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। इस प्रकार नीचे कण्डक के असंख्येय भाग तक जानना चाहिये। जिसे प्रारूप में ३६ से ३३ के अंक तक बतलाया है।

'एकोऽवतिष्ठते' इस संकेत से ३२, ३१, ३० अंक जानना।

८. अठारह कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर कण्डक मात्र स्थितियों का

उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ६९ से ६० के अंक तक बताया है।

९. जिस जघन्य स्थितिस्थान के अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उससे नीचे के स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे ३२ के अंक से बताया है।

१०. उसके बाद पुनः १८ कोडाकोडी सागरोपम सम्बन्धी अन्त्यस्थिति से लेकर नीचे कण्डक प्रमाण स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना, जिसे प्रारूप में ५९ से ५० के अंक तक बताया है।

११. उसके बाद जिस स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए थे, उससे नीचे के स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ३१ के अंक से प्रदर्शित किया है।

१२. उससे भी पुनः पूर्वोक्त कण्डक (५९-५०) से नीचे कण्डक प्रमाण स्थितियों का अनुक्रम से नीचे-नीचे उतरते-उतरते उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त-गुण-अनन्तगुण कहना। जिसे ४९ से ४० के अंक तक बताया है।

१३. इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग तब तक कहना चाहिए यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के विषय में जघन्य स्थिति आती है।

१४. जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उसके अधोवर्ती स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ३० के अंक से बताया है। इसके बाद अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के नीचे प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ३० के अंक के सामने ४० के अंक से बताया है।

१५. इसके बाद पुनः प्रागुक्त जघन्य अनुभागबंध की स्थिति के नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे २९ के अंक से बताया है। उसके बाद अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग से नीचे द्वितीय स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे २९ के अंक के सामने ३९ के अंक से बताया है।

इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और एक स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग तब तक कहना चाहिये यावत् जघन्य स्थिति आती है। जिसे प्रारूप में २८-३८, २७-३७, २६-३६, २५-३५ आदि के क्रम को लेते हुए जघन्य स्थिति को २१ के अंक से बताया है।

१६. जो उत्कृष्ट स्थिति में कण्डक प्रमाण अनुभाग अनुक्त है, उसे प्रारूप में २० से ११ के अंक तक जानना। वह उत्तरोत्तर अनन्तगुण अनन्त-गुण है।

□□

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की तीव्रता-मन्दता

इनकी तीव्रता-मंदता का विचार जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त किया जायेगा। इनकी तीव्रता-मंदता का प्रारूप इस प्रकार है—

निवर्तन कण्डक	११	का ज. अनुभाग	स्तोक उससे			
	१२	”	अनन्तगुण			
	१३	”	”			
	१४	”	”			
	१५	”	”			
	१६	”	”			
	१७	”	”			
	१८	”	”			
	१९	”	”			
	२०	”	”	—११	का उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण उससे
अभव्यप्रायोग्य जघन्य	२१	”	”	—१२	”	”
	२२	”	”	—१३	”	”
	२३	”	”	—१४	”	”
	२४	”	”	—१५	”	”
	२५	”	”	—१६	”	”
	२६	”	”	—१७	”	”
	२७	”	”	—१८	”	”
	२८	”	”	—१९	”	”
	२९	”	”	—२०	”	”
	३०	”	”	—२१	”	”
	३१	”	”	—२२	”	”

→ अनुभागबन्ध	३२ का	ज. अनु. अनं.	उससे	—२३ का	उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण उससे
	३३	”	”	—२४	”	”
	३४	”	”	—२५	”	”
	३५	”	”	—२६	”	”
	३६	”	”	—२७	”	”
	३७	”	”	—२८	”	”
	३८	”	”	—२९	”	”
	३९	”	”	—३०	”	”
	४०	”	”			
सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण (परावर्तमान जघ. अनु. बंध प्रायोग्य)	४१	”	”			
	४२	”	”			
	४३	”	”			
	४४	”	”			
	४५	”	”			
	४६	”	”			
	४७	”	”			
	४८	”	”			
	४९	”	”			
	५०	”	”			
	५१	”	”			
	५२	”	”			
	५३	”	”			
	५४	”	”			
	५५	”	”			
	५६	”	”			
	५७	”	”			
	५८	”	”			
	५९	”	”			
	६०	”	”			
निवर्तन कंडक का	६१	”	”			
	६२	”	”			
	६३	”	”			
	६४	”	”			
	६५	”	”			

असं. भा.	६६ का ज. अनु. अनन्तगुण उससे	
	६७ ” ”	—३१ का उत्कृष्ट अनुभाग अनंतगुण उससे
कं. अ. भा.	६८ ” ”	३२ ” ”
	६९ ” ”	३३ ” ”
	७० ” ”	३४ ” ”
		३५ ” ”
		३६ ” ”
		३७ ” ”
		३८ ” ”
		३९ ” ”
		४० ” ”
	६८ का ज. अनुभाग अनंतगुण उससे	—४१ ” ”
		४२ ” ”
		४३ ” ”
		४४ ” ”
		४५ ” ”
		४६ ” ”
		४७ ” ”
		४८ ” ”
		४९ ” ”
		५० ” ”
	६९ का ज. अनुभाग अनंतगुण उससे	—५१ ” ”
		५२ ” ”
		५३ ” ”
		५४ ” ”
		५५ ” ”
		५६ ” ”
		५७ ” ”
		५८ ” ”
		५९ ” ”
		६० ” ”
	७० का ज. अनुभाग अनंतगुण उससे	—६१ ” ”
	७१ ” ”	—६२ ” ”

७२ का ज.	अनुभाग	अनंतगुण	उससे	—६३ का उत्कृष्ट	अनुभाग	अनंतगुण उससे
७३	,,	,,		—६४	,,	,,
७४	,,	,,		—६५	,,	,,
७५	,,	,,		—६६	,,	,,
७६	,,	,,		—६७	,,	,,
७७	,,	,,		—६८	,,	,,
७८	,,	,,		—६९	,,	,,
७९	,,	,,		—७०	,,	,,
८०	,,	,,		—७१	,,	,,
८१	,,	,,		—७२	,,	,,
८२	,,	,,		—७३	,,	,,
८३	,,	,,		—७४	,,	,,
८४	,,	,,		—७५	,,	,,
८५	,,	,,		—७६	,,	,,
८६	,,	,,		—७७	,,	,,
८७	,,	,,		—७८	,,	,,
८८	,,	,,		—७९	,,	,,
८९	,,	,,		—८०	,,	,,
९०	,,	,,	अवशिष्ट कण्डक प्रमाण स्थिति	८१	,,	,,
				८२	,,	,,
				८३	,,	,,
				८४	,,	,,
				८५	,,	,,
				८६	,,	,,
				८७	,,	,,
				८८	,,	,,
				८९	,,	,,
				९०	,,	,,

१. सप्तम नरक में वर्तमान नारक के सर्वजघन्य स्थितिस्थान के जघन्यपद में अनुभाग सर्वस्तोक है। जिसे प्रारूप में ११ के अंक से बतलाया है।

२. द्वितीयादि निवर्तन कण्डक तक के स्थान में जघन्य अनुभाग क्रमशः

अनन्तगुण जानना चाहिये। जिसे प्रारूप में १२ से २० के अंक पर्यन्त बताया है।

३. उसके बाद जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में २० के अंक के सामने के ११ के अंक से बतलाया है।

४. इससे निवर्तनकण्डक से ऊपर के प्रथम स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे १२ के अंक से बताया है। द्वितीय स्थिति के उत्कृष्ट पद में अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे २१ के अंक के सामने १२ के अंक से बतलाया है। इस प्रकार एक जघन्य, एक उत्कृष्ट अनुभाग तब तक जानना चाहिए जब तक कि अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग के नीचे की चरम स्थिति आती है। जिसे प्रारूप में २२-१३, २३-१४, २४-१५ आदि क्रम लेते हुए अन्त में ३९-३० के अंक से बताया है।

५. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग की चरम स्थिति ४० के अंक से बताई है।

६. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध विषयक प्रथम स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। द्वितीयादि स्थितियों (सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियों) पर्यन्त तावन्मात्र-तावन्मात्र अर्थात् अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ४१ से ६० अंक पर्यन्त बतलाया है।

इन स्थितियों को परावर्तमान जघन्य अनुभागबंधप्रायोग्य भी कहते हैं।

७. इससे ऊपर प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे भी द्वितीय जघन्य स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार निवर्तन-कण्डक के असंख्येय भाग पर्यन्त जानना। जिसे प्रारूप में ६१ से ६७ के अंक पर्यन्त बताया है।

'एकोऽवतिष्ठते' इस नियम के अनुसार निवर्तनकण्डक के एक अवशिष्ट भाग को बताने के लिए ६८, ६९, ७० ये तीन अंक बतलाये हैं।

८. जिस उत्कृष्ट स्थितिस्थान के अनुभाग का कथन कर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थितिस्थान में अनन्तगुण, अनन्तगुण अभव्यप्रायोग्य अनु-

भागबंध की चरम स्थिति के नीचे तक कहना चाहिए। जिसे प्रारूप में ३१ से ४० तक के अंक पर्यन्त बतलाया है।

९. जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग का कथन करने निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ६८ के अंक से बताया है।

१०. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंधविषयक प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। द्वितीयादि स्थितिस्थान तब तक कहना यावत् कण्डकमात्र स्थितियां अतिक्रांत होती हैं। जिसे प्रारूप में ४१ से ५० के अंक तक बताया है।

११. जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन जघन्य स्थितिस्थान का अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ६९ के अंक से बताया है।

१२. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग विषयक स्थितिस्थान से ऊपर कण्डकमात्र स्थितिस्थान अनन्तगुण जानना चाहिए। जिसे प्रारूप में ५१ से ६० के अक पर्यन्त बताया है।

१३. इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण तब तक जानना, जब तक कि अभव्य प्रायोग्य जघन्य अनुभाग की चरम स्थिति आती है। जिसे प्रारूप में ७० के अंक से जानना।

१४. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग बंध के ऊपर प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ६१ के अंक से जानना। प्रागुक्त जघन्य अनुभागबंध के ऊपर का जघन्य स्थितिस्थान अनन्तगुण, जिसे प्रारूप में ७१ के अंक से बताया है और प्रागुक्त उत्कृष्ट अनुभाग से ऊपर के स्थितिस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे ६२ के अंक से समझना।

इस प्रकार एक स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग और एक स्थिति-

स्थान का उत्कृष्ट अनुभाग परस्पर आक्रान्त रूप में तब तक कहना यावत् उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण आता है। जिसे प्रारूप में ६३-७३, ६४-७४, ६५-७५ आदि लेते हुए ६०-८१ अंक पर्यन्त कहना। यह ६० के उत्कृष्ट स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग हुआ।

१५ अब जो उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डक मात्र स्थितियां अनुक्त हैं, उसे क्रमशः अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप में ८१ से ६० के अंक पर्यन्त बताया है।

□□

प्रस्तुत ग्रन्थ : एक परिचय

कर्मसिद्धान्त एवं जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर (विक्रम ९-१० शती) द्वारा रचित कर्मविषयक पाँच ग्रन्थों का सार संग्रह है—पंचसंग्रह ।

इसमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बन्धनादि आठ करण एवं अन्य विषयों का प्रामाणिक विवेचन है जो दस खण्डों में पूर्ण है ।

आचार्य मलयगिरि ने इस विशाल ग्रन्थ पर अठारह हजार श्लोक परिमाण विस्तृत टीका लिखी है ।

वर्तमान में इसकी हिन्दी टीका अनुपलब्ध थी । श्रमणसूर्य मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज के सान्निध्य तथा मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी की संप्रेरणा से इस अत्यन्त महत्वपूर्ण, दुर्लभ, दुर्बोध ग्रन्थ का सरल हिन्दी भाष्य प्रस्तुत किया है—जैनदर्शन के विद्वान श्री देवकुमार जैन ने ।

यह विशाल ग्रन्थ क्रमशः दस भागों में प्रकाशित किया जा रहा है । इस ग्रन्थ के प्रकाशन से जैन कर्म सिद्धान्त विषयक एक विस्मृतप्रायः महत्वपूर्ण निधि पाठकों के हाथों में पहुँच रही है, इसका एक ऐतिहासिक मूल्य है ।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्राप्ति स्थान :—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

मूल्य : सिर्फ २०/- रुपया